दर्शन साहित्य और आलोचना

बेलिंस्की
हर्जन
चर्नीशेव्स्की
दोब्रोल्युबोव

❀

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड
एम. एम. रोड, नई दिल्ली १.

पहला हिन्दी संस्करण
अक्तूबर, १९५८

अनुवादक

नरोत्तम नागर

मूल्य : तीन रुपये

डी. पी. सिनहा द्वारा न्यू एज प्रिंटिंग प्रेस, एम. एम. रोड, नई दिल्ली में मुद्रित और उन्हीं के द्वारा पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली की तरफ से प्रकाशित ।

निवेदन...

दर्शन, साहित्य और आलोचना के विषय पर ऐसी पुस्तक का अभाव एक लम्बे अरसे से खटक रहा था। बेलिन्स्की, हर्जेन, चर्नीशेव्स्की और दोब्रोल्युबोव क्रान्ति-पूर्व के उन रूसी विचारकों एवं साहित्य-सेवियों में से थे जिन्होंने कठिनाइयों और दमन के झंझावात में जूझते हुए दर्शन और साहित्य में जनवादी विचारधारा के दीप को प्रज्वलित रखा, उसके प्रकाश को और भी शुभ्र बनाया तथा आगामी पीढ़ियों का मार्ग प्रशस्त किया। यहा यह समझना भूल होगी कि उनके कृतित्व का महत्व केवल उन्हीं के देश, रूस, तक सीमित है। कारण कि बहुत सी ऐसी समस्याएं जिनसे इन मनीषियों को लोहा लेना पड़ा हमारे साहित्यिक विकास की इस मंजिल में हिन्दी साहित्य-सेवियों के सामने भी उपस्थित हैं और वे किसी न किसी रूप में उनसे जूझ रहे हैं। ये समस्याएं केवल साहित्य के क्षेत्र तक सीमित नहीं, वास्तव में इनका मूल दर्शन में है। प्रस्तुत पुस्तक इन सभी समस्याओं पर — चाहे वह कला के उद्देश्य की समस्या हो चाहे रूप और विषय-वस्तु के सम्बंध की, अनास्थावाद और संशयवाद की समस्या हो अथवा सत्य के स्वरूप की, सौन्दर्य की परिभाषा की समस्या हो या आलोचना के मान-दण्ड की — विभिन्न दृष्टि-विन्दुओं से प्रकाश डालती है। इसी में इसकी उपयोगिता निहित है, इसी में इसका विशिष्ट महत्व है।

पुस्तक में प्रत्येक लेखक की कृतियों को तीन भागों में विभाजित किया गया है: उद्‌बोधन, स्फुट-विचार और निबंध। **उद्‌बोधन** में लगभग सभी व्यापक प्रश्नों पर लेखक के दृष्टि-विन्दु को प्रतिबिम्बित करनेवाले अंश दो-दो तीन-तीन वाक्यों में दे दिये गये हैं; **स्फुट-विचार** में उनकी कृतियों के वे अंश हैं जो स्वयं में अत्यंत महत्वपूर्ण हैं किन्तु जिनका समावेश निबंधों में नहीं हो सका; **निबंध** विभिन्न प्रश्नों-समस्याओं पर स्वयं में पूर्ण सुसम्बद्ध लेख है।

गोगोल के नाम बेलिंस्की के सुप्रसिद्ध पत्र, बेलिंस्की पर हर्ज़ेन के अद्वितीय शब्द-चित्र, सौन्दर्यशास्त्र की प्रणाली और परिभाषा से सम्बंधित चर्नीशेव्स्की के अनूठे निबंध और आलोचना की शैली पर दोब्रोल्युबोव के तीक्ष्ण व्यंग्य के अतिरिक्त, जो स्वयं ही पुस्तक की रोचकता और उपादेयता के यथेष्ठ परिचायक हैं, इसमें बहुत कुछ ऐसा है जो, सम्भवतः, हिन्दी पाठकों के सम्मुख प्रथम बार आ रहा है।

पुस्तक में प्रत्येक लेखक का चित्र तथा जीवनी दे दी गयी है; अन्त में विभिन्न नामों के परिचय सहित 'परिशिष्ट' भी है।

आशा है भाषा-साहित्य के सभी छात्र तथा हिन्दी प्रेमी पुस्तक को अपनायेंगे।

प्रकाशक

सूची

बेलिंस्की

हर्जेन

चर्नीशेव्स्की

दोब्रोल्युबोव

विस्सारियन ग्रिगोरियेविच बेलिंस्की

[१८११-१८४८]



[जन्म : १२ जुलाई, १८११]

[मृत्यु : २६ मई, १८४८]

जीवन-वृत्त

विस्सारियन ग्रिगोरियेविच बेलिंस्की का जन्म १२ जुलाई, १८११ को एक देहाती डाक्टर के घर में हुआ। बचपन का अधिकतर समय पेंजा गुबर्निया के चेम्बर नामक कस्बे में बीता। उन दिनों भला कौन सोच सकता था कि वह छोटा-सा कस्बा आगे चलकर सुन्दर नगर का रूप धारण करेगा और उसका नाम इसी बालक के नाम पर बेलिंस्की पड़ेगा ?

बचपन से ही बेलिंस्की कुशाग्रबुद्धि छात्र थे। १८२९ में उन्होंने मास्को विश्वविद्यालय में अध्ययन आरम्भ किया; किन्तु तीन वर्ष बाद ही अधिकारियों ने "बुरे स्वास्थ्य" का दोष लगाकर उन्हें विश्वविद्यालय से निकाल बाहर किया। यह "बुरा स्वास्थ्य" और कुछ नहीं बेलिंस्की का नाटक "*दमित्री कालिनिन*" था, जो उन्होंने इसी काल में लिखा था और जिसमें दास-प्रथा और सामन्तवाद की तीव्र आलोचना की गयी थी।

अस्तु, १८३३ में बेलिंस्की ने अपना नया जीवन आरम्भ किया। यह नया जीवन था साहित्यालोचक का जीवन और इस जीवन ने मृत्यु के बाद भी उन्हें अमर बना दिया।

१८३३ से १८३६ तक बेलिंस्की *तेलेस्कोप* पत्रिका तथा उसके साहित्यिक परिशिष्ट *मोल्वा* में, १८३८ से १८३९ तक *मास्कोव्स्की नाब्ल्यूदातेल* में, १८३९ से १८४६ तक *ओतेचेस्तवेन्नीए ज़ापिस्की* में और १८४६ से मृत्युपर्यंत *सोव्रेमेन्निक* में लिखते रहे।

उनके लेखों ने एक ओर जहां रूसी समाज के सभी प्रगतिशील तत्वों को आन्दोलित तथा उत्साहित किया, वहाँ दूसरी ओर जारशाही

के चारणों को अपना कट्टर शत्रु बना लिया। "शाही विज्ञान-अकादमी" के एक सदस्य पयोदोरोव ने तो *ओतेचेस्तवेन्नीए ज़ापिस्की* में छपे उनके सभी लेखों को काटकर सात टोकरियों में भरा और प्रत्येक पर "ईश्वर के विरुद्ध", "सरकार के विरुद्ध", "नैतिकता के विरुद्ध" आदि लिखकर खुफिया पुलिस में पहुंचा दिया। एक ओर जहां यह स्थिति थी, वहां दूसरी ओर बेलिंस्की की लोकप्रियता की भी सीमा नहीं थी। बेलिंस्की पर हर्जन का निबंध पढ़ते ही इसका बोध हो जाता है।

१८४७ में बेलिंस्की उदर रोग से पीड़ित हुए। इलाज के लिए वह फ्रांस और जर्मनी गये, किन्तु कोई लाभ न हुआ। जब वह साल्ज़ब्रुन्न में थे, तभी ३ (१५) जुलाई, १८४७ को उन्होंने गोगोल के नाम अपना प्रसिद्ध पत्र लिखा। हर्जन के अनुसार यह पत्र रूसी क्रान्तिकारियों की कई पीढ़ियों के लिए "घोषणापत्र" बन गया।

२६ मई, १८४८ को बेलिंस्की का निधन हुआ और उनका अंतिम दाह-संस्कार सेंट-पीतर्सबर्ग में हुआ।

१९११ में बेलिंस्की के जन्म-दिवस की स्मृति में मनाये गये शत-वर्षीय समारोह के अवसर पर भाषण देते हुए एस. एम. किरोव ने कहा था :

> "वह अपने चारों ओर की 'घृणास्पद वास्तविकता' के प्रति विद्रोह के मूर्त रूप थे और अपनी प्रतिभा की समूची महानता से सत्य की खोज में जुटे थे! ... सत्य की खोज में वह पूरे उत्साह से, पूरी लगन और वीरता से कूद पड़े, और उनकी सशक्त आवाज उस अंधकारमय युग में तूर्यनाद के समान गूंज उठी और सभी श्रेष्ठतम तथा जीवन्त शक्तियों को अपने चारों ओर एकत्रित कर लिया ... !"

उद्‌बोधन

कला सत्य का सहज-तात्कालिक अवगहन या छवियों में सोचने की प्रक्रिया है।

◆ ◆ ◆

कलाकार का चिरन्तन मॉडल है प्रकृति और प्रकृति में सबसे श्रेष्ठ और शुभ्र मॉडल है मानव।

◆ ◆ ◆

युग की आत्मा से विच्छिन्न मानवीय इच्छा पेड़ से टूटे पत्ते की भांति धूल में आ गिरती है—चाहे उसके पीछे नीयत अच्छी रही हो या बुरी।

◆ ◆ ◆

न कुछ में से कुछ की रचना करना खुदा के घर की बात है... मरणासन्न आदमी को जिन्दा किया जा सकता है, लेकिन उसे नहीं जिसका कोई अस्तित्व ही नहीं है।

◆ ◆ ◆

हमारे युग की कला क्या है? न्याय की घोषणा, समाज का विश्लेषण, परिणामतः आलोचना। विचारतत्व अब कलातत्व तक में समा गया है। यदि कोई कला-कृति केवल चित्रण के लिए ही जीवन का चित्रण करती है, यदि उसमें वह आत्मगत शक्तिशाली प्रेरणा नहीं है जो युग में व्याप्त भावना से निःसृत होती है, यदि वह पीड़ित हृदय से निकली कराह या चरम उल्लसित हृदय से फूटा गीत नहीं, यदि वह कोई सवाल या किसी सवाल का जवाब नहीं, तो वह निर्जीव है।

इस दुनिया में चरम महत्व या चरम अमहत्व जैसी कोई चीज नहीं।

◈ ◈ ◈

शून्य और एकांगी आलोचना से, जो कला-कृतियों में केवल चरम गुणों या चरम अवगुणों को स्वीकार करती है, हमारे समाज का अधिकाश भाग अभी ऊपर नहीं उठा है। वह इस तथ्य को समझने में असफल रहा है कि स्थिति-निर्भरता या सापेक्षता भी उस चरम का अंग है।

◈ ◈ ◈

कल्पना में हर कहीं इतनी सम्पन्नता और प्रचुरता, वास्तविकता में हर कहीं इतना दैन्य और तुच्छता !

◈ ◈ ◈

गरीबी उस निस्सहाय अवस्था का नाम है जिसे भूखमरी के चिरन्तन भय से निस्तार पाने की कोई राह नही सूझती।

◈ ◈ ◈

बदी को नजरंदाज कीजिए आप नेकी को भी नष्ट कर देंगे। कारण यह बदी के विरुद्ध संघर्ष में ही नेकी नेकनाम होती है या नेकी बनती है।

◈ ◈ ◈

वह वाक्याडम्बर का, शब्दों के पीछे लपकने का युग था। विचारों की चिंता की जाती थी उन्हें लच्छेदार शैली में ढालने के लिए, केवल अर्थ का भ्रम पैदा करने के लिए...। हम शब्दों को चुनते हैं विचारों और भावों को व्यक्त करने के लिए, वे विचारों और भावों की खोज करते थे शब्दों की छटा दिखाने के लिए।

◈ ◈ ◈

दर्शन और काव्य

एक जमाना था, जब साधारणतया, कवि को भावावेश का पुतला तथा दार्शनिक को निरा श्रमचूर समझा जाता था—एक को मस्तिष्क से और दूसरे को शरीर से वंचित कहा जाता था। ... कवि को केवल प्रेम के क्षेत्र में दखल देने का अधिकार था, विचार-जगत में नहीं। ... मानो प्रेम और विचार एक ही जीवात्मा के दो पहलू न होकर एक-दूसरे के दुश्मन हों। ... और सचमुच, था भी कुछ ऐसा ही। दर्शन ने, जैसे ही उसके पर निकले, जीवन से नाता तोड़ अपनी एक अलग दुनिया में विचरना शुरू कर दिया। बौद्धिक विश्लेषण उसका एकमात्र वैध सत्ता था और विचार उसका लक्ष्य। इसीलिए वह इतना रूखा, कठोर, अनुराग-शून्य और किसी दूसरी—सबसे भिन्न—दुनिया का जीव मालूम होता है। काण्ट, जो आधुनिक दर्शन का पिता था, बौद्धिकता के इस पहले भ्रम का चरम प्रणेता था। विचार के लिए वह विचार करता था और विचार को ही वैध सत्ता मानता था। उससे भिन्न, फ़िख़्ते के दर्शन में कुछ अधिक फैलाव था। उसने, बड़ी सरगर्मी के साथ 'स्व' या 'मैं' के अधिकारों का दर्शन में प्रतिपादन किया। फलतः वह नितान्त एकांगी बनकर रह गया। शैलिंग ने सम-रूपता के विचार का सूत्र पकड़ा और फ़िख़्ते के 'स्व' या 'मैं' का 'पर' के साथ—वस्तु-जगत के साथ—समाधान का आविष्कार किया। सबसे अन्त में, हेगेल के दर्शन ने सार्वभौम जीवन के सभी प्रश्नों को अपने क्षेत्र में दाखिल कर लिया। भले ही उसके कुछ हल अतीत की और मानवता के पूर्णतया बीते हुए युग की चीज मालूम हों, लेकिन उसकी कड़ी तथा गहरी पद्धति ने मानव-मस्तिष्क को उन अंधी गलियों से निकालकर, जिनमे अपने लक्ष्य की खोज में अबतक वह भटकता रहा था, चेतना के राजमार्ग पर ला खड़ा किया। हेगेल ने दर्शन को विज्ञान का रूप दिया। आधुनिक विश्व के इस महानतम विचारक की महानतम सेवा उसकी विचारमय चिन्तन की पद्धति है—इतनी खरी और सशक्त कि उसने उस एकमात्र आधार का रूप धारण कर लिया है जो हेगेल के अपने नतीजों का—उन नतीजों का जो आज हमें अपर्याप्त या गलत मालूम होते हैं—खण्डन करने की सामर्थ्य प्रदान करता है। हेगेल ने यही गलती की कि वह खुद अपनी पद्धति से भटक गया। हेगेल में दर्शन ने अपना उच्चतम विकास प्राप्त किया, लेकिन रहस्यात्मक और जीवन से विच्छिन्न चेतना-लाभ के

रूप में उसके साथ उसका अन्त हुआ। जो हो, पुष्ट-वयस्कता प्राप्त कर दर्शन अब फिर जीवन की ओर लौट रहा है, जिसके उन्मादकारी होहल्ले से घबड़ा कर, शान्ति के साथ आत्मबोध करने के लिए शून्य एकान्त की उसने शरण ली थी। उस बोझिल विद्याधरी भाषा को वह क्रमशः तज रहा है जिसे केवल 'दीक्षित' लोग ही समझ सकते थे। ... उसका वह पण्डिताऊ, किताबी दर्शन वाला रूप नहीं रहा, जिसे सिवा अपने और किसी का चेत नहीं होता, जो केवल अपने हितों को स्वीकारता और दुनिया को तुच्छ तथा हेय समझता है — उस दुनिया को, जिसका बोध दर्शन का सार है। आज उसे तर्क की भांति निर्मम, निस्संग, निरावेग और कठोर ही नहीं, बल्कि कविता की भांति अनुप्राणित, प्रेम की भांति अनुरागमय और संवेदनशील विश्वास की भांति शुभ्र और बाज की भांति सशक्त तथा साहसी बनना है।

कला ने भी, अपनी ओर से, इस दिशा में डग बढ़ाया है। वह अब केवल निष्क्रिय भूमिका तक ही अपने-आप को सीमित नहीं रखती — प्रकृति का यथार्थ और निस्संग प्रतिविम्बन करके ही नहीं रह जाती, बल्कि उसकी तर्क-व्यवस्था में निजत्व की सजीव भावना का समावेश करती है, उसे एक सार्थकता और संगति प्रदान करती है। आज का हमारा कवि निरा कवि ही नहीं, विचारक भी है। ... आज की काव्य-कृतियों में वह अपने आपको अलग नहीं रखता, बल्कि प्रचुरता से उनमें प्रवेश करता है, निर्णय देता है, सवालों को उकसाता और उनके जवाब देता है। संक्षेप में, कविता और दर्शन अब छत्तीस का अंक नहीं रहे, वे अब एक-दूसरे का निरन्तर हाथ बंटाते और कभी-कभी इस हद तक एकात्म हो जाते हैं कि कुछ दार्शनिक कृतियां प्रमुखतः काव्य की और काव्य-कृतियां दर्शन की ऊंचाइयों को छूती मालूम होती हैं।

चिरन्तन का चक्र

चिरन्तन नियम और चिरन्तन भाव एक ही चीज हैं। दोनों सामान्य, सार्वभौम और परिवर्तन-हीन हैं, आकस्मिकता से शून्य हैं। कांम्टे पुरातन को अपनाकर — प्रकृति के नियम की जगह भाव को अदल-बदल कर — सोचता है कि वह नवीन का आविष्कार कर सकेगा। यह हास्यास्पद है। कॉम्टे प्रकृति को अपूर्ण करार देता है। यह इस तथ्य का सबसे बड़ा सबूत है कि वह गुरु नहीं, बल्कि गुरुघंटाल है, कि यह कोई नयी दार्शनिक सीख नहीं, बल्कि प्रतिक्रिया

है—एक प्रतिवाद ने दूसरे प्रतिवाद को उकसा दिया है। धर्म-प्रवण प्रकृति की पूर्णता को देखकर मुग्ध रह जाते हैं, उसकी हर चीज उन्हें सुचिन्तित और सुनियमित मालूम होती है—परम बुद्धि का चमत्कार!... सो खंडन की भावना से प्रतिक्रिया की आवश्यकता में बहकर कॉम्टे एक बेहूदगी के विरुद्ध दूसरी बेहूदगी को खड़ा करता है—यह कि प्रकृति अपूर्ण है, और उसे और अधिक पूर्ण बनाया जा सकता है। पहली बात सही है, लेकिन दूसरी बकवास है। कारण, प्रकृति की अपूर्णता में ही उसकी पूर्णता निहित है। पूर्णता शून्य परविद्या की इलहामी देन है, और इसलिए दुनिया में सर्वाधिक कुत्सित चीज है। मानव मर्त्यलोक का जीव है, रोग और भूख का शिकार होता है, अपने जीवन के लिए उसे संघर्ष करना पड़ता है। यह उसकी अपूर्णता है, लेकिन यही चीज उसे महान भी बनाती है, जीवन के प्रति प्यार और सराहना का उसमें संचार करती है। मृत्यु, रोग, दुर्घटना और शोक से उसे मुक्त कर दीजिए—और वह तुर्की पाशा बनकर रह जाएगा—आलस, ऐयाशियों और ऊब में डूबा हुआ—बल्कि इससे भी बदतर, पशु में और उसमें कोई अन्तर नहीं रहेगा।

नया रहस्यवाद

पेरिस के एक पत्र में शैलिंग पर एक लेख छपा है। लेखक का नाम है थौमस। चाव के साथ मैंने उसे पढ़ा। शैलिंग के नये रहस्यवाद के बारे में मुझे धुंधला सा ही ज्ञान था। थौमस के अनुसार शैलिंग ईश्वरवाद को पंगुता की सजा देता है (इसके लिए पियरे लेरो की पीठ थपथपानी चाहिए) और अनीश्वरवाद से भी—जो उसके लिए इतना घृणित है कि शब्द खोजे नहीं मिलते—ज्यादा उससे घृणा करता है। आखिर वह है क्या? वह बहु-देवतावादी ईसाई है और उसने, विशिष्ट तथा सम्भ्रान्त प्रकृतियों के लिए (मानवजाति के कुलीनों के लिए) अनेक कोष्ठों-प्रकोष्ठों से युक्त एक नफीस गिरजा की स्थापना की है। बेचारी मानवजाति! बुजुर्ग और नेक ओदोयेवस्की ने एक बार सच्चे हृदय से मुझे यकीन दिलाने का प्रयत्न किया था कि पागल और सही दिमाग के बीच कोई सीमा-रेखा नहीं है। वह कितना सच है—और यह अकेले शैलिंग के लिए ही सच नहीं है। सम्प्रदाय और मत से जिसने अपने को बांध लिया है, बुद्धि उससे पनाह मांगती है। क्या यह सच नहीं है कि प्राय: सभी पागल अपनी बातचीत में अद्भुत सूझ-बूझ का परिचय देते हैं, लेकिन तभी तक जब तक कि उनकी 'धुन' उनके सिर पर फिर सवार नहीं हो जाती...?

इतिहास और कला

कला का जीवन के साथ और कल्पना का वास्तविकता के साथ सान्निध्य, हमारे समय में, ऐतिहासिक उपन्यासों में खास तौर से मूर्त हुआ है।

इतिहास कला भी है, और विज्ञान भी। वैज्ञानिक कृति तो वह होता ही है, साथ ही वह कला की कृति भी होता है। इतिहास ने यह विशिष्टता अभी हाल ही में प्राप्त की है। यह उन प्रयासों का परिणाम है जो हमारे आज के आधुनिक जीवन के विशृंखल तत्वों को पूर्णरूप में—एकाबद्ध करके—देखते हैं। इतिहास में इस नयी धारा को आगे बढ़ाने का श्रेय एक ऐसी प्रतिभा को है जिसने इतिहास तो केवल एक लिखा है, सो भी काफी बुरा, और उत्कृष्ट उपन्यास अनेकानेक। वह प्रतिभा है वाल्टर स्काट, काव्य के एक नये रूप का स्रष्टा, एक ऐसे रूप का जिसका उदय केवल उन्नीसवीं शती में ही हो सकता था। काव्य का यह रूप है: ऐतिहासिक उपन्यास। वाल्टर स्काट के उपन्यासों में इतिहास और कविता ने, पहली बार, विरोधी सिद्धान्तों की भांति नहीं बल्कि चोली और दामन की भांति प्रवेश किया। और इसमें ऐसी कोई अजीब या अस्वाभाविक बात भी नहीं है: कविता जीवन पहले है और कला बाद में। इतिहास के सिवा जीवन भला इतनी पूर्णता, इतनी गहराई और इतनी विविधता के साथ और कहां अपने-आप को मूर्त करता है? कारथाज के खण्डहरों के बीच, उनके ऊपर खड़ा मारियस केवल इतिहास का ही जीव नहीं है, वह एक गहरा काव्यात्मक तथ्य भी है। नेपोलियन एक काव्यात्मक विभूति है—न केवल तूलोन, मिस्र, आस्तरलित्ज और मारेन्गो में ही, बल्कि मास्को और एलबा द्वीप, वाटरलू और संत हेलेना, तथा पेरिस में आहतों-पंगुओं के होटल में भी ...

इतिहास आज का, और इसलिए एकदम नया, विज्ञान है। फिर भी उसने आज के प्रमुख विज्ञान का—युग की अथ और इति का—स्थान ग्रहण कर लिया है। उसने कला को एक नयी दिशा प्रदान की है, राजनीति को एक नया चरित्र प्रदान किया है, और मानवीय जीवों के जीवन तथा नैतिक क्षेत्र में प्रवेश कर लिया है। उसकी समस्याओं ने जातियों और व्यक्तियों के जीवन-मरण की समस्याओं का रूप धारण कर लिया है। ... यह इस बात का सबूत है कि व्यक्तियों का पृथकत्व दूर हो रहा है और वे समाज के जीवित अंग के रूप में, मानवता के सजीव सदस्यों के रूप में अपने अस्तित्व का बोध करने लगे हैं और इस बोध के फलस्वरूप, खुद मानवता का अस्तित्व भी निरा वस्तुगत नहीं रहा, बल्कि एक सजीव, आत्मचेतन व्यक्तित्व का वह रूप पाती जा रही है।

ऐसे लोग भी हैं जिन्हें इतिहास और रोमान्स का यह गठबन्धन मुग्ध नहीं करता। वे इतिहास को सैनिक तथा कूटनीतिक इतिवृत्त समझते है। अपनी दृष्टि से, बिलाशक, वे ठीक भी हैं। लेकिन वे यह नही समझते कि रीति-रिवाजों और नैतिक मान्यताओं का इतिहास—जो प्रत्येक नयी पीढ़ी के साथ बदलती है—संधि-विग्रहों के इतिहास से कहीं ज्यादा दिलचस्प है, और यह कि नयी पीढ़ियों के द्वारा नैतिक मान्यताओं का नवीनीकरण विधाता की मुख्य देन है, इसी तरह मानव जाति पूर्णता की ओर अग्रसर होती है। वे नही समझते कि इतिहास और रोमान्स का चोली-दामन का साथ है, जैसे काम के दिनो के साथ छुट्टियों के दिनों का—एक के बिना दूसरा जीवित नहीं रह सकता।

विज्ञान और कला

कहा जाता है कि विज्ञान के लिए मस्तिष्क और तर्क की दरकार होती है, और रचनात्मक कार्य के लिए कल्पना की।... यह एक प्रत्यक्ष गलतफहमी है। लोग यह तो देखते हैं कि कला और विज्ञान एक जैसी चीज नहीं हैं, लेकिन वे यह नही देखते कि उन दोनों के बीच भेद विषय-सामग्री का भेद कतई नहीं है, बल्कि भेद मात्र उस ढंग में है जिसे वे उसे पेश करने के लिए अपनाते हैं। दार्शनिक युक्तियों में बात करता है, कवि छवियों और चित्रों में, लेकिन दोनों कहते एक ही चीज हैं। अपने आंकड़ों और तथ्यों से लैस, राजनीतिक अर्थ-शास्त्री अपने श्रोता या पाठकों के मस्तिष्क का आवाहन करते हुए सिद्ध करता है कि अमुक-अमुक कारणों के परिणामस्वरूप अमुक-अमुक राज्य की स्थिति गिरी या सुधरी है। कवि वास्तविकता की सजीव तथा स्पष्ट अभिव्यक्ति से लैस, अपने पाठकों की कल्पना का आवाहन करते हुए यथार्थ चित्र में दिखाता है कि अमुक-अमुक कारणों के परिणामस्वरूप समाज के अमुक वर्ग की स्थिति वास्तव में काफी गिरी या काफी उन्नत हुई है। एक सिद्ध करता है, दूसरा दिखाता है, लेकिन दोनों कायल करते हैं—एक युक्ति के द्वारा, दूसरा चित्रों के द्वारा।

कलाकार-कवि, जितना कि लोग सोचते हैं, उससे कहीं अधिक चितेरा-कलाकार होता है। रूप की चेतना—इसी में उसकी समूची प्रकृति निहित है। सृजन की क्षमता में प्रकृति से चिरन्तन होड़—इसी में उसका परम आनन्द है। विषय को उसकी समूची यथार्थता के साथ पकड़ना और उसमें, जैसा

कि कहते है, जीवन की सांस फूंकना — इसी में उसकी शक्ति, विजय, सन्तोष और गर्व निहित है। लेकिन कविता चित्रमय कला से बड़ी है, उसकी सीमाएं अन्य किसी भी कला से अधिक व्यापक हैं... फिर भी उसकी मुख्य शक्ति काव्यात्मक चित्रमय कला में है। जीवन के सभी रूपों को तुरत अवगहन करने की क्षमता, किसी भी चरित्र, किसी भी व्यक्ति को मूर्त करने की क्षमता, जिसके लिए उसे न विशेष अध्ययन करने की जरूरत होती है और न अनुभव की — एक हल्का-सा इशारा या द्रुत झलक तक कभी-कभी उसके लिए पर्याप्त होता है। दो या तीन तथ्य उसे दे दीजिए, और वह अपनी कल्पना की मदद से एक पूर्ण, अलग, अपने में भरपूर दुनिया खड़ी कर देता है।... क्युवियर ने भी, विज्ञान के द्वारा, अतीत के किसी जन्तु की एक हड्डी को पाकर, उस जन्तु के समूचे आकार-प्रकार की, उसके शरीर की, अपने मानस में मूर्ति खड़ी करने की कला साधी थी। वह भी प्रतिभा का धनी था — विज्ञान द्वारा विकसित और पोषित प्रतिभा का!

सैद्धान्तिक समस्याओं का महत्व वास्तविकता के साथ उनके लगाव पर निर्भर करता है। वे समस्याएं जो हमारे लिए आज भी महत्वपूर्ण बनी हुई हैं, योरप में बहुत पहले हल की जा चुकी हैं — जीवन के सहज सत्यों में वे शामिल हो चुकी हैं। उन पर अब कोई शंका नहीं करता, उन्हें लेकर अब कोई विवाद खड़ा नहीं करता। उन्हें सबने एकमत से मान लिया है। और — सबसे बढ़कर यह कि खुद जीवन ने इन समस्याओं को वहां हल किया है, और अगर थ्योरी ने इसमें कोई योग दिया भी है तो वास्तविकता की मदद से। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हम इन समस्याओं से जूझना छोड़ दें। कारण, जब तक हम खुद उन्हें हल नहीं करते तब तक हमें इससे कोई लाभ नहीं होगा कि योरप ने उन्हें हल कर लिया है। हमारे जीवन की धरती में रोपित ये समस्याएं वही होते हुए भी वही नहीं हैं, और उनके लिए दूसरे हल की दरकार होगी। योरप आज नयी महान समस्याओं से जूझ रहा है। हम उनमें दिलचस्पी ले सकते हैं। अगर हम मानव हैं तो किसी भी मानवीय चीज से हम बेगाना नहीं रह सकते। लेकिन साथ ही इन समस्याओं को अपनी निजी समस्या बना डालना गलत होगा। वे वहीं तक हमारी हैं जहां तक कि हमारी परिस्थितियों पर वे लागू होती हैं, अन्यथा वे हमारे लिए सर्वथा गैर हैं। हमें खुदाई फौजदार — डौन क्विग्जोट — नहीं बनना है जो उन्हें लेकर विचलित हों। खुद हमें, खुद अपने भीतर और खुद अपने चारों ओर समस्याओं और उनके हल — दोनों की खोज करनी चाहिए।

प्रेम की कोटियां

प्रेम को, आम तौर से, अनेक कोटियों और खानों में विभाजित किया जाता है, लेकिन ये विभाजन अधिकांशतः बेहूदा होते हैं। कारण यह कि सब कोटियां और खाने उन लोगों के बनाये हुए हैं जो प्रेम के सपने देखने या प्रेम के बारे में बातें बघारने में जितने कुशल होते हैं, उतने वस्तुतः प्रेम करने में नहीं। सर्वप्रथम, वे प्रेम को दुनियावी या वासनाजन्य, और आध्यात्मिक में विभाजित करते हैं। इनमें पहले से —वासनाजन्य से— वे घृणा करते हैं और दूसरे से —आध्यात्मिक से— प्रेम करते हैं। बिलाशक, ऐसे जंगली लोग भी हैं जो प्रेम के केवल पाशविक आनन्द पर मरते हैं। न उन्हें सौन्दर्य की चिन्ता होती है न यौवन की। लेकिन प्रेम का यह रूप —अपने पाशविक रूप के बावजूद— आध्यात्मक प्रेम से फिर भी अच्छा है। कम से-कम यह प्राकृतिक तो है। लेकिन आध्यात्मिक प्रेम — वह तो केवल पूरबी रनिवासों —हरम-सराओं— के रक्षकों के लिए ही मौजूं हो सकता है। ... मानव न तो वहशी है और न देवता। उसे न पशुवत प्रेम करना चाहिए, न आध्यात्मिक। उसे प्रेम करना चाहिए मानव की तरह। प्रेम का चाहे आप कितना ही दिव्यीकरण करें, लेकिन यह साफ है कि प्रकृति ने मानव को इस अद्भुत भावना से जितना अधिक उसके आनन्द के लिए सज्जित किया है, उतना ही अधिक प्रजनन तथा मानव-जाति को बनाये रखने के लिए भी। और प्रेम की किस्में —उनकी संख्या उतनी ही है जितने कि इस दुनिया में आदमी है। हर आदमी अपने अलग ढंग से —अपने स्वभाव, चरित्र और कल्पना आदि के हिसाब से— प्रेम करता है। हर किस्म का प्रेम, अपने ढंग से सच्चा और सुन्दर होता है। लेकिन रोमांटि-सिस्ट —हमारे चिरन्तन प्रेमी— दिमाग से प्रेम करना ज्यादा पसंद करते हैं। पहले वे अपने प्रेम का नक्शा बनाते हैं, फिर उस स्त्री की खोज में निकलते हैं जो उस नक्शे में फिट बैठ सके। जब वह नहीं मिलती तो शार्टकट अपनाते हुए कहीं अस्थायी जुगाड़ लगाते हैं। इस तरह कुछ लगता भी नहीं, कोई दिक्कत भी नहीं होती क्योंकि उनका मस्तिष्क ही यह सब करता है, हृदय नहीं। वे प्रेम की खोज करते हैं, खुशहाली या आनन्द के लिए नहीं, बल्कि प्रेम सम्बंधी अपनी दिव्य धारणा को अमल में पुष्ट करने के लिए। ऐसे लोग किताबी प्रेम करते हैं, और अपने प्रोग्राम से जौ-भर भी इधर-उधर नहीं होते। उन्हें एक ही चिन्ता होती है कि प्रेम में वे महान दिखाई दें, कोई भी चीज उनमें ऐसी न हो जिससे साधारण लोगों में उनका शुमार किया जा सके।

समाज और नारी

गद्य और पद्य में हम रटे-रटाए फिक़रे दोहराते रहते हैं कि "नारी समाज की चांदनी है, सोसायटी की शोभा और उसकी अलंकार है।" लेकिन जरा समाज पर एक नजर तो डालकर देखिए। हर कहीं (ऊंचे वर्गों को छोड़कर) स्त्रियां पुरुषों से अलग, कट कर बैठती हैं। और सबसे साहसी जीव भी, स्त्रियों के संग-साथ के लिए जब वह बढ़ता है, तो इस तरह मुंह बनाता है जैसे वह शिष्टता की वेदी पर बलि का बकरा बनने जा रहा हो। फिर थका हुआ सा उठता है मानों कोई भारी काम उसे करना पड़ा हो, और खुलकर सांस लेने के लिए मर्दों की टोली में आ मिलता है। योरप में नारी वास्तव में समाज की रानी है। उससे बात करके मानव अपने को अन्य सबसे अधिक सुखी तथा उन्नत अनुभव करता है। हमारे यहां इससे उलटा है। नारी पुरुष की कृपाकांक्षी रहती है कि वह उससे आकर बात करे, और उसके ध्यान देने पर अपने को कृत्कृत्य समझती है। इसके सिवा और हो भी क्या सकता है जबकि ... हममें से प्रत्येक कविता को केवल पुस्तकों में ही पसंद करता है और जीवन में उससे वैसे ही डरता है जैसे प्लेग तथा हैजे से!

हमारे समाज की चांदनी—फेयर सैक्स—केवल पुस्तकों, उपन्यासों, क़िस्से-कहानियों, नाटकों और श्रद्धांजलियों में ही निवास करती है ... पूर्व के जीवन और असूर्यपश्या रनिवासों तथा हरमों तक में प्रेम सरसरा जाता है ... लेकिन हमारे यहां, ऊपर से कड़ी नैतिकता अपनी चादर फैलाए है, और उसके नीचे कभी-कभी जीवन की इतनी काव्यहीन कविता दिखाई देती है कि अगर कोई उसे अपनी विषय-वस्तु के रूप में चुने भी तो वह, निश्चय ही, कविता के लिए ऐसा नहीं करेगा।

हमारे यहां प्रेम ने पुस्तकों में प्रवेश किया और वहीं का होकर रह गया। वही स्थति, कम-व-बेश रूप में, आज भी है। गहरे अनुराग में पगी कविताओं, उपन्यासों और किस्से-कहानियों को पढ़ने के हम शौकीन हैं और आज इस तरह की पठन-सामग्री युवा लड़कियों के हाथों में भी कोई वावेला पैदा नहीं करती। उनमें से कितनी ही कविताएं लिखती भी हैं, और कभी-कभी काफी अच्छी कविताएं लिख लेती हैं। मतलब यह कि हम चाव के साथ प्रेम के बारे में बातें करते हैं, उसके बारे में लखते-पढ़ते भी हैं, लेकिन प्रेम करने का जहां तक सम्बंध है ... ओह, वह दूसरी बात है।

साहित्य क्या है ?

कुछ लोगों का मत है कि वे तमाम बौद्धिक गति-विधियां, जो लेखनी द्वारा व्यक्त होती हैं, अपने समूचे विस्तार के साथ राष्ट्रीय साहित्य में समाविष्ट होती हैं। इस प्रकार, मिसाल के लिए, करमजिन का इतिहास, और बन्धुवर एमिन तथा एस. एन. ग्लिका लिखित इतिहास, श्लोजर, एवर्त और काचेनोवस्की की ऐतिहासिक खोजें, आइसलैंड की वीर गाथाओं पर श्री सेन्कोव्स्की का निबंध, वेलान्स्की और पावलोव का भौतिक शास्त्र, कोपर्निकस तंत्र का खंडन और साथ में खटमलों तथा तिलचट्टों पर लिखी हुई एक पुस्तिका, पुश्किन कृत बोरिस गोदुनोव और गोभी के शोरबे तथा वोदका सहित ऐतिहासिक नाटकों के कुछ दृश्य, देरज्हाविन के गीत और श्री स्वेचिन कृत अलेक्जान्द्रोइदा आदि सभी कृतियों का हमारे साहित्य में समावेश हो जाता है। यदि यह ठीक है, तो कहना होगा कि हमारे पास साहित्य है, और साहित्य भी ऐसा जो बड़े-बड़े नामों तथा उतनी ही बड़ी-बड़ी कृतियों का धनी है।

कुछ अन्य लोग साहित्य को अनेक सुन्दर कृतियों का, या जैसा कि फ्रांस में कहते हैं, साहित्यिक नफासतों का, संग्रह समझते हैं। इस अर्थ में भी हम साहित्य से शून्य नहीं। कारण कि लोमोनोसोव, देरज्हाविन, खेमनित्जर, क्रीलोव, ग्रिबोइयेदोव, बात्युश्कोव, ज्हुकोव्स्की, पुश्किन, ओजेरोव, जागोस्किन, लाज्हेचनिकोव, मार्लिन्स्की, प्रिन्स ओदोइयेवस्की तथा अन्य कुछ लेखकों की कुछ कृतियों पर हम गर्व कर सकते हैं। किन्तु क्या संसार में कोई ऐसी भी भाषा है जो कलाकृतियों के कुछ अनुकरणीय नमूने—चाहे वे केवल लोक गीतों के रूप में ही क्यों न हों—न पेश कर सके ? सो कोई आश्चर्य नहीं अगर रूस ने, इस नये रोमन साम्राज्य ने, जो क्षेत्रफल में समूचे योरप तथा आबादी में किसी भी एक योरपीय राज्य से बढ़ा-चढ़ा है, सर्बिया, स्वेडन, डेन्मार्क, या अन्य छुटभइया देशों की तुलना में ज्यादा संख्या में प्रतिभाओं को जन्म दिया। यह कोई असाधारण घटना नहीं; ऐसा तो होना ही चाहिए था। इससे, किसी तरह भी, यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि हमारे पास साहित्य है।

लेकिन एक तीसरा मत भी है, जो इन दोनों में से किसी से भी मेल नहीं खाता। इस मत का दावा है कि साहित्य ऐसी कलात्मक साहित्यिक कृतियों का समुच्चय है जो मुक्त प्रेरणा तथा लोगों के जमकर (लेकिन आपस में बिना तालमेल के) किये गये प्रयासों की देन होता है—ऐसे लोगों के प्रयासों की देन, जो कला के लिए जन्म लेते और केवल कला के लिए जीते हैं, कला से बाहर जो अपना कोई अस्तित्व नहीं रखते तथा जो अपनी सुन्दर कृतियों में उस जनता की आत्मा को पूर्णतया व्यक्त तथा मूर्त करते हैं, जिस के बीच वे जन्म लेते और शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करते हैं, जिसका वे जीवन जीते हैं और जिसकी सांस लेते हैं। उस जनता के जीवन को उनकी रचनात्मक कृतियों में, उसके अन्तरतम की गहराइयों और धड़कनों के साथ, घनिष्ठतम रूप में अभिव्यक्ति मिलती है। ऐसे साहित्य के इतिहास में छलांगें न तो होती हैं और न हो ही सकती हैं। उलटे, उसमें हर चीज स्वाभाविक, प्रकृत और क्रमबद्ध होती है। ऐसा साहित्य, एक साथ और एकबारगी, फ्रेंच और जर्मन, आंग्ल और इतालवी नहीं हो सकता।

यह कोई नया मत नहीं है। यह मत बहुत पुराना है और हजारों बार दोहराया जा चुका है। ऐसी दशा में, प्रत्यक्षतः, इसे दोहराने का कोई कारण नहीं होना चाहिए। लेकिन किया क्या जाय, हमारे समाज में न जाने कितने ऐसे आम सत्य हैं जिन्हें हर रोज और हरेक के सामने दोहराने की जरूरत है। हमारा समाज, जिसकी साहित्यिक मान्यताएं इतनी अस्थिर तथा भंगुर हैं, जिसकी साहित्यिक समस्याएं इतनी दुरूह और उलझनी हैं; हमारा समाज, जिसमें एक फास्ट के दूसरे खंड पर अपनी झल्लाहट उतार रहा है, तो दूसरा सांवरी बहुरिया पर लहालोट हो रहा है, एक लुक्रेजिया बोर्गिया की खूनी विभीषिकाओं की छेप्टी उतारता है तो हजारों दूसरे बुल्गारिथन तथा ओरलोव के उपन्यासों में डुबकी लगाते हैं; हमारा समाज, जिसमें जनता भांति-भांति की बोलियां बोलनेवाले एक अच्छे-खासे चिड़ियाघर का दृश्य प्रस्तुत करती है :

एक रट है लगाये खरबूजों की,
दूजा करता पुकार तरबूजों की!

फ्रान्स के लोग साहित्य को 'समाज का दर्पण' कहते हैं। यह व्याख्या भी नयी नहीं है। बहुत पहले से हम इससे परिचित हैं। लेकिन क्या यह सही है? यह एक अलग बात है। समाज से यदि हमारा अर्थ उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों के एक सम्भ्रांत क्षेत्र से है, या संक्षेप में फेशनेबुल समाज से—नफासत-पसंद समाज से—तो यह व्याख्या एक विशेष अर्थ और महत्व धारण कर

लेती है। साधारण नहीं, बल्कि गहरा महत्व। लेकिन केवल फ्रान्स के लिए। हरेक जाति का एक अपना चरित्र होता है। स्थानिकता, उसके जीवन में पाये जानेवाले एकता या अनेकता के तत्व और वे ऐतिहासिक परिस्थितियां जिनमें उसने विकास किया, जाति के चरित्र का निर्माण करती हैं। अपने इस चरित्र के मुताबिक प्रत्येक जाति मानव जाति के महान परिवार में विधाता द्वारा नियत अपनी भूमिका का निर्वाह करती है और आत्म-सुधार के क्षेत्र में मानव जाति की उपलब्धियों के सामान्य-कोष में अपना योगदान देती है। दूसरे शब्दों में यह कि प्रत्येक जाति मानव जाति के जीवन के किसी न किसी पहलू को व्यक्त करती है। उदाहरणार्थ, जर्मनों ने कल्पना तथा विश्लेषण के सीमाहीन क्षेत्र पर अधिकार कर लिया है। अंग्रेज अपनी व्यावहारिक क्रियाशीलता तथा इतालवी अपनी कलात्मक अभिव्यक्तियों — झुकावों — के लिए विख्यात हैं। जर्मन हर वस्तु को एक सामान्य दृष्टिकोण से देखते और एकनिष्ठ सिद्धान्त से हर चीज का उद्गम प्रतिपादित करते हैं। अंग्रेज समुद्रों को पार करते हैं, सड़कें बिछाते हैं, नहरों का निर्माण करते हैं, और समूची दुनिया में व्यापार करते हैं। वे उपनिवेशों की स्थापना पर तथा हर चीज में अनुभव एवं मोल-भाव पर निर्भर रहते हैं। इतालवी लोगों का जीवन, बीते जमाने में, प्रेम और कला, कला और प्रेम था। फ्रांसीसी व्यावहारिक, छलछलाते, बेचैन और सदा गतिशील जीवन के प्रेमी रहे हैं। जर्मन विचारों को सिरजते हैं और नये सत्यों का आविष्कार करते हैं। फ्रांसीसी उन्हें उपयोग में लाते हैं, या यूं कहिए कि उन्हें खर्च करते हैं। जर्मन विचारों से, और अंग्रेज जीवन को आरामदेह बनानेवाले आविष्कारों से, मानव जाति को समृद्ध करते हैं। फ्रांसीसी हमें फैशन के कायदे-कानूनों और सजीलेदारी, शिष्टता तथा खानदानी शाइस्तगी के नियमों से सवारा करते हैं। एक शब्द में यह कि फ्रांसीसियों का सामाजिक जीवन है — गोष्ठी-भवन का जीवन। इसी गोष्ठी-भवन के वातावरण में वे अपने बुद्धि, ज्ञान, प्रतिभा, वाक-पटुता और शिक्षा के चमत्कारों का प्रदर्शन करते हैं। फ्रांसीसियों के लिए बॉल-नृत्य या सामाजिक गोष्ठी का वही स्थान है जो ग्रीस-वासियों के लिए पंचायत या ओलम्पिक खेलों का था; उनके लिए इनका महत्व किसी राजसी युद्ध या टूर्नामेंट से कम नहीं होता। इन समारोहों में अस्त्रों का नहीं, बल्कि बुद्धि, हाजिर-जवाबी, शिक्षा और संस्कृति का मुकाबिला होता है। यहां महत्वाकांक्षा की महत्वाकांक्षा से मुठभेड़ होती है, जाने कितने तरकश खाली होते हैं और लड़ाइयां हारी तथा जीती जाती हैं। यही कारण है कि अन्य कोई भी जाति इस सामाजिकता में फ्रांसीसियों से होड़ नहीं ले सकती, उस सुभग चातुरी तथा शाइस्तगी में उसके सामने आंख नहीं उठा सकती, जिसे केवल फ्रांसीसी भाषा द्वारा ही शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है। यही कारण

है कि इस दिशा में फ्रांसीसियों की बराबरी करने में योरपीय जातियों के सारे प्रयास सदा विफल हुए और इसी कारण अन्य सभी समाज फ्रांसीसी समाज के हास्यास्पद व्यंग्य-चित्र, दयनीय अनुकृतियां और कुत्सित चुटकले बन कर रह जाते हैं। हमेशा ऐसा हुआ है और हमेशा ऐसा ही होगा। इसीलिए हमने कहा कि यह व्याख्या कि 'साहित्य समाज का दर्पण' है, फ्रांस के सम्बंध में अत्यंत सारगर्भित और सच्ची है। उनका साहित्य सदा समाज का सच्चा प्रतिबिम्ब, उसका आईना, रहा है। हमेशा उसके साथ कदम-से-कदम मिलाकर वह चला है, जाति के बहुल जनसमूह से बेखबर, कारण कि उनका यह समाज — उनकी यह सोसाइटी — उनकी जातीय आत्मा और उनके जातीय जीवन की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। फ्रांसीसी लेखकों के लिए समाज एक स्कूल है जिसमें वे भाषा को सीखते हैं, मतों को ग्रहण करते हैं और इन्हें अपनी कृतियों में चित्रित करते हैं। अन्य जातियों में स्थिति सर्वथा भिन्न है। उदाहरणार्थ जर्मनी को लीजिए। जर्मनी में वह आदमी जो धनी है, या श्रेष्ठतम घरानों और लक-दक सोसायटी में प्रवेश रखता है, विद्वान नहीं होता। उलटे, जर्मनी की प्रतिभा गरीब लोगों के दड़बों, छात्रों के दयनीय बासों, और चरवाहों की टूटी-फूटी झोपड़ियों को अधिक पसन्द करती है। वहां हर आदमी लिखता या पढ़ता है। वहां जनता की संख्या लाखों-लाख और लेखकों की हजारों-हजार है। एक शब्द में यह कि वहां साहित्य सोसायटी का नहीं, वरन जनता का दर्पण है। इसी प्रकार, भिन्न-भिन्न कारणों से, अन्य जातियों का साहित्य भी सोसायटी का नहीं, वरन जातीय आत्मा का दर्पण है। कारण यह कि कोई भी अन्य जाति ऐसी नहीं है जिसका जीवन, अपने सम्पूर्ण निखार के साथ, सोसायटी में मूर्त होता हो। केवल फ्रान्स — और यह जोरों से कहा जा सकता है — इसका अपवाद है। अस्तु साहित्य को, अनिवार्यतः, जाति के आन्तरिक जीवन का दर्पण और उसका प्रतीक होना चाहिए। किन्तु यह, किसी तरह भी, साहित्य की व्याख्या नहीं है, यद्यपि उसके अत्यंत आवश्यक गुणों में से एक अवश्य है।...

सो, हमें अब यह तय करना है कि हमारा साहित्य क्या है — सोसायटी की अभिव्यक्ति अथवा राष्ट्रीय आत्मा की अभिव्यक्ति? इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमें अपने साहित्य के इतिहास और साथ-ही-साथ पीटर महान के काल से अपने समाज के क्रमबद्ध इतिहास को देखना होगा।...

प्रत्येक जाति, विधाता के अटल नियम के अनुसार, अपने जीवन के द्वारा समूची मानव जाति के जीवन के किसी एक पक्ष को व्यक्त करती है; नहीं तो वह जाति जीती नहीं, सड़ती रहती है और उसका अस्तित्व उद्देश्यहीन होता

है। एकांगीपन हर आदमी के लिए बुरा है। मानव जाति के लिए तो वह विशेष रूप से बुरा है। जब समूची दुनिया रोम बन गयी, जब सारी जातियां रोम के ढंग से सोचने और अनुभव करने लगीं, तब मानव की बुद्धि का विकास रुक गया। क्यों? इसलिए कि अब उसके सामने कोई लक्ष्य नहीं रहा, वह समझने लगी कि वह अपने क्षेत्र के सर्वोच्च शिखर पर जा पहुंची है। संसार के श्रान्त और क्लान्त स्वामी ने प्रशंसा की सेज पर पड़कर आंखें मूंद लीं। उसकी क्रियाशीलता के अन्त के साथ-साथ—जिसका लक्ष्य अब केवल उच्छृंखल विलास में डूबना-उतराना रह गया था—उसके जीवन का भी अन्त हो गया। उसने यह सोचकर एक भीषण गलती की थी कि विजेता के अधिकार के बल पर ग्रीक संस्कृति को विरासत में पानेवाले रोम के बाहर कहीं भी कोई दुनिया नहीं, कोई रोशनी नहीं, सभ्यता नहीं। कितना घातक भ्रम था यह! इस महान भीम की नैतिक मृत्यु का यह एक प्रमुख कारण सिद्ध हुआ। मानव जाति के पुनर्जागरण के लिए यह आवश्यक था कि मृत्यु और ह्रास की अराजकता के बीच मानव की सन्तान का वरद शब्द गूंजे: "तुम सब जो भारी श्रम और बोझ से दबे हो, मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हें विश्राम दूंगा।" इसीलिए यह आवश्यक हो उठा कि बर्बर दलों द्वारा इस भीमकाय सत्ता का नाश हो, उनकी तलवारों से कटकर अनेकानेक सत्ताओं में वह विभाजित हो, प्रत्येक सत्ता वरद शब्द को अपने हृदय में टांकें और अपने अलग पथ से सामान्य मंजिल की ओर बढ़े!

हां, केवल विभिन्न पथों पर चलकर ही मानव जाति अपने सामान्य लक्ष्य तक पहुंच सकती है तथा अपने मौलिक जीवन को जीकर ही प्रत्येक जाति सामान्य कोष में अपना योगदान दे सकती है।...

◊◊

हमारी सोसाइटी

हमारी सोसाइटी, जो कि शिक्षित वर्गों की सोसाइटी है, सुधारों की देन है। उसे अपने जन्म का दिन याद है, क्योंकि वस्तुत: अस्तित्व में आने से पहले सरकारी कागजों में उसका अस्तित्व था, और अन्तत: एक लम्बे अर्से तक, आत्मा के बजाय पहनावे की एक शैली का, शिक्षा-दीक्षा की जगह एक विशेषाधिकार का वह रूप पेश करती थी। इसका प्रारम्भ भी वैसे ही हुआ जैसे कि हमारे साहित्य का—विदेशियों के अनुकरण द्वारा, जिसमें कोई सार-तत्व नहीं था, न अपना और न विदेशी। कारण, अपने को हमने तज दिया था और विदेशी को—उसे अपना बनाने की बात छोड़िये—समझने तक कि क्षमता हममें नहीं थी।

कला का उद्देश्य

कला का उद्देश्य क्या है, किस लक्ष्य को वह सिद्ध करती है ? कला का उद्देश्य है चित्रित करना, शब्दों, ध्वनियों, रेखाओं और रंगों में प्रकृति के सार्वभौम जीवन को पुनः मूर्त करना। यही कला की एकमात्र और चिरन्तन विषय वस्तु है। कवि की प्रेरणा प्रकृति की रचनात्मक शक्तियों का प्रतिबिम्ब है। इसलिए कवि को, अन्य सबसे बढ़कर प्रकृति का भौतिक और अध्यात्मिक—दोनों रूपों में अध्ययन करना चाहिए। प्रकृति के प्रति उसके हृदय में प्रेम हो, संवेदनशीलता हो। अन्य सबसे बढ़कर उसकी आत्मा शुद्ध और पवित्र हो। कारण कि उसके मन्दिर में केवल नंगे पाँव और स्वच्छ हाथों के साथ, मानव के मस्तिष्क और शिशु जैसे हृदय के साथ ही प्रवेश किया जा सकता है। केवल ऐसे ही लोग स्वर्ग के राज्य के वारिस होंगे; कारण यह कि मस्तिष्क और हृदय के सामंजस्य में ही मानव सर्वोच्च पूर्णता प्राप्त करता है। कवि जितना अधिक प्रतिभाशाली होगा, उतनी ही गहराई और व्यापकता के साथ वह प्रकृति को अपने हृदय से लगायेगा और उतनी ही सफलता से वह उसे उसके परम सजीव और घनिष्ठ रूप में हमारे लिए चित्रित करेगा। यदि बायरन ने विभीषिका और दुख की गहराइयों की थाह ली है, यदि उसने केवल हृदय की ज्वाला तथा आत्मा की पीड़ा को पहचाना और व्यक्त किया है तो इसका मतलब यह है कि उसने ब्रह्माण्ड के अस्तित्व के केवल एक ही पहलू को जाना है, कि उसने केवल उसके एक ही पन्ने को फाड़कर अलग से हमें दिखाया है। शिलर ने हमारे सामने स्वर्ग के रहस्यों को खोलकर रखा है। उसने हमें जीवन के केवल सुन्दर पक्ष को—जैसा कि वह उसे समझता था—खोलकर दिखाया है, केवल अपनी विरोधित भावनाओं और सपनों के गीत उसने गाये हैं। जीवन की कुरूपताओं को उसने या तो गलत रूप में या अतिरंजित रूप में विकृत करके दिखाया है। इस दृष्टि से शिलर और बायरन दोनों समान हैं। लेकिन शेक्सपियर—नैसर्गिक, महान, बेजोड़ शेक्सपियर—सभी जगह पहुंचा है—समूचे दोजख, समूची धरती और समूचे स्वर्ग लोक को उसने छाना है।

प्रकृति के इस बादशाह ने नेकी और बदी दोनों से चौथ वसूल की और अपनी अनुप्राणित अन्तर्दृष्टि से विश्व की धड़कती हुई नब्ज को पहचाना ! उसका प्रत्येक नाटक लघु रूप से एक विश्व प्रस्तुत करता है। उसने, शिलर की भांति, अपने प्रिय विचारों और प्रिय पात्रों को ही पेश नहीं किया। बाप रे ! कितनी निर्ममता के साथ वह अभागे हैमलेट पर हंसता है—उस हैमलेट पर जिसके इरादे भयानक हैं, किन्तु इच्छा-शक्ति बच्चों जैसी है; बूते से बाहर के स्वेच्छित कार्यों के बोझ के नीचे जो कदम-कदम पर लड़खड़ता है ! .. शेक्सपियर से पूछो, जादूगरों के इस बादशाह से पूछो—कि उसने, ड्यूसिस या रनेदिच जैसे लेखकों की भांति, लीयर को एक आदर्श कोमल हृदय पिता न बनाकर डगमगाता अर्द्ध-विक्षिप्त वृद्ध क्यों बनाया, कि उसने मैकबेथ को एक ऐसे आदमी के रूप में क्यों पेश किया जो चरित्र की कमजोरी के कारण खलनायक बन जाता है. इसलिए नहीं कि बदी में उसे रस मिलता है; और लेडी मैक-बेथ को एक ऐसी नारी क्यों बनाया जो भावुकता के कारण खलनायिका बन जाती है ? हां, उससे पूछो कि उसने कोर्डेलिया को कोमल हृदया नारी और मृदुल, प्रेमी दुहिता का रूप क्यों दिया और उसकी बहनों को ईर्ष्या, दम्भ और अकृतज्ञता की अ'धियों से क्यों सज्जित किया ? उसका जवाब होगा कि दुनिया में ऐसे ही तो चीज घटती हैं, कि इससे अन्यथा नहीं हो सकता था। हां ! वह निष्पक्षता, कवि की वह कठोरता जो कहती प्रतीत होती है : ऐसा हुआ, लेकिन मेरी बला से !—कलात्मक पूर्णता की जान है। यही सच्ची रचनात्मक प्रतिभा है, जो केवल कुछ गिने-चुने लोगों को ही प्राप्त है, जिनके बारे में कहा जाता है :

प्रकृति पुत्र थे वह; सुनते थे
वर्षा की सुमधुर रिमझिम;
ओस-कणों से दूर्वाल का
सम्भाषण - गुपचुप अनुपम ...
नील गगन थी उनकी पोथी
सुनते सागर की स-र-ग-म ...

सच पूछो तो, क्या कोई यह निश्चित रूप से कह सकता है कि अमुक वस्तु सुन्दर है और अमुक बुरी है ? क्या एक ही दिव्य चेतना ने निरीह मेमने और खून के प्यासे भेड़िये की, कमनीय हिरन और भोंड़े मगरमच्छ की, सुन्दर सिरकासियन युवती और बदसूरत हब्शी की सृष्टि नहीं की है ? क्या वह कपोत को अधिक प्यार करता है और बाज को कम, बुलबुल उसके हृदय के ज्यादा निकट है और मेंढक कम, हिरनी का छौना उसके दुलार का ज्यादा अधिकारी है और अजगर कम ? तब फिर, कवि के लिए यह जरूरी क्यों हो कि वह

केवल उसका वर्णन करे जो सुन्दर है, जो हृदय और भावनाओं को सुहाना मालूम होता है? यदि हान द' आइलेंड का प्रकृति में स्थान है, तब मैं नहीं समझ पाता कि वह कार्ल मूर या मारक्विस वौन पोसा से बदतर कैसे है। मानव के रूप में मैं कार्ल मूर को प्यार करता हूं, नायक के रूप में पोसा की वन्दना करता हूं और एक राक्षस के रूप में हान से घृणा करता हूं। किन्तु कल्पना की सृष्टि के रूप में, सामान्य जीवन के अंश-विशेष, या नमूनों के रूप में, वे सब सुन्दर मालूम होते हैं। यदि कवि, स्यु की शैली के अनुसार, केवल उसी का वर्णन करता है जो प्रकृति में भयावह और बुरा है, तो इससे सिद्ध होता है कि उसका दृष्टिकोण संकीर्ण है, कि उसकी रचनात्मक प्रतिभा छिछली है। लेकिन इससे यह मतलब कतई नहीं निकलता कि वह एक बुरा और अनैतिक आदमी है। लेकिन जब वह अपनी कृतियों में यह कोशिश करता है कि आप जीवन को उसका चश्मा चढ़ाकर देखें, तब वह कवि नहीं रहता, बल्कि विचारक बन जाता है—एक भद्दा, बुरे इरादे वाला विचारक, जिसकी निन्दा का जानी चाहिए। कारण कि काव्य का अपने से बाहर अन्य कोई उद्देश्य नहीं होता। जब तक कवि अपनी कल्पना की क्षणिक जोत का अनुसरण करता है, वह नैतिक रहता है और कवि रहता है। किन्तु जैसे ही वह किसी उद्देश्य को, किसी विषय-वस्तु को, अपने सामने खड़ा करता है, दार्शनिक, विचारक, नीतिकार बन जाता है। तब उसका जादू मुझ पर नहीं चलता। उसकी मोहिनी शक्ति लुप्त हो जाती है। इसके बाद उससे केवल तभी सहानुभूति होती है जब वह सच्ची प्रतिभा का धनी और सराहनीय लक्ष्य का अनुगामी होता है। यदि ऐसा नहीं होता, यदि वह बुरे विचारों के जाल में हमारी आत्मा को उलझाता है, तो उससे घृणा ही होती है। क्या आपको देरज्हाविन का वन्दना-गीत भगवान पसंद है? लेकिन इसी देरज्हाविन ने पनचक्कीवाला की रचना की है। आप पुश्किन की इसलिए निन्दा करते है कि रुसलान और लुदमिला में वह बहुधा मर्यादा की सीमाओं का उल्लंघन करते हैं। लेकिन इन्हीं पुश्किन ने आपको बोरिस गोदुनोव भी दिया है। उनकी कलात्मक प्रवृत्ति में इस तरह के विरोधाभास क्यों? इसलिए कि यह सूत्र उनके हृदय पर अच्छी तरह अंकित है:

वे उन्मादी; खोजें जीवन का सुख-सौरभ,
प्रति क्षण जीवन का अन्तहीन विस्तार बने।
जीवन को जग की निर्मम, कुटिल चुनौती पर,
उर से निःसृत प्रत्युत्तर कोमल गान बने॥

हां, अपने अन्तहीन विविध रूपों सहित विश्व के महान अनुबोध की अभिव्यक्ति ही कला है। किसी ने बहुत ही सही कहा है कि उपन्यास मानवीय

भवितव्य के अन्तहीन काव्य की एक प्रासंगिक घटना का चित्र है। यह व्याख्या कलात्मक कृतित्व के सभी माध्यमों पर लागू होती है। कवि की सम्पूर्ण कला इस बात में निहित है कि वह पाठक को एक ऐसी दृष्टि प्रदान करे जिससे वह समूची प्रकृति को, नक्शे पर बने विश्व की भांति, लघु आकार में, छोटी अनुकृति के रूप में देख सके, ऐसी संवेदनशीलता प्रदान करे जिससे वह उस श्वास को अनुभव कर सके जो विश्व में व्याप्त है, और वह जोत जगाए जो आत्मा को गरमाती है। सौन्दर्य का आनन्द है क्षण-भर के लिए अपने अहम को भूल जाना, प्रकृति के सार्वभौम जीवन के साथ सजीव संवेदन का अनुभव करना। कवि की कृति अगर ऊंचे मस्तिष्क तथा उत्कट भावना की देन है, यदि वह मुक्त तथा स्वयं-स्फूर्त रूप में उसकी आत्मा से निःसृत है, तो वह इस ऊंचे लक्ष्य को प्राप्त करने में सदा सफल होगा। ◊◊

विदेशी शब्दों की बाढ़

रूसी साहित्य के प्रत्येक युग में विदेशी शब्दों की एक बाढ़-सी हमारे यहां आई है। हमारा अपना युग भी इसका अपवाद नहीं। और यह एक ऐसी चीज है जिसका जल्दी ही अन्त नहीं होगा। विदेशी धरती में विकसित नये विचारों से हमारा परिचय अपने साथ नये शब्दों को भी ले आता है... लेकिन, इसमें कोई शक नहीं कि बिना जरूरत या बिन उपयुक्त कारण के रूसी भाषा में विदेशी शब्दों की खिचड़ी पकाने का आग्रह सहज बुद्धि और परिष्कृत रुचि के खिलाफ है। लेकिन यह आग्रह न तो रूसी भाषा का कुछ बाल बाका कर सकता है, न रूसी साहित्य का। यह केवल उन्हीं के लिए बुरा सिद्ध होगा जिनके सिर पर यह सवार है। लेकिन इसकी दूसरी, विरोधी अति, अर्थात अपरिमित शुद्धता का भी कोई भिन्न नतीजा नहीं निकलेगा। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। भाषा का एक अपना, विश्वसनीय तथा भरोसे का, संरक्षक होता है। यह संरक्षक है उसकी अपनी आत्मा, उसकी अपनी प्रतिभा, इसीलिए उन ढेर सारे विदेशी शब्दों में से जिनका समावेश किया गया, केवल कुछ ही जीवित रह सके, बाकी अपने-आप गायब हो गए। इसी प्रकार, नये गढ़े गए रूसी शब्दों का भी वही भाग्य होगा,—कुछ प्रचलित होंगे और बाकी लुप्त हो जाएंगे।

रंगमंच

रंगमंच ! ... क्या आप भी रंगमंच को वैसे ही प्यार करते हैं जैसे कि मैं—अर्थात अपनी आत्मा की सम्पूर्ण शक्ति से, उस सारे उछाह और प्रचंडता के साथ, जोकि केवल आवेगपूर्ण यौवन की विशेषता होती है—उस यौवन की, जो गहरे अनुराग के साथ प्रत्येक सुन्दर वस्तु की छाप ग्रहण करने के लिए ललकता है ? इतना ही नहीं, बल्कि मैं तो यह कहूंगा कि क्या आप रंगमंच को इस धरती की अन्य सब चीजों से अधिक—केवल नेकी और सत्य को छोड़कर—प्यार करने की क्षमता रखते हैं ? और, सच पूछो तो क्या यह ललित-कलाओं के सारे जादू, सारी मोहिनी, सारे आकर्षणों के सारतत्व का प्रतिनिधित्व नहीं करता ? क्या यह हमारे भावों का—आवेगों और उद्वेगों का—सर्वोच्च स्वामी नहीं है, जो किसी भी क्षण और किन्हीं भी परिस्थितियों में उस आंधी की भांति उन्हें जगाने और आलोडित करने के लिए प्रस्तुत रहता है जो अरब के पथहीन रेगिस्तानों में रेत के बवंडर उड़ाती चलती है ? अन्य किस कला में इतनी शक्ति है कि वह, जब भी चाहे आत्मा पर इस तरह हावी हो सके, उसके साथ इस तरह खिलवाड़ कर सके ? .. गीतात्मकता, वीरगाथाएं, नाटक : क्या आप इनमें से किसी एक को अधिक पसन्द करते हैं ? या इन तीनों को ही समान मात्रा में प्यार करते हैं ? इसका निर्णय करना कठिन है—क्यों, है न ? कारण कि शक्तिशाली देरज्हाविन के शक्तिशाली पद और पुश्किन की विविध स्वर-लहरियां क्या प्रकृति के उन्हीं दृश्यों को चित्रित नहीं करतीं जो कि बायरन की कविताओं या वाल्टर स्काट के उपन्यासों में चित्रित हैं और जो, इनसे भी पहले, शेक्सपियर तथा शिलर के नाटकों में चित्रित हो चुके हैं ? लेकिन, फिर भी मैं नाटक को ही ज्यादा पसन्द करता हूं, और मेरा विश्वास है कि ज्यादातर लोगों की पसंद भी यही है। गीति-काव्य प्रकृति को प्रतिबिम्बित करता है, किन्तु धुंधले रूप में; उसे एक तरह से संगीतात्मक अभिव्यक्ति समझिए। उसका विषय सम्पूर्ण, अनन्त प्रकृति है। इसके प्रतिकूल, नाटक की विषय-वस्तु है एक

मात्र मानव और उसका जीवन। इसमें विश्व के सामान्य जीवन का अधिक ऊंचा, आध्यात्मिक पक्ष प्रकट होता है।

नाटक का कलाओं के बीच वही स्थान है जो विज्ञान के क्षेत्र में इतिहास का। मानव ही मानव के लिए सबसे अधिक कौतुक की वस्तु रहा है और सदा रहेगा। नाटक मानव को अपने 'स्व' और अपने पद के साथ निरन्तर संघर्ष में, उसकी निरन्तर क्रियाशीलता में, जिसकी प्रेरकशक्ति खुशहाली के किसी धुंधले से आदर्श की आकांक्षा होती है, व्यक्त करता है। यह आदर्श विरले ही कभी दिखायी देता है, और उसकी उपलब्धि तो और भी विरल होती है। वीर-काव्य तक, अपने गुणों के लिए, नाटक का ऋणी है। और, नाटकत्व से सूना उपन्यास नीरस हो जाता है। वीर-काव्य तो, एक तरह से, नाटक का ही एक विशेष रूप है। ऐसी स्थिति में, मानना होगा कि नाटक, यदि सर्वोत्तम नहीं तो कम-से-कम हमारे हृदय को सबसे अधिक प्रिय है। तब, रंगमंच को हम क्या कहेंगे जहां यह शक्तिशाली नाटक एड़ी से चोटी तक एक नयी शक्ति का बाना धारण करता है, जहां वह सभी कलाओं मे गठबन्धन करता है, उनसे सहायता लेता है और उनके सारे साधनों तथा अस्त्र-शस्त्रों को अपने कब्जे में कर लेता है, जब कि इन अन्य कलाओं में से प्रत्येक खुद अपने में इतनी शक्तिशाली है कि तुच्छताओं की संकीर्ण दुनिया से आपको बरबस उठाकर ऐसी दुनिया में पहुंचा देती है जो शुभ्र और सुन्दर है? तब आप ही बताइए, यह रंगमंच क्या है? ओह, यह साक्षात कला का मन्दिर है, जिसमें प्रवेश करते ही आप तुरंत इस धरती से ऊंचे उठ जाते हैं और भौतिक बन्धन मानो छिन्न-भिन्न होकर गिर पड़ते हैं। आर्केस्ट्रा के आरम्भ से पहले विभिन्न वाद्य-यन्त्रों का स्वर-साधन किसी अपूर्व वस्तु की प्रत्याशा से आपकी आत्मा को रोमांचित कर देता है, अपूर्व आनन्द के पूर्वाभास से आपके हृदय को हुलसा देता है। विशाल नाट्यशाला में भरे लोग आपकी उत्सुकता के साझीदार होते हैं, और उनके साथ मिलकर आप एक ही भावना की लहर में लीन हो जाते हैं। वह आंखों को चकाचौंध करनेवाला शानदार परदा! प्रकाश की वह बाढ़! जो उन अचरजों और चमत्कारों की ओर संकेत करते मालूम होते हैं जो विधाता की इस सुन्दर सृष्टि के समूचे विस्तार में बिखरे पड़े हैं और रंगमंच के इस संकरे क्षेत्र में केन्द्रित हैं! आखिर आर्केस्ट्रा बज उठता है और उसकी ध्वनियां आनेवाले अनुभवों का आभास देती हैं। परदा उठता है और मानवीय आवेग-उद्वेगों तथा भवितव्यों का एक अन्तहीन कारवां आपकी आंखों के सामने मूर्त हो उठता है। कोमल और प्यार में पगी डेस्डेमोना की मनुहारें ईर्ष्या में धधकते ओथेलो के प्रलाप में खो जाती हैं; रात के घने अंधकार में लेडी मैकबेथ की आकृति नमूदार होती है। वक्ष उघरा है और बाल बिखरा गये हैं। अपनी ही आत्मा के प्रतिशोध से त्रस्त, वह कल्पना करती है कि

उसके हाथ खून के दागों से, जिन्हें छुड़ाने का प्रयत्न करने पर भी वह नहीं छुड़ा पाती, सने हैं: और यह लीजिए, अभागा हैमलेट अब सामने मौजूद है। उसकी आत्मा को होने या न होने की संडसी ने जकड़ा हुआ है। देवलोक के सपने देखनेवाला पोसा और स्वर्ग के वे दो फूल — मैक्स और थेकला — और उनका वह दिव्य प्रेम, — एक शब्द में यह कि शेक्सपियर, शिलर, गेटे और वर्नर आदि की ऊर्वर कल्पना से रचित समूची शानदार और अनन्त दुनिया आपके सामने मूर्त हो उठती है। ..यहां आप एक जीवन में से गुजरते हैं, शोक से सन्तप्त होते हैं और खुशी से छलछलाते हैं, उन खतरों-संकटों से कांप उठते हैं जो कि आपके अपने नहीं होते। यहा आपका कठोर अहम प्रेम की प्रज्वलित वायु में विलीन हो जाता है। यदि आप अपने जीवन की कठिनाइयों से और अपनी क्षीणता के दुःखदायी विचार से व्यथित हैं, तो यहां आकर आप उन्हें भूल जायेंगे। प्रेम और आनन्दातिरेक के लिए हूक अगर आपके मन में कभी उठी है, अगर किसी की सलोनी छवि — न जाने कब की विस्मृत और स्वप्न की भांति पकड़ में न आने वाली छवि — रात की मायावी छाया की भांति आपकी कल्पना में तैरी है, तो वह यहां आकर एक नयी, अदमनीय शक्ति से चेतन हो उठेगी, वह छवि यहां फिर आपके सामने मूर्त हो उठेगी। आप देखेंगे कि उसकी आख आप पर टिकी हैं, प्रेम और आकांक्षा से हुमक रही हैं; उसकी सुहावनी सांस आपके रोम-रोम में सरसरा जायगी, उसके हाथ के अग्निमय स्पर्श से आपका हृदय थरथराने लगेगा।... किन्तु, रंगमंच के सारे आकर्षणों का, मानवीय आत्मा पर उसकी मोहिनी शक्ति का, वर्णन करना क्या सम्भव है ? ओह, कितना अच्छा होता यदि हमारे पास एक अपना, जातीय, रूसी रंगमंच होता ! ... सचमुच, समूचे रूस को मच पर देखना ! उसकी तमाम भलाइयों और बुराई के, शुभ्रता और भोंड़ेपन के साथ, कल्पना की शक्ति से पुनर्जीवित उसके वीर नायकों को सुनना, उसके सशक्त जीवन की धड़कनों का अनुभव करना ! ओह, नाटक घर में जाइए, वहां की हवा में सांस लीजिए, और अगर हो सके तो — वहीं दम तोड़ दीजिए ! ...

लेकिन अफसोस ! यह सब कविता है, गद्य नहीं। सपना है, वास्तविकता नहीं। वहां, अर्थात उस महान भवन में, जिसे हम रूसी रंगमंच कहते हैं, सच मानो, शेक्सपियर और शिलर की नकलें आपके सिर पर थोपी जायेंगी — भोंड़ी और बेहूदी नकलें ! वहां ट्रैजेडी के नाम पर कल्पना की ऐंठनों-मरोड़ों, जीवन की विकृतियों, से आपका स्वागत किया जायगा। एक शब्द में, जहां

... नायिका, नाट्य की मुद्रा में,
है गरज रही कुछ कह-कह कर !
दर्शक, उदास जो नाटक से,
बस देख रहे उसकी चूनर !!

सो, मेरी बात मानिए, वहां न जाइए। आप बुरी तरह ऊब उठेंगे। किन्तु नहीं; हमें इतना कठोर नहीं होना चाहिए। इसमें रंगमंच का क्या दोष कि वह इतना बुरा है। हमारा नाटक-साहित्य कहां है ? हमारी नाटक लिखनेवाली प्रतिभाएं कहां हैं ? हमारे दुःखान्त तथा सुखान्त नाटकों के लेखक कहां हैं ? वे हैं, काफी संख्या में हैं। उनके नाम भी सब जानते हैं; सो उन्हें यहां गिनाने की जरूरत नहीं। मेरी प्रशंसा से उनकी व्यापक ख्याति में —जिसका वे सही ही उपभोग करते हैं —कोई खास वृद्धि न होगी। सो उन्हें न लेकर यहां हम ग्रिबोइयेदोव का जिक्र करेंगे।

ग्रिबोइयेदोव की कॉमेडी, या नाटक (इन दोनों में ठीक भेद क्या है, यह मेरी समझ से बाहर है; और जहां तक ट्रैजेडी शब्द का सम्बंध है— मैं चकरा जाता हूं) हस्तलिखित रूप में बहुत पहले से प्रसारित है। ग्रिबोइयेदोव, अन्य सभी उल्लेखनीय लोगों की भांति, काफी चर्चा और बहसों का विषय रहा है। हमारे कितने ही प्रतिभा-पुंजों के हृदय जहां कापनिस्त कृत लान्छन पर न्योछावर होते थे वहां इसके प्रति ईर्ष्या से कुड़मुड़ा उठते थे। हर ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे पर न्योछावर होनेवाले लोग ग्रिबोइयेदोव को वह श्रेय नहीं देते थे, जिसका कि वह अधिकारी था। लेकिन जनता अपना एक अलग, दूसरा ही, मत रखती थी। ग्रिबोइयेदोव की कॉमेडी, छापे से छपकर सामने आने से बहुत पहले ही, रूस के समूचे ओर-छोर में गुप्त रूप से व्यापक प्रचार पा चुकी थी।

कॉमेडी भी हमारी समझ में, ड्रामा कहलाने की उतनी ही अधिकारिणी है जितनी कि आम तौर से ट्रैजेडी। इसका विषय जीवन की मान्यता के विरोध में जीवन को पेश करना है। इसका गुण ऐसा मासूम हास-परिहास करना नहीं है, जो हंसी-ठठोली की इच्छा से, हर चीज के साथ बिना किसी दुर्भावना से किया जाता है। नहीं, इसका तत्व है तिलमिला देनेवाला हास्य, विदग्ध-क्षोभ, जो आह्लाद से मुसकराता नहीं बल्कि भीषण हंसी हंसता है, जो तुच्छताओं और अहंकार का नीति वाक्यों से नहीं, वरन व्यंग्य के बाणों से पीछा करता है। ग्रिबोइयेदोव की कॉमेडी सच्चे मानों में विधाता का अट्टहास है। यह कथोपकथन में वर्णित कोई छोटी-मोटी हास्यमय घटना जरा भी नहीं है; उस तरह की कॉमेडी नहीं जिसमें पात्रों के नाम गुणाकर, दुर्जनसिंह, लोढ़ाराम, टमाटर प्रसाद आदि रखे जाते हैं। इसके पात्र ऐसे हैं जिनसे आप एक मुद्दत से परिचित हैं, जिन्हें आप सुख का अन्त दुख पढ़ने से पहले ही जानते और पहचानते थे, लेकिन फिर भी वे आपको एक सर्वथा नयी सृष्टि मालूम होते हैं। इसी में काव्य-कथा का परम सत्य निहित है! जिन पात्रों को ग्रिबोइयेदोव ने सिरजा है, वे खंड नहीं, बल्कि प्रकृति से ली गई लाइफ-साइज अनुकृतियां हैं, वास्तविकता के रंगों से उन्हें आंका गया है। उनके गुण और दुर्गुण उनके माथों पर नहीं लिखे हैं,

लेकिन वे खुद अपनी तुच्छता की मोहर से दागे हुए हैं, कलाकार-दण्डदाता के प्रतिशोधपूर्ण हाथों ने उन्हें दागा है। ग्रिबोइयेदोव की व्यंग्य-रचना की प्रत्येक पंक्ति विक्षोभ की धधकती हुई भट्टी से अंगारा बनकर निकली है। और, उसकी शैली बिल्कुल बोल-चाल की शैली है। हाल ही में हमारे एक प्रसिद्ध लेखक ने, जो सोसायटी को काफी से ज्यादा जानते हैं, कहा था कि हमारी सोसायटी की बातचीत को पद्य-बद्ध करने में एकमात्र ग्रिबोइयेदोव ने सफलता प्राप्त की है। और बिलाशक, इस सफलता को प्राप्त करने में उसे कतई कोई प्रयास नहीं करना पड़ा। फिर भी यह उसका एक बहुत बड़ा गुण है। कारण, हमारे कतिपय हास्य रसावतार बातचीत की जो भाषा लिखते हैं ... लेकिन छोड़िए, अपने इन हास्यरसावतारों का जिक्र न करने का मैं पहले ही वायदा कर चुका हूं।... माना, एक सम्बद्ध कृति के रूप में इसमें कई दोष हैं, किन्तु यह ग्रिबोइयेदोव की प्रतिभा की पहली देन थी, पहली रूसी कॉमेडी थी। इसके अलावा, चाहे जो भी इसके दोष हों, लेकिन आज दिन भी यह एक अनुकरणीय, उज्ज्वल, कृति है—और सो भी अकेले रूसी साहित्य की हो नहीं, जिसने ग्रिबोइयेदोव के निधन के रूप में कॉमेडी के शेक्सपियर को खो दिया है!... ◆◆

नकल बनाम असल

हम अपने कवियों को शेक्सपीयर, बाइरन, वाल्टर स्काट, ग्येटे, शिलर आदि-आदि चाहे जो कह सकते हैं ... लेकिन जो अपने खुद के नाम से नहीं पुकारा जाता, वह उन नामों की समानता नहीं कर सकता जिनसे कि उसे पुकारा जाता है ... जब रूस विश्वव्यापी ख्याति के कवियों को उत्पन्न करेगा, तब उन्हें खुद उनके नाम से पुकारा जाएगा और प्रत्येक ऐसा कवि, अपने निजी नाम को कायम रखते हुए, एक सर्वसामान्य नाम बन जाएगा और बहुवचन में उसका प्रयोग किया जाएगा, क्योंकि वह तब टिपिकल होगा।

◆ ◆ ◆

हमारे दिनों में प्रतिभा, विद्वता, सौन्दर्य या नेकी ऐसी कोई चीज नहीं है जिसने अपने से लाभ उठा अपने-आपको ऐश्वर्यशाली न बना लिया हो। पुराने अज्ञान के दिनों में—भला हो उनका—प्रतिभा टिकटिकी या गरीबी की गोद में—अगर पागल खाने में नहीं—अपने जीवन की इतिश्री करती थी, विद्वता भूखी मौत का निवाला बनती थी, नेकी का भी वही भाग्य होता था जो प्रतिभा का, और सौन्दर्य प्रकृति की एक खतरनाक देन समझा जाता था।

साहित्य और राष्ट्रीयता

सभी जातियों और सभी कालों की कविता तत्वत: समान रही है; केवल उसके रूप में परिवर्तन हुआ है। समग्र रूप में मानवता तथा विशिष्ट रूप में प्रत्येक जाति की आत्मा, विचार-धारा तथा प्रगति इस परिवर्तन की जनक होती हैं। कविता का श्रेणियों में विभाजन मनमाना कृत्य नहीं है। स्वयं कला के जो तत्व हैं, उन्हीं में इसका तर्क और इसकी आवश्यकता निहित है। कविता की केवल तीन श्रेणियां हैं; इससे अधिक और नहीं हो सकतीं। प्रत्येक कृति, चाहे वह किसी भी श्रेणी या वर्ग की क्यों न हो, प्रत्येक युग और प्रत्येक क्षण में—यदि उसकी भावना और उसका रूप अपने युग की छाप लिए है और उसकी मांगों को पूरा करता है—वैध होती है। किसी ने कहा है कि गेटे की फास्ट हमारे युग की इलियड है: इस मत के विरुद्ध कोई उंगली नहीं उठा सकता। सच ही, क्या वाल्टर स्काट आधुनिक महाकाव्य का होमर नहीं है? भले ही हम उसे ऐसा आईना न कह सकें जो इस युग की आत्मा को पूर्णतया प्रतिबिम्बित करता है। हमारी भी यही दशा है: यदि एक नया पुश्किन उदित होता है—१८३५ का पुश्किन नहीं वरन १८२९ का पुश्किन—तो रूस फिर एक बार कविता से गूंज उठेगा। किन्तु येरशोव, स्त्रुगोवश्चकोव, मारकोव, स्नेगिरेव आदि हमारे नये गीतकारों ने जो रचनाएं दी हैं, उन्हें, पेशेवर पाठकों को छोड़, भला और कौन पढ़ने की बात सोच सकता है? ...

पुश्किन युग का आदि शब्द था रोमाण्टिसिज्म और नये युग का आरम्भ होता है राष्ट्रीयता शब्द से। और जिस प्रकार प्रत्येक टुच्चा लेखक रोमाण्टिक कहलाने के लिए कुछ भी करने से नहीं चूकता था, उसी प्रकार आज का प्रत्येक साहित्यिक-चुगद राष्ट्रीय लेखक होने का दावा भरता है। राष्ट्रीयता एक अद्भुत बिल्ला है। उसके मुकाबले में रोमाण्टिसिज्म दो कौड़ी की भी नहीं। और सचमुच, राष्ट्रीय कहलाने के लिए यह उत्सुकता एक उल्लेखनीय चीज है।

उपन्यासकारों तथा अन्य नये सामान्य लेखकों की बात छोड़िए। जरा उन लोगों पर नजर डालिए जो सहित्य के पुराने धुरंधर हैं। वे क्या कर रहे हैं? ज्हुकोवस्की—कवि प्रतिभा का यह पुञ्ज—जो एक क्षण के लिए भी कुहासे से अच्छादित एल्बियन को, सपनों के देश जर्मनी को, भूलने को तैयार नहीं था, सहसा सिर से पांव तक अस्त्र-शस्त्रों से ढंके अपने पलादीनों को भूल जाता है, सुन्दर-सलोनी, फरमाबरदार राजकुमारियों को भूल जाता है, जादूगरों और जादुई महलों को भूल जाता है, और रूसी दन्त-कथाओं में डुबकी लगाने लगता है... क्या यह सिद्ध करने की आवश्यकता है कि इन कहानियों और रूसी आत्मा में—जिसका लेश मात्र भी उनमें नहीं—उतनी ही समानता है जितनी ग्रीक अथवा जर्मन सलकों और रूसी कहानियों में? ... किन्तु नहीं! समय की गति में बह चलने वाली एक सूक्ष्म प्रतिभा की विभ्रान्ति के साथ हमें इतनी कठोरता नहीं बरतनी चाहिए। ज्हुकोवस्की ने अपना कार्य-काल समाप्त किया है और अपने दायित्व को पूरी तरह निभाया है। अब हमें उससे और अधिक आशा करने का अधिकार नहीं। लेकिन पुश्किन की बात दूसरी है। देखकर बड़ा आश्चर्य होता है कि यह उल्लेखनीय व्यक्ति कितने सहजभाव से उस समय राष्ट्रीय बन गया जब उसने जरा भी प्रयास नहीं किया, और किस प्रकार अब,—उस समय जबकि वह राष्ट्रीय बनने का प्रयास करता है—कितना कम राष्ट्रीय बन पाता है। आश्चर्य होता है कि उन चीजों को, जिन्हें पहले वह फालतू विलास की सामग्री कहकर फेंक देता था, अब महत्वपूर्ण कहकर हमें भेंट करता है। ऐसा मालूम होता है कि राष्ट्रीयता के लिए प्रयासों का यह उभार इस व्यापक अनुभूति का नतीजा है कि दूसरों की नकल पर तैयार किया गया हमारा साहित्य अस्थायी है। पहले जहां अनुकृतियां तैयार करने पर भारी मेहनत की जाती थी, वहां अब उसका स्थान अपना राष्ट्रीय साहित्य तैयार करने की आकांक्षा ने ले लिया है। इसीलिए, एक बार फिर यह उद्देश्यपरता दिखाई देती है, प्रयासों का ऊहापोह सामने आता है, नये गीतों में पुरानी धुन गुनगुनाई जाती है। लेकिन क्या क्रीलोव में अद्भुत राष्ट्रीयता इसलिए है कि उसने राष्ट्रीय बनने का प्रयास किया था? नहीं, उसने तो कभी इस बारे में सोचा भी नहीं था: वह राष्ट्रीय था, इसलिए कि सिवा इसके और वह कुछ हो नहीं सकता था; वह अचेतन रूप से राष्ट्रीय था, बिना उसका मूल्य आंके राष्ट्रीय था, और बिना किसी प्रयास या प्रयत्न के उसकी कृतियां राष्ट्रीयता की रंग में पग गयी थीं। उसके समसामयिकों ने, और चाहे जो हो, कम से कम इस गुण की विशेष सराहना नहीं की। उल्टे, वे उसे इस बात का दोष देते थे कि वह नीच प्रवृत्ति को प्रश्रय देता है। वे अन्य गल्पकारों को, जो उससे कहीं अधिक निम्न कोटि के थे, उसके समकक्ष स्थान देते थे। कहने का तात्पर्य यह कि हमारे साहित्य-

कार, जो इतनी लगन से राष्ट्रीयता के पीछे पड़े हैं, व्यर्थ का परिश्रम कर रहे हैं। आखिर राष्ट्रीयता की हमारी सामान्य समझ क्या है? हर कोई, जी हां, हर कोई, राष्ट्रीयता से साधारणता, और एक अंश तक तुच्छता, का अर्थ लगाता है। किन्तु इस विभ्रान्ति का एक कारण है, एक आधार है, और इसलिए इस पर प्रचंडता से आक्रमण नहीं करना चाहिए। मैं तो यह भी कहूंगा : जहां तक रूसी साहित्य का सम्बंध है, राष्ट्रीयता का दूसरा अर्थ लगाया ही नहीं जा सकता। साहित्य में राष्ट्रीयता किसे कहते हैं? राष्ट्रीय स्वभाव की छाप को, राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय जीवन के रूप को। किन्तु क्या यह राष्ट्रीय स्वभाव हमारे पास है? यह एक ऐसी समस्या है जिसका हल कठिन है। हमारे राष्ट्रीय स्वभाव का पोषण अधिकांश जनता के निम्न स्तरों में होता है। यही कारण है कि हमारे लेखक — निश्चय ही वे प्रतिभा के धनी हैं — तभी राष्ट्रीय बन पाते हैं जब वे अपने उपन्यासों या नाटकों में भीड़-भाड़ के आचार-विचारों, रीति-रिवाजों, मान्यताओं और भावों को चित्रित करते हैं। लेकिन क्या राष्ट्र इन्हीं लोगों से बना है? निस्संदेह, नहीं। जिस प्रकार सिर मानव शरीर का सबसे महत्वपूर्ण अंग है, उसी प्रकार मध्य और ऊपरी स्तर के लोग मुख्यतः राष्ट्र के बोधक होते हैं। मैं जानता हूं कि मानव हर परिस्थिति में मानव रहता है, कि साधारण मानव में भी वैसे ही राग-अनुराग, वैसे ही विचार और भावनाएं होती हैं, जैसी कि कुलीन में और इस कारण काव्यात्मक विश्लेषण की सामग्री के रूप में वह दूसरे से किसी भांति हेय नहीं होता है, किन्तु किसी राष्ट्र का सर्वोच्च जीवन प्रमुखतया उसके ऊपरी स्तरों में, बल्कि अधिक सही शब्दों में कहा जाय तो समग्र जनता में — व्यक्त होता है। इसलिए, अपनी प्रेरणा की सामग्री के रूप में यदि आप उसके केवल एक अंग को चुनते हैं तो अनिवार्यतः एकांगीपन के दोषी ठहरेंगे। न ही आप अपनी रचनात्मक क्रियाशीलता को पीटर महान के काल के इतिहास तक सीमित रखकर इस एकांगीपन से बच सकते हैं। हमारी जनता के ऊपरी स्तर ने अभी तक निश्चित रूप और आकार नहीं ग्रहण किया है। उसका जीवन कविता के लिए प्रेरणादायक नहीं है। क्या आप इस बात से सहमत नहीं कि बेजग्लास्नी की सुन्दर कहानी राजकुमारी मिमी कुछ छिछली और नीरस रचना है? क्या आपको उसका वह शीर्ष-कथन याद है : **"मेरे रंग फीके हैं," चित्रकार ने कहा, "लेकिन मैं क्या करूं? इनसे अच्छे रंग हमारे नगर में हैं ही नहीं।"** यहां कवि ने स्पष्टतया अपना मत प्रकट कर दिया है, और यही इस बात का पक्का सबूत है कि इस कहानी में वह प्रमुखतः राष्ट्रीय है। तो फिर, क्या इसका अर्थ यह है कि हमारे साहित्य में राष्ट्रीयता केवल एक सपना है? लगभग, किन्तु एकदम नहीं। उन रचनाओं के, जो अपनी राष्ट्रीयता के लिए विख्यात हैं, मुख्य तत्व क्या हैं? वे या तो पुराने (पीतर

महान से पहले के) रूसी जीवन के या फिर ग्राम जनता के जीवन के शब्दचित्र प्रस्तुत करती हैं और इसी कारण, अदबदा कर, उनमें इतिवृत्तों तथा लोक गीतों का, या ग्राम लोगों की बोल-चाल के लहजे का, अनुकरण पाया जाता है। किन्तु इन इतिवृत्तों में, बीते जीवन के इस वृत्तान्त में, मानव जाति के सामान्य जीवन की धड़कन अपने हजारों रूपों में से एक रूप मे निहित है। अपने हृदय और मस्तिष्क से इस धड़कन को पकड़ने और अपनी कल्पना के द्वारा एक कलात्मक रचना के रूप में उसे पुनः मूर्त करने की आपमें सामर्थ्य होनी चाहिए। यही असली चीज है। किन्तु आपकी रचनाओं में रूसी जीवन का स्पंदन हो, इसके लिए आपका प्रतिभाशाली होना आवश्यक है। और यहीं बहुधा लोग फिसल जाते हैं। अपने पूर्वजों के जीवन से हम पीटर महान के काल द्वारा इतने दूर हैं, इतने कटे हुए हैं, कि रूसी रचना में हाथ लगाने से पहले उस जीवन का गहरा अध्ययन करना आवश्यक है। अस्तु, जरा अपनी शक्ति को तौलकर देखिए कि इस उद्देश्य से आप कहा तक जूझ सकते हैं। यों ही, अति सहज विश्वास से, लिखना न शुरू कर दीजिए कि अमुक-अमुक सन-सम्वत् में रूसी जीवन ...। फिर, यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि पीटर महान से पहले रूसी जीवन आवश्यकता से अधिक स्थिर और एकांगी था। अन्य शब्दों में कहें तो यह कि वह अपने मौलिक रूप में प्रकट हुआ था। वाल्टर स्काट का अनुकरण करने पर आप सहज ही उसे लांछित कर डालेंगे। वह लेखक, जो अपने उपन्यास का कथानक प्रेम पर आधारित करता है और अपने नायक के प्रयासों को प्रेमयोगिनी बाला के हृदय को जीतने की दिशा में निर्देशित करता है, इस बात का असंदिग्ध प्रमाण है कि वह रूस को नहीं जानता। मैं जानता हूं कि अपने अनुराग की सुन्दर पात्रियों — अपनी लैलाओं—तक पहुंचने के लिए हमारे वीरों ने दीवाल फांदने जैसी हरकतें भी की है; किन्तु यह शान्त, ऐश्वर्यपूर्ण और कुलीन रूसी जीवन के विरुद्ध कलंक और उसका विकृत रूप ही है, उसकी अभिव्यक्ति नहीं। इस तरह का रात्रि-अभिसार करनेवाले वीरों की ईर्ष्या से आहत पति कोड़ों की मार से खातिर करते थे, न कि द्वन्द्वयुद्ध के लिए उन्हें ललकारते थे। और ऐसी लैलाएं प्रेम की शिकार नहीं समझी जाती थीं, जो सहानुभूति और संवेदन को उकसाती हों, वरन वेश्याएं समझी जाती थीं। हमारे दादा-परदादा प्रेम करते थे — जायज ढंग से, या क्षणिक मनोरंजन के लिए। वे अपनी प्रेमिकाओं के चरणों पर अपने हृदयों को नहीं बिछाते थे, बल्कि उनके सामने रेशमी चाबुक फटकारते थे और अडिग रूप से इस सिद्धान्त का पालन करते थे कि **अपनी आत्मा के समान ही अपनी घरवाली को प्यार करो और सेब के पेड़ की तरह उसे झंझोड़ो, या गद्दे की तरह पीटो।** हमारा प्रेम आज भी शौर्य की कोटि का नहीं; अपवादों से कुछ सिद्ध नहीं होता।

जहां तक आम लोगों के जीवन के सच्चे और सुस्पष्ट चित्रण की बात है, इस मामले में भी धोखे में नहीं रहना चाहिए। रोसलावलेव में मुझे सराय वाला दृश्य बहुत पसंद है। लेकिन इसका कारण यह है कि वह हमारी जनता के एक अंग की भावनाओं का बड़ा सजीव चित्रण करता है, ऐसी भावनाओं का जो हमारे देश के जीवन की संकट की घड़ी में सामने आयी थीं। मुहाविरे, कहावतें और टूटी-फूटी भाषा अपने-आप में जरा भी रोचक नहीं मालूम होती। कहने का तात्पर्य यह कि फिलहाल हमारी राष्ट्रीयता रूसी जीवन के दृश्यों को सचाई के साथ पेश करने में निहित है वह किसी विशेष भावना और रूसी गतिविधि की धारा या प्रवृत्ति में नहीं, वरन् सभी प्रवृत्तियों में — चाहे उनका विषय कुछ भी क्यों न हो — व्याप्त है। हर कोई जानता है कि फ्रांस की क्लासिक कृतियों में ग्रीक तथा रोमन ट्रैजेडियों के नायकों का फ्रांसीसीकरण हुआ है। यह है राष्ट्रीयता, जो अपने प्रति सच्ची रहती है, अपनी गलत-बयानियों तक में। राष्ट्रीयता निहित है सोचने और अनुभव करने के एक ढंग में, जो कि प्रत्येक राष्ट्र का अपना होता है। मुझे तनिक भी संदेह नहीं कि गेटे प्रतिभा का धनी था, हालांकि जर्मन भाषा का ज्ञान न होने के कारण बहुत ही अपर्याप्त रूप में मैं उससे परिचित हूं। किन्तु मुझे स्वीकार करना चाहिए कि उसके इफ्जेनिया के हेलेनिज्म में मेरा विश्वास न कुछ के बराबर है। जो लेखक जितना ही अधिक प्रतिभावान होता है उतना ही अधिक वह अपने युग की सन्तान और विश्व-नागरिक होता है। ऐसी स्थिति में किसी पूर्णतया गैर राष्ट्रीयता को व्यक्त करने का उसका प्रयास खोटे सिक्के ढालने के समान होता है, और कम व अधिक रूप में उसके लिए असफलता अनिवार्य है। तो क्या इस अर्थ में हमारे पास राष्ट्रीय साहित्य है? नहीं, हमारे पास ऐसा साहित्य नहीं है। न ही निकट भविष्य में — अपने प्रबुद्ध देशभक्तों की शुभ आकांक्षाओं के बावजूद —हम उसे पाने की आशा कर सकते हैं। हमारा समाज अभी अपरिपक्व है विकास के क्रम में है, योरपीय दासता से अभी तक मुक्त नहीं हुआ है, उसके नख-शिख अभी तक स्पष्ट नहीं हुए हैं। कोई भी योरपीय कवि काकेशस का कैदी, बख्शीसराय का फौवारा या जिप्सी की रचना कर सकता था। किन्तु यूजीन ओनेगिन तथा बोरिस गोदुनोव की रचना एक रूसी कवि के सिवा अन्य किसी के बूते की बात नहीं थी। पूर्ण राष्ट्रीयता केवल उन्हीं की पहुंच के भीतर है जो भारी-भरकम विदेशी प्रभावों से मुक्त हैं। यही कारण है कि देरज्हाविन राष्ट्रीय है। इस प्रकार हमारी राष्ट्रीयता रूसी जीवन के दृश्यों के सच्चे चित्रण में निहित है।

राष्ट्रीयता की समस्या

रूसी भाषा में दो शब्द प्रचलित हैं जो समानार्थी हैं। इनमें से एक देशी रूसी शब्द **नारोदनोस्त** है; दूसरा शब्द लातिन भाषा का है जिसे हमने फ्रेंच से लिया है : यह शब्द है—**नेशनालिटी** अर्थात राष्ट्रीयता। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अन्य किसी भी भाषा में ऐसे दो शब्द न होंगे जो इस हद तक एक-दूसरे के समानार्थी और पर्यायवाची हों—इस हद तक कि एक को पूर्णतया दूसरे का स्थानापन्न बनाया जा सके। यह तो और भी कम सम्भव मालूम होता है कि एक विदेशी शब्द उस भाषा में जीवित रह सके जिसमें उसी भाव का अपना एक देशी शब्द भी है : दोनों में कोई बड़ा भेद चाहे न भी हो, तो भी उनके अर्थ में सदा कुछ-न-कुछ अन्तर होता ही है। यही बात **नारोदनोस्त** और **नेशनालिटी** शब्दों के बारे में है : ये समानार्थी हो सकते हैं, किन्तु एक निश्चय ही नहीं। उनका भेद केवल ऊपरी नहीं, बल्कि गहरा है। **नारोदनोस्त** शब्द **नेशनालिटी** से वैसा ही सम्बंध रखता है जैसा कि निम्न भावना ऊंची या अधिक सामान्य भावना से रखती है। जब हम **जनता** की बात करते हैं तो हमारे मस्तिष्क में समाज के निचले स्तर की कल्पना होती है, जबकि **नेशन** से सभी सामाजिक स्तरों तथा स्थितियों से मिलकर बने एक समुदाय का बोध होता है। फिर भी, हो सकता है कि जन-समूह मे राष्ट्र न हो, किन्तु राष्ट्र में जन-समूह होता है। किर्शादानिलोव के गीतों में नारोदनोस्त है, लेकिन राष्ट्रीयता—नेशनालिटी—पुश्किन के गीतों में मिलती है। दानिलोव के गीत समाज की उच्चतम (अत्यन्त शिक्षित) श्रेणियों की भी पहुंच के भीतर हैं; जबकि पुश्किन केवल उच्चतम (अत्यन्त शिक्षित) श्रेणियों के लिए ही सुलभ हैं, और आम लोगों की—इस शब्द के शाब्दिक अर्थों में—समझ को नहीं छू पाते। हमारे दिनों के शिक्षित ग्रांडी—श्रीमन्त—पीटर से पहले के दिनों के अपने दाढ़ी शोभित पूर्वजों की वाणी, उनके मामलों और जीवन के ढंग को समझते हैं। किन्तु उनके पूर्वजों में से अगर कोई अपनी कब्र में से उठकर आये तो अपने दाढ़ी-सफाचट वारिसों का कुछ भी उसके पल्ले न पड़ेगा। आज का हर शिक्षित

मानव, रूप, और यहां तक कि तत्व की दृष्टि से भी आम लोगों के जीवन से चाहे कितना ही दूर क्यों न हो, अपने-आपको नीचे उतारे बिना दहकान को अच्छी तरह समझ सकता है, लेकिन दहकान केवल तभी उसे समझ सकता है जबकि या तो वह खुद उसके स्तर तक ऊंचा उठे, या वह उसके स्तर तक नीचे उतर आये। इसी के साथ-साथ कोई भी विदेशी, भले ही वह रूस में जन्मा और पला-बढ़ा हो, रूसी भाषा को इतनी अच्छी तरह जानता हो कि रूसी साहित्य में भी उसने अपना नाम कर लिया हो, रूसी दहकान को नहीं समझ सकता। मतलब यह कि हमारे अतीत और वर्तमान के बीच, सनातनी चोगे और फहराती हुई दाढ़ी से युक्त हमारे ग्रांडी और फ्राक-कोट पहने तथा दाढ़ी-सफाचट ग्रांडी के बीच, दहकान, शहरी, दाढ़ी-शोभित सौदागर और बारिन (यूरोपीय शिक्षा से सज्जित) के बीच, कुछ है जो समान रूप से प्रवाहित है। लेकिन यह समान तत्व नारोदनोस्त नहीं, बल्कि नेशनालिटी—राष्ट्रीयता है।...

नरोदनोस्त, जैसा कि हम ऊपर दिखा चुके हैं, किसी ऐसी चीज का पूर्वाभास देता है जो स्थिर है, स्थायी रूप से स्थितिशील है और आगे नहीं बढ़ रही है। इससे केवल उस चीज का बोध होता है जो स्थिति विशेष में, लोगों में वस्तुतः मौजूद होती है। इसके प्रतिकूल नेशनालिटी में केवल वही नहीं होता जो मौजूद है, बल्कि वह भी होता है जो होनेवाला है या हो सकता है। नेशनालिटी, विकास की अपनी क्रिया में, इतने अत्यन्त विरोधी ओर-छोरों को एक साथ खींच ले आती है, जिनकी, किसी भी अर्थ में, न पहले से कोई कल्पना की जा सकती है, न कोई अनुमान लगाया जा सकता है। नरोदनोस्त राष्ट्रीयता का पहला क्षण है, उसका प्राथमिक रूप है। लेकिन इसका यह अर्थ जरा भी नहीं कि जहां नरोदनोस्त है, वहां नेशनालिटी नहीं है: नहीं, इसके प्रतिकूल सोसायटी हमेशा एक राष्ट्र होती है। भले ही वह अभी जनसमूह की स्थिति में हो, लेकिन उसमें नेशनालिटी होती है, मूर्त या घटित रूप में नहीं, भावी क्षमता के रूप में, जैसे एक शिशु में वयस्क निवास करता है—घटित रूप में नहीं बल्कि भावी क्षमता के रूप में। नेशनालिटी और जनता का सत्व—उसकी संजीवनी शक्ति—एक ही चीज है, और प्रत्येक सत्व में—भले ही उसका रूप अभी मूर्त न हुआ हो—उसकी भावी क्षमता निवास करती है।

तो रूस, पीतर महान से पहले, एक जन-समुदाय मात्र था जिसने राष्ट्र का रूप उस समय धारण किया जब पीतर ने उसे गति प्रदान की।

न कुछ से कुछ की रचना नहीं होती। कोई भी महान आत्मा अपनी ओर से किसी चीज की सृष्टि नहीं करती, वह केवल उसी को अस्तित्व प्रदान करती है जो कि पहले से—तत्व के रूप में—मौजूद है।...

इसका क्या कारण है कि एक राष्ट्र का सत्व एक प्रकार का होता है, और दूसरे का दूसरे प्रकार का ? इसकी व्याख्या करना करीब-करीब उतना ही असम्भव है जितना कि किसी व्यक्ति के बारे में बताना कि वह ऐसा क्यों है और वैसा क्यों नहीं। अगर हम इस मान्यता को मानकर चलें कि राष्ट्र परिवारों से मिलकर बने हैं, तो उनके सत्व का प्राथमिक कारण रक्त और नसल को घोषित किया जा सकता है। साथ ही बाह्य परिस्थितियां और ऐतिहासिक विकास भी राष्ट्र के सत्व को प्रभावित करते हैं, हालांकि खुद राष्ट्र भी, अपनी ओर से, उन्हें प्रभावित करता है। लेकिन जितने निश्चय के साथ इसका कारण राष्ट्र विशेष की भौगोलिक स्थिति तथा उसके देश के जलवायु में खोजा जा सकता है, उतना अन्य किसी चीज में नहीं। सभी दक्खिनी लोग उत्तरी लोगों से प्रमुख रूप से भिन्न हैं। दक्खिनी लोग अधिक जिन्दादिल, प्रफुल्ल, और साफ दिमागी होते है, उनमें प्रभावशीलता तथा भावुकता का बाहुल्य होता है। उत्तरी लोगों का मस्तिष्क धीमा लेकिन अधिक स्वस्थ, भाव शान्त लेकिन अधिक गहरे होते हैं। उनके आवेग और उद्वेग आसानी से उत्तेजित नहीं होते, न ही आसानी से किसी काम के लिए तैयार होते हैं। दक्षिणी लोगों में प्रबल होती है उनकी प्रभावशीलता और उत्तरी लोगों में ध्यान और चिन्तन। दक्खिनी लोग अधिक परिचय देते हैं आर्द्रता का, और उत्तरी अधिक गतिविधि का। इधर उत्तर कला, विज्ञान और सभ्यता में दक्षिण से कहीं आगे बढ़ गया है। पहाड़ी और मैदानी लोगों के बीच, समुद्रीय, या टापू और महाद्वीपीय लोगों के बीच भी भारी भेद होता है। और यह भेद बाह्य नहीं, आन्तरिक होता है — केवल रूप-विधान में ही नहीं, उनकी आत्मा तक में वह परिलक्षित होता है। इस दृष्टि से रूस को लीजिए। उसका पालना कीव नहीं, बल्कि नोवगोरोद था। वहां से, व्लादिमीर के रास्ते, मास्को की ओर उसने अभियान किया। निर्मम आकाश के नीचे उसके शैशव ने आंखें खोलीं; बर्फ की प्रचंड आंधियों ने लोरियां गाकर उसे अपने पालने में झुलाया। बेरहम पाले के थपेड़ों ने उसके शरीर को इस्पाती बनाया। वज्र-सी शक्ति और स्वास्थ्य उसे प्रदान किया। जाड़ों में त्रोइका पर सवार हवा से जब आप होड़ लेते हैं, स्ले की पट्टियों के नीचे जब बर्फ कचरती है, अनगिनत तारों जड़ा धुंधला आकाश जब सिर पर छाया रहता है, आस और आकांक्षा से उमगी आंखें जब भटके हुए एकाकी चांद की रोशनी में चांदी से चमकते मैदानों के बर्फीले विस्तारों में खो जाती हैं, हिम की कसीदाकारी से सज्जित पेड़ों के झुरमुट जहां-तहां छितरे हुए नजर आते हैं, कोचवान के विलम्बित उदासी में डूबे गीत की ध्वनि जब हवा में तैरती है, तब ... हां, कितनी तत्परता के साथ तब आपका संवेदनशील हृदय उस गीत में लय हो जाने के लिए उमड़ता है और पुश्किन के शब्दों में 'घोड़े की घंटियों की एक-

रस और हृदय को टूक-टूककर देनेवाली' ध्वनि उसके स्वर के साथ गुंथ जाती है। शोक की एक सामान्य अन्तर्धारा हमारे काव्य में प्रवाहित है; लोक और कलात्मक — काव्य के दोनों ही रूपों में। पुराने दिनों में रूसी खुशी से उमगा हास-परिहास करना नहीं जानता था, उसके मजाक या तो निर्जीव होते थे या व्यंग्यपूर्ण, और हमारे सब से अच्छे लोकगीत वे थे जिनकी टेक शोकपूर्ण और धुन उदास तथा खिंची हुई होती थी। पुश्किन वहीं रूसी आत्मा को सबसे अधिक — बरबस — छूता है जहां उसके पद उदासी में डूबे होते हैं, और उसका राष्ट्रीय स्वभाव और कही इतना उभर कर सामने नहीं आता जितना कि उसकी कविता के उदास स्वरों में। शोक, उदासी, रूसी काव्य का मुख्य तत्व है। खुद कवि के शब्दों में :

लाक्षणिक कहो या शाब्दिक ही; परिवार सकल —
ठेलेवाले से कवि: शिरोमणि तक, प्रति पल
गाते हैं सकरुण गीत। वेदना जो उर की,
बनती सुन्दर संगीत। कौन है वह, जिसकी
जानती नहीं यह बुद्धि — प्रात आनन्द मग्न,
होते हम संध्या तक दुख-सागर में निमग्न!
प्रेयसि से सरस्वती तक का होता वन्दन
पर, प्रिय हमको उनका सकरुण संगीत-रुदन!

लेकिन यह शोक, यह उदासी, क्षीण हृदय की रुग्णता, निःसत्व आत्मा का पराजय गीत नहीं है। नहीं, यह सक्षम, अन्तहीन उदासी है, एक महान तथा ऊंचे हृदय से फूटा शोक का संगीत है। रूसी उदासी में पलता है, लेकिन उसके बोझ के नीचे दब नहीं जाता, और जिस आकस्मिक गति के साथ तीखी, हृदय को छार-छार कर देने वाली उदासी से वन्य, तूफानी आल्हाद में वह सन्तरण करता है, ऐसी किसी अन्य में मौजूद नहीं। इस दिशा में भी पुश्किन की कविता एक महान सत्य है : आत्मा की अनन्तता से निसृत गहरी उदासी से स्वस्थ तथा सबल आत्मा से फूटे प्रसन्न तथा प्रबल आह्लाद में जिस तेज गति से यूजीन ओनेगिन में सन्तरण होता है, उसकी जितनी प्रशंसा की जाए, थोड़ी है।

सो यह है वह सामान्य धारा जो हमारे लोक-काव्य को हमारे कलात्मक, राष्ट्रीय, काव्य के साथ गूंथती है। इसका मतलब यह कि राष्ट्र का जो सत्व होता है, जो उसका मूल गुण या लक्षण होता है, उसे पीतर के सुधारों ने रूस में दलित नहीं किया, बल्कि उनके द्वारा उसने अपना चरम विकास और चरम रूप-विधान ही प्राप्त किया। इतना ही नहीं। क्या पीतर के दिनों से हमारा

विस्तार संकुचित हुआ है, फैला नहीं ? क्या हमारे स्तपी उतने ही प्रशस्त और उतने ही असीम नहीं हैं; और उन पर आच्छादित हिम क्या उतनी ही उजली, उतनी ही रूपहली नहीं है, और क्या अपने-आप में खोया चांद पहले की भांति आज भी हमारे चारों ओर चांदी की वर्षा नहीं करता ?... वे कौन से गुण हैं जो रूसी इन्सान को अन्य गैर नस्लों तथा अन्य स्लाव कबीलों से — उन तक से जो एक ही राज्य की छाया में हमारे साथ खड़े होते हैं — अलग करते हैं ? स्फूर्ति, साहसिकता, जन्मजात दूरदर्शिता, सूझ-बूझ — वह रेत में से भी तेल निकाल सकता है, क्योंकि जरूरत आविष्कार की जननी है — शौर्य, खतरे को सिर पर ओढ़ना, साहसिकता की भावना — शोक और आनन्द में सागर का जल कितना : बस, घुटनों तक ! क्या योरपीयता रूसी जाति के इन बुनियादी, तात्त्विक, गुणों को मिटा सकती है ? शिक्षित रूसी, अपने शोक और आह्लाद में, क्या आज भी उतना ही विलक्षण नहीं और क्या उसकी रगों में अपने उसी भाई का रक्त प्रवाहित नहीं हो रहा है जो अपने हाथ को कान पर रख कर अपनी सशक्त आवाज से आकाश को चीरते हुए गा उठता है :

उठो ! नील नभ को — बढ़ो — चूम लो !
गहन क्षार-सागर को भी नाप लो !!
है नीपर की धारा अजर औ' अमर !
धरा की परिधि तक तुम्हारा ही घर !!

भौगोलिक दृष्टि से रूस विश्व के इन दो भागों (योरप और एशिया) के बीच में स्थित है। कितने ही लोग इससे यह नतीजा निकालते हैं कि नैतिक दृष्टि से भी वह इन दोनों के बीच में स्थित है। लेकिन इस तरह का खयाल हमें कुछ संगत नहीं मालूम होता। भौगोलिक मध्यमान हमेशा नैतिक मध्यमान नहीं होता, और नैतिक मध्यमान हमेशा कोई अच्छा उपकरण सिद्ध नहीं होता। आप चाहे जो भी कहें, लेकिन अंधकार और प्रकाश के बीच, ज्ञान और अज्ञान के बीच, मानवता और बर्बरता के बीच किसी मध्यमान की कल्पना करना कठिन है, और इस मध्यमान को सिद्धिप्रदाता मानना और उसकी बलैंया लेना तो और भी कठिन है। गेरुवा रंग, प्रकृति, कला और कौशल की कृतियों के लिए एक अच्छा रंग हो सकता है, लेकिन मानव की आत्मा की दृष्टि से संन्यास लेने और नैतिक पतन का रंग है। "जो हमारे साथ नहीं वह हमारे विरुद्ध है"; बीच के मार्ग की यहां गुंजाइश नहीं। तातार जुवे की बदौलत योरप और रूस में सिवा धर्म के अन्य किसी चीज में समानता नहीं थी, लेकिन एशिया से वह और भी अधिक भिन्न था। धुंध-पाले से छाए आकाश के नीचे और कठोर जल-वायु के बीच जीवन व्यतीत करनेवाले रूस में वह ऐश्वर्य नहीं था, लाल-

साओं में डूबे, अलस और वासनाओं से उब-चुब करते विलासी जीवन की वह कविता नहीं थी जिसका जादू एशिया में योरपीय कल्पना तक को मंत्र-मुग्ध कर लेता है। उसके आवेग और उद्वेग भारी थे, तीखे और पैने नही। वे उत्तेजित नहीं करते थे, धुंध बनकर छा छाते थे। बस, तन्द्रा में डूबे रहते, और बिरले ही चेतन होते थे। रागानुराग की विविधता का रूस में अभाव था। कारण, समाज की नीवें एकरस थीं और हित संकीर्ण। एशियाई आनन्द से परिचित है, सुन्दर की उपासना का उसका अपना एक ढंग है, और अपने ही ढंग से विलास तथा जीवन की आराइशों को प्यार करता है। रूसी पीतर महान से पहले इन सब चीजों से अनजान थे। सुन्दर की उनकी कल्पना थी मोटापन, गुदगुदा बदन, दूध-सी उजली चमड़ी और गुलाब से गाल — रक्तिम लाली और दूध-सी सफेदी, जैसा कि हमारे बड़े बूढ़े कहा करते थे और हमारे आम लोग आज भी कहते हैं। और सचमुच, उस चीज को देखकर जिसे हमारे आज के दाढ़ी-शोभित वणिक सुन्दरता कहते हैं, सफेदी पुते, लाली रंगे उनके हृदय की रानियों के गालों और मिस्सी से काले किए हुए उनके आबनूसी दातों को देखकर हमारे पुरखों की सौन्दर्य रुचि के बारे में कोई ऊंची राय कायम करना कठिन है। एशियाई क्षत्रप या पाशा में, जो पाशा-शाही पर अपनी सत्ता का दुरुपयोग करता है और अपने हरम में — इस दुनिया के उस स्वर्ग में जिसका मोहम्मद ने मरने के बाद स्वर्ग में मिलने का आश्वासन दिया था — उन्मादकारी बांदियों और इस दुनिया की हूरों तथा परियों से घिरा हुआ, फौवारों की निरन्तर कल-कल और अरबी अगरबत्तियों की मोहक खुश्बुओं के बीच, कामुकता के अलख जगाता है तथा ऐश्वर्यपूर्ण सागर में डूबता-उतराता है— हा, हम कहते हैं, उस पाशा में और प्राचीन रूसी बोयर में क्या अन्तर है, जो अपना जुगाड़ करने किसी प्रान्त में पहुंचा, समूचे के समूचे दावतों को बिना किसी स्वाद के अपने पेट में उतारा, उससे भी अधिक समूचे रूप में दारू का पान किया और भोजन के बाद लकड़ी के कुन्दे की भांति सो रहा? शनिवारों को वह हम्मामघरों में कुहराम करता, भयानक गर्मी में बर्च के चंवर से वाष्प-स्नान करता, दारू के चुक्कड़ खाली करता, तबीयत के कुछ शाद न होने पर कड़ी मिरचौनी ब्राण्डी की डोज लेता —नहाने के बेंच पर लेटे-लेटे— और इसके बाद बर्फ में लुढ़कनियां खाता। हां, पाशा में और उस बोयर में क्या अन्तर है जिसका, भोजन और दारू के बाद, सबसे बड़ा आनन्द था बाज का शिकार करना, भालू के साथ ताकत आज-माना, या अपने दासों से हिसाब चुकता करना?... पूर्व की कल्पना में प्रेरणा और रचनात्मकता का स्थान है, वहां 'मोतियों की माला गूंथने' और 'मोतियों का कालीन सजाने' की कला का— मतलब गद्य और पद्य में रचना करने का— भारी महत्व है। पवित्र रूस में, पुराने दिनों में, लोगों ने इस विचित्र धंधे का

नाम तक कभी नहीं सुना था और अगर भूले-भटके कभी सुन भी लेते थे तो उसे 'चांद को देखकर रेंकना' कहते थे। यह थी कविता-सुन्दरी की उनकी कल्पना, —जिसमें और कुछ भले ही हो, कविता का नाम न था। एशियाई और रूसी दुनिया के बीच एक महत्वपूर्ण भेद और है—रहस्यवाद और धार्मिक चिन्तन का अभाव। हमारा स्लाव-बहु देवतावाद इतना क्षीण और हल्का था कि उसका एक भी चिन्ह अब नजर नहीं आता। ग्राड प्रिन्स व्लादिमीर के एक शब्द ने उसका लोप कर दिया, और लोगों ने—बिना किसी कट्टर प्रतिरोध के—अपना बपतिस्मा हो जाने दिया। यह सच है कि कुछ लोग चिल्ला उठे: "बाहर तैर आओ, भगवन!" किन्तु यह किसी बहुदेवतावादी धार्मिक भावना के कारण नहीं, वरन् पेरून की रूपहली दाढ़ी और सुनहरी गलमुच्छों के प्रति सम्मान के कारण। सामान्यतः, रूस एशियाई था, लेकिन अपने चरित्र में भिन्नता लिए हुए। इसका एक कारण ईसाइयत था जिसे सन्त व्लादिमीर ने यथा विधि राज्य का धर्म घोषित कर दिया था। सो, अगर हमारे रजवाड़े एक दूसरे की आंखें निकलवाते भी थे तो इसलिए नहीं कि वे एशियाई थे, वरन इसलिए कि बाइजेण्टियम प्रथाओं ने उन्हें जकड़ रखा था। रूसी दहकान आज भी अर्ध-एशियाई है, किन्तु अपने ढंग से: वह विषय सुख का—आनन्द-उल्लास का—प्रेमी है, किन्तु आनन्द की उसकी कल्पना छलछलाते पात्र, पेट का कोठा भरने और तन्दूर के ऊपर पड़ कर लम्बी तानने से कभी आगे नहीं बढ़ती। यही उसके आनन्द की एकमात्र कल्पना है। अच्छी फसल और रोटियों की बहुतायत हो। बस, उसे जैसे स्वर्ग मिल गया। अतीत और भविष्य का खयाल उसे परेशान नहीं करता। कारण, जो लोग अभी भी अपनी प्रकृत अवस्था से ऊपर नहीं उठे वे भूख और ऐसी अन्य जरूरतों की तृप्ति के अलावा और कुछ नहीं सोच सकते। सौदागर उसके पास आता है। मेले में माल पहुंचाने के लिए उसे मजदूर की जरूरत है। लेकिन हमारा यह मजदूर — यह दीन-हीन दहकान —अत्यधिक मजदूरी मांगता है, और ठाठ के साथ अपने तन्दूर के तख्त पर ऐंठता रहता है। लेकिन भूख के दिनों में फूटी कौड़ी भी उसके लिए बहुत है, वह कभी आनाकानी न करेगा; लेकिन तभी ही, जब कि उसके घर में न अपने लिए अन्न का दाना होता है, न घोड़े के लिए चारा। अपनी स्थिति का सवाल, और अनुकूल परिस्थितियों से—अच्छी फसल आदि से—लाभ उठाकर अपनी उस स्थिति को अच्छा बनाने तथा भविष्य को सुरक्षित करने का सवाल उसके मटकीनुमा सिर में कभी प्रवेश नहीं करता...

शक्ति के बीच अकर्मण्यता, अक्षम धन-धान्य के बीच गरीबी, जन्मजात समझ-बूझ के बीच बेतुकी नासमझी, देशज कुशाग्रता के बीच भोथरापन, प्रथा और जीवन की परिस्थितियों और न्याय के प्रशासन तथा अमल में मानव के

गौरव की अवहेलना तथा अपमान, मानवीय गौरव की अमानवता — सो भी ईसाई धर्म की छत्रछाया में — पीतर महान से पहले रूस के सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन के रूप में यह सब बरबस आंखों के सामने मूर्त हो उठता है। लेकिन राष्ट्र की आत्मा हमेशा महान और शक्तिवान थी। यह मस्कोवी के द्रुत केन्द्रीकरण, ममाई विद्रोह, तातार जुवे का तख्ता उलटने, नृशंस कजानशाही पर फतह पाने आदि से प्रत्यक्ष है। यह रूस के नये जन्म से भी प्रत्यक्ष है जो फोनिक्स की भांति, अपनी ही राख में से फिर उठ खड़ा होता है ... और यह उसके लोक-काव्य की उन कृतियों से भी प्रत्यक्ष है जिनकी कल्पना की समृद्धता इतनी अद्भुत, अभिव्यक्ति इतनी सक्षम और भाव इतने निस्सीम हैं : कभी-निर्बन्ध उल्लास में पगे हुए और प्रचंड, कभी उदास और शोकपूर्ण, लेकिन हमेशा परिपुष्ट और सशक्त, सड़कों और चौराहों में उमड़ते-घुमड़ते. आदिकाल के व्यापक जंगलों, मा वोल्गा के प्रशस्त वक्ष और विस्तृत मैदानी ओर-छोरों को अपनी बांहों में समेटने के लिए विकल ... लेकिन, जाति चाहे कितनी ही महान हो, वह ऐसी ही बन जायेगी। भाग्य जब दुश्मन होता है, या प्रतिकूल ऐतिहासिक विकास की परिस्थितियां उसे आवश्यक क्षेत्र से वंचित कर देती हैं, उसकी आत्मा की व्यापक शक्ति को जब उसके उपयुक्त विषय-वस्तु नहीं मिलती, तब — परीक्षा की घड़ी आने पर — क्षीण आत्मावाली जातियों के जहां घुटने टूट जाते हैं, वहां वह शिकारियों से घिरे सिंह की भांति चेत जाती है, अपनी अयाल को आतंकप्रद ढंग से झटकती और अपनी भयानक गरज से दुश्मन के हृदयों को कंपा डालती है। लेकिन, तूफान के गुजरते ही, वह एक बार फिर तन्द्रा में डूब जाती है, उस व्याघात से अपनी सभ्यता के लिए कोई कारआमद नतीजे नहीं निकालती। और सच ही, भाग्य के सभी महान व्याघातों और परीक्षाओं ने केवल रूसी जाति के महान चरित्र को तो प्रकट किया, लेकिन उसकी समूची जनता की सत्ता को किसी तरह भी विकसित नहीं किया, न ही उसकी सभ्यता को कोई प्रेरणा प्रदान की। इसके प्रतिकूल १८१२ के उस संकटपूर्ण वर्ष ने — तूफानी बादल की भांति जो समूचे रूस पर टूट पड़ा था और रूस की समूची शक्तियों को जिसने झंझोड़ दिया था — रूस को कमजोर करना तो दूर, बल्कि उसने उसे और भी ज्यादा सशक्त बनाया, एक नयी और अधिक ऊंचे स्तर की खुशहाली का वह बानक बना। कारण कि उसने जातीय सम्पदा के नये स्रोतों का, बढ़े हुए उद्योग, व्यापार और शिक्षा के स्रोतों का, उद्घाटन किया। यह है वह अन्तर जो एक ही जाति में दिखाई देता है — एक तो उस समय जब कि वह अपनी तात्कालिक, प्रकृत और पितृसत्तात्मक स्थिति में होती है, और दूसरा उस समय जब कि उसके ऐतिहासिक विकास में संतुलित प्रगति होती है। पहली स्थिति में जाति के जीवन की कोई बड़ी

घटना भी, ऐसा मालूम होता है जैसे अकारण ही हो गई हो, और बिना कोई नतीजे छोड़े वह खत्म हो जाती है। फलतः उसका इतिहास किसी सामान्य दिलचस्पी से शून्य होता है, जब कि दूसरी स्थिति में घटना का एक युक्तियुक्त —संगत— कारण होता है, वह अपना एक प्रभाव छोड़ती है और आगे की ओर एक कदम होती है। उसका इतिहास नाटकीय तत्वों, गति, विविधता से भरा-पूरा होता है—काव्य की दृष्टि से दिलचस्प, दर्शन की दृष्टि से शिक्षाप्रद और राजनीति की दृष्टि से महत्वपूर्ण ! ◇◇

कला और जीवन

कला को निश्चय ही पहले कला होना चाहिए; केवल इसके बाद ही वह किसी एक युग में सोसायटी की आत्मा और उसके रूझान की अभिव्यक्ति हो सकती है ... अगर उसमें कविता नहीं है तो न तो वह सुन्दर भावों को पेश कर सकती है, न किन्हीं समस्याओं को। अधिक से अधिक उसके बारे में यही कहा जा सकता है कि इसका आशय अच्छा था, लेकिन सारा गुड़ गोबर हो गया !

लेकिन, यह पूरी तरह मानते हुए भी कि कला को कला होना चाहिए, हम मानते हैं कि विशुद्ध हवाई कला का सिद्धान्त, जो अपने ही लोक में रहता है और जीवन के अन्य पहलुओं से कोई वास्ता नहीं रखता, एक स्वप्निल शून्य है। ऐसी कला का कभी कहीं अस्तित्व नहीं रहा।

◇ ◇ ◇

कहीं सुना या पढ़ा हुआ विचार, जिसे हम सम्यक रूप में समझते हैं लेकिन जिसे हमारी प्रकृति ने आत्मसात नहीं किया है, जिस पर हमारे व्यक्तित्व की छाप नहीं पड़ी है, न केवल काव्य-रचना के लिए ही बल्कि किसी भी साहित्यिक कार्य के लिए एक निर्जीव पूंजी है।

हमारा राष्ट्रीय कवि

पुश्किन से पहले रूसी कविता योरपीय मन्दिर की एक प्रबुद्ध तथा दक्ष पुजारिन मात्र थी। यही कारण है कि पुश्किन से पहले की रूसी कविता, चाहे जैसे भी हो, मौलिक प्रेरणा की मुक्त कृति से अधिक रेखाचित्र तथा अनुकृति का भ्रम पैदा करती थी। स्वयं क्रीलोव भी, जिसकी प्रतिभा न केवल सशक्त और सुस्पष्ट थी, बल्कि उतने ही परिमाण में राष्ट्रीयता की दृष्टि से रूसी भी थी, यदि साहस न बटोरता तो अनुवादक तथा ला फोन्तेन का अनुकरणकार बनकर रह जाता। साहस बटोरने में उसे काफी समय लगा। लम्बे अर्से तक दुविधा ने उसका पीछा नहीं छोड़ा। देरज्हाविन की कविता रूसी वाणी तथा मस्तिष्क की सुस्पष्ट झांकियां प्रस्तुत करती है, लेकिन वे केवल झांकियां मात्र हैं—अलंकारिक वाक् प्रवाह द्वारा आत्मसात विदेशी रूपों तथा परिकल्पनाओं में डूबी झांकियां। ओज़ेरोव ने एक रूसी दुखान्त नाटक की, जिसे ऐतिहासिक भी कहते हैं, रचना की। इसका नाम है दमित्री दोन्स्कोय। किन्तु नामों के सिवा इसमें न तो कुछ 'रूसी' है, न 'ऐतिहासिक।' नामों को छोड़ दें तो इसमें बाकी सब उतना ही रूसी और ऐतिहासिक है जितना कि फ्रेंच अथवा तातार। ज्हुकोव्स्की ने दो 'रूसी' बैलेड लिखे—लुदमिला और स्वेतलाना। लेकिन पहला एक जर्मन कृति का रूपान्तर है (और यह कृति स्वयं भी बहुत सुन्दर नहीं थी) और दूसरा, बावजूद इसके कि उसमें बड़े दिन के रूसी रीति-रिवाजों और शीतकालीन रूसी प्रकृति के काव्यात्मक दृश्य अंकित किये गये हैं, जर्मन भावुकता तथा जर्मन कल्पना-चित्रों से सराबोर है। बात्युश्कोव की वीणावादिनी, जो विदेशी आकाशों में चिरन्तन विहार करती है, रूसी धरती से चुनकर एक भी फूल अपने जूड़े में नहीं खोंसती। ये सब तथ्य यह दिखाने के लिए पर्याप्त हैं कि रूसी जीवन में कोई कविता नहीं थी, न ही कोई कविता हो सकती थी; कि रूसी कवियों को, कल्पना के घोडे पर सवार होकर, प्रेरणा की खोज में विदेशों की ओर—न केवल पश्चिम की दिशा में ही, वरन् पूर्व की दिशा में भी—उड़ना पड़ा। पुश्किन के आगमन के साथ रूसी कविता ने, भीरु

चरणदासी का स्थान छोड़ा और प्रतिभा-सम्पन्न अनुभवशील स्वामिनी का स्थान ग्रहण किया। स्वभावतः यह एकाएक नहीं हुआ। एकाएक कुछ भी नहीं होता। **रूसलान और लुदमिला** तथा **पिंदारे बन्धु** नाम की अपनी कविताओं में पुश्किन अपने पूर्वजों की भांति, शिष्य मात्र थे। वह उनसे न केवल कविता में ही, बल्कि रूसी वास्तविकता को काव्यात्मक रूप देने के प्रयासों में भी मिलते-जुलते थे। और इस शिष्यत्व का ही फल है कि **रूसलान और लुदमिला** में रूस की झलक इतनी कम और इटली की इतनी अधिक है। उनकी कृति **पिंदारे बन्धु** केवल एक मेलोड्रामा बनकर रह गयी है। पुश्किन का एक रूसी बलेड है—**दूल्हा**। १८२५ में यह लिखा गया था। इसी में ओनेगिन का प्रथम खण्ड था। यह बैलेड, रूप और विषयवस्तु—दोनों दृष्टियों से, अपने रोम-रोम में रूसी भावना में पगा है। **रूसलान और लुदमिला** के मुकाबिले कई हजार गुना सचाई के साथ यह कहा जा सकता है कि :

शीतल मंद-सुगंध रूस की इसमें बहती !

और चूंकि इस बैलड ने उस समय कोई ध्यान आकर्षित नहीं किया और अब तो करीब-करीब इसे भूला भी जा चुका है, अस्तु, हम उसका एक दृश्य—विवाह की बात तय करने वाला दृश्य—उद्धृत करेंगे :

आई अगले दिन वह नारी,
'बिचवानी' कहलाती प्यारी,
गुण गाये खूब नताशा के
फिर बोली बूढ़े दादा से :
"है रतन तुम्हारे पास एक,
है स्वर्ण हमारे पास; एक
जो सदाचार का पुतला है,
उसका चरित्र भी उजला है !
है युवक, धनी है, अच्छा है,
वह नहीं गांठ का कच्चा है।
वह ऊंचे कुल में जन्मा है,
निर्द्वन्द्व हमेशा रहता है।
उपहारों से घर भर देगा,
सोना-चांदी, सब कुछ देगा।
देगा साटिन के कपड़े भी,
प्यारी बेटी सज जायेगी !

कल लौटा घोड़ा-गाड़ी पर,
दरवाजे पर लड़ गयी नजर।
अब फौरन ही सौदा कर लो,
बेटी के पीले हाथ करो!"
ऐसी बातें करती गुन-गुन,
बिचवानी टूंग रही भोजन!
बेचारी कन्या मौन साध,
डूबी है चिन्तन में अगाध!
बोले दादा, "फिर यही सही,
अपनी बेटी का ब्याह सही!
ले बोल नताशा, चुप क्यों है?
सूनापन अच्छा लगता है?
बेटी क्यों रहे कुंवारी, जी?
कब तक वह खाये-खेले, जी?
उसका भी सच्चा हो सपना,
हों बेटी-बेटे; घर अपना!"

और इस प्रकार शुरू से आखीर तक यह बैलड चलता है। कुल मिलाकर सारे रूसी लोक-गीत भी रूसी राष्ट्रीयता को इतनी अच्छी तरह व्यक्त नहीं करते जितनी अच्छी तरह कि अकेला यह बैलेड। किन्तु इस प्रकार की कृतियां राष्ट्रीय भावना में पगी काव्यात्मक कृति का मानदंड नहीं बनतीं, और यह सहज ही कल्पना की जा सकती है कि इस आह्लादपूर्ण बैलेड की ओर जनता ने क्यों कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। जिस दुनिया का इतनी सुस्पष्टता और ईमानदारी के साथ इस बैलेड में चित्र खींचा गया है, वह किसी भी प्रतिभा के लिए अति-सुलभ हो सकती है, यदि और किसी कारण नहीं तो अपनी प्रत्यक्ष रूप-रेखा के लिए ही। इसके अलावा, वह इतनी सीमित, सतही और इतना अनगढ़ है कि सच्ची प्रतिभा उस पर अधिक नहीं टिक सकती। अन्यथा, अपने तमाम गुणों के बावजूद, अपनी कृतियों को एकांगी, एकरस, उबा देनेवाली, और अन्ततः फूहड़ बनने से नहीं बचाया जा सकता। इसीलिए जिस आदमी के पास प्रतिभा है, वह आम तौर से इस तरह के एक-दो से अधिक प्रयोग नहीं करता—सो भी प्रसंगवश, इस क्षेत्र विशेष में अपनी शक्ति आजमाने के लिए, न कि इसलिए कि इस क्षेत्र के साथ उसका कोई खास लगाव है। लर्मन्तोव कृत जार ईवान वसीलियेविच, उसका युवा अंगरक्षक और साहसी सौदागर कलाश्निकोव यद्यपि पुश्किन के दूल्हे से टक्कर नहीं ले पाते—रूप की दृष्टि से—

लेकिन जहां तक विषयवस्तु का सम्बंध है, वे उससे कहीं अधिक बलिष्ठ हैं। किर्शा दानिलोव द्वारा संकलित वीर रस की सारी रूसी लोक-कविताएं इसके सामने फीकी पड़ जाती हैं। इसके मुकाबले में लर्मन्तोव का गीत प्रतिभा का एक आलेख मात्र है, कलम की एक कसरत, और प्रत्यक्ष ही लर्मन्तोव इस शैली में और कोई चीज न लिखते। दानिलोव के संकलन में जो कुछ प्राप्त हो सकता था, वह सब लर्मन्तोव ने अपने इस गीत में भर दिया है और इस तरह का कोई अन्य नया प्रयास अनिवार्यतः पुनरावृत्ति से न बच पाता, वह चर्वित-चर्वण मात्र होता। उस दुनिया के लोगों के भाव और राग-विराग, इतने एकरस रूप में अपने-आपको व्यक्त करते हैं, उस दुनिया के लोगों के सामाजिक सम्बंध इतने सरल और अनगढ़ हैं कि वे शक्तिशाली प्रतिभा द्वारा एक कृति के बाद सहज ही समाप्त हो जाते हैं। राग-विरागों की विविधता, भावों के अन्तहीन सूक्ष्म स्तर, अनगिनत और पेचीदे सामाजिक और व्यक्तिगत सम्बंध — यह है वह समृद्ध धरती जिस पर कविता के पुष्प खिल सकते हैं। सुविकसित या विकासोन्मुख सभ्यता ही इस धरती को तैयार कर सकती है। जार्ज सैण्ड कृत जाँ जैसी कृतियां केवल फ्रांस में ही सम्भव हैं। कारण कि वहां सभ्यता ने — अपने तत्वों की तमाम बारीकियों के साथ — सभी श्रेणी-स्तरों को घनिष्ठ तथा विद्युती अन्तर्सम्बंधों द्वारा एक-दूसरे से जोड़ दिया है। इसके प्रतिकूल हमारी कविता को अपनी सामग्री के लिए एक मात्र उस श्रेणी की शरण लेनी पड़ती है जो अपने जीवन के ढंग तथा रीति-रिवाजों में प्रगति तथा बौद्धिक गतिशीलता का सर्वाधिक प्रतिनिधित्व करती है। ऐसी दशा में, राष्ट्रीयता यदि काव्य-कृतियों का सर्वोच्च गुण है, तो वास्तव में राष्ट्रीय कृतियों के लिए हमें उन काव्य-कृतियों को टटोलना होगा जिनकी विषय-वस्तु समाज के उस स्तर के जीवन से ली गयी है जिसकी रचना पीतर महान के सुधारों के परिणामस्वरूप हुई है, जिसने संशोधित जीवन के रूपों को अपना लिया है। किन्तु अधिकांश जनता अभी भी इस मामले को दूसरी दृष्टि से देखती है। यदि आप कहें कि रुसलान और ल्युदमिला एक राष्ट्रीय तथा लोकप्रिय कृति है तो हर कोई सहमत होगा। यदि आप उन तमाम कृतियों को राष्ट्रीय कहें जिनके पात्र किसान पुरुष और नारी हैं, दढ़ियल सौदागर और शहरी लोग हैं अथवा जिनके पात्र अपनी अनगढ़ बातचीत में रूसी मुहावरों और कहावतों की बघार लगाते रहते हैं और सोने में सुहागा की भांति बीच-बीच में, राष्ट्रीयता के बारे में लच्छेदार किताबी वाक्यों को दोहराते जाते हैं — तो लोग और भी अधिक तत्परता से इस सबको राष्ट्रीय मान लेंगे। जो अधिक कुशल और शिक्षित लोग हैं, उन्हें (बिलकुल वाजिब रूप में) क्रीलोव की कथाओं में रूसी लोक-कविता के दर्शन करने में देर नहीं लगती। इतना ही नहीं। वे (कम वाजिब रूप में) न केवल

पुश्किन की परियों की कहानियों में ही (**जार सुलतान, मृत रानी और सात वीर**) वरन् (अत्यन्त नावाजिब रूप में) ज्हुकोव्स्की की परियों की कहानियों (**जार बेरेन्देई, लम्बीदाढ़ी और सोती हुई रानी**) में भी राष्ट्रीयता का दर्शन करने का भाव जताने लगेंगे। किन्तु यदि आप कहें कि वास्तव में पहली राष्ट्रीय कविता पुश्किन कृत **यूजीन ओनेगिन** है, कि इसमें अन्य किसी भी रूसी राष्ट्रीय कृति से अधिक राष्ट्रीयता है—और यह उतनी ही सिद्ध बात है जितनी कि दो और दो चार —तो बहुत कम लोग आपसे सहमत होंगे, कितनों ही को तो यह बात बड़ी अजीब मालूम होगी। अगर इसे सामान्यतः राष्ट्रीय कृति नहीं माना जाता तो इसका कारण यह धारणा है कि कोट पहनने वाला रूसी आदमी और चोली कसने वाली रूसी नारी रूसियत से वंचित हो जाते हैं; धारणा यह है कि रूसी आत्मा जिपूनी कोटों, वक्कल की चप्पलों, कनक की बरांडी और खट्टी क्राउत में निवास करती है, और इन्हीं में राष्ट्रीयता की खोज करनी चाहिए। इस मामले में तथाकथित शिक्षित लोगों में से भी कितने ही, अनजाने, रूस के आम लोगों का अनुसरण करते हैं। ये लोग योरप से आये प्रत्येक विदेशी को जर्मन कहते हैं। कितने ही लोगों का यह बेकार का भय कि हमारा जर्मनीकरण होता जा रहा है, इसी भय की उपज है। सभी योरपीय जातियों ने एक राष्ट्र के रूप में विकास किया : पहले कैथोलिक एकता की छत्रछाया में, जो आध्यात्मिक भी थी (पोप के रूप में) और लौकिक भी (पवित्र रोमन साम्राज्य के चुने हुए प्रमुख के रूप में), और फिर सभ्यता की उपलब्धियों की दिशा में समान आकांक्षा से बढ़ने की भावना से प्रभावित होकर। किन्तु इतना सब होने पर भी, फ्रांसीसियों, जर्मनों, अंग्रेजों, इतालियनों, स्वीडों और स्पेनियों के बीच उसी प्रकार बुनियादी अंतर है जिस प्रकार रूसियों और भारतीयों के बीच। वे सब एक ही वीणा के तार हैं— मानव की आत्मा के तार। किन्तु इन तारों की झंकार अलग-अलग है। प्रत्येक का अपना एक विशिष्ट स्वर है। यही कारण है कि उनकी झंकार एक पूर्ण-संगीत को जन्म देती है। यदि पश्चिमी योरप के राष्ट्र, जो सब-के-सब उस महान ट्युटोनिक कबीले से जन्मे जो बहुत कुछ रोमन कबीलों में घुलमिल गया था, जो सब-के-सब एक ही धर्म की धरती पर पले और बढ़े, जो सब-के-सब एक से रीति-रिवाजों और समाज-संगठन से प्रभावित हुए, जिन्होंने एक साथ ही प्राचीन क्लासिकी विरासत से लाभ उठाया, —यदि पश्चिमी योरप के ये सब राष्ट्र एक ही परिवार के होते हुए भी एक-दूसरे से इतने भिन्न हैं, तो क्या यह आशंका करना उचित होगा कि रूसी राष्ट्र, जिसका जन्म भिन्न धरती पर हुआ था, जो भिन्न आकाश के नीचे पनपा था और जिसका इतिहास अन्य किसी भी पश्चिमी योरपीय राष्ट्र से भिन्न है— यह रूसी राष्ट्र, योरपीय पोशाकों और प्रथाओं को अपनाने पर अपनी राष्ट्रीय

मौलिकता खो बैठेगा और भौतिक तथा नैतिक रूप से इतने भिन्न -- योरपीय -- राष्ट्रों के समान हो जायगा -- इतना समान जितना मटर के दो दाने होते हैं ? ... ओह, निरी बकवास है यह ! इससे बड़ी बकवास की कल्पना नही की जा सकती । किसी कबीले या राष्ट्र की निजी विशिष्टता का मुख्य कारण उस देश की धरती तथा जलवायु होती है, जिसमें कि वह रहता है । तो भी इस भूमंडल पर कितने देश ऐसे हैं, जो भूतत्व-विज्ञान तथा जलवायु की दृष्टि से एक-दूसरे के समान हैं ? इससे पहले कि योरपीय विचार तथा रीति-रिवाजों का प्रभाव रूसियों को उनकी राष्ट्रीयता से वंचित कर सके, यह जरूरी है कि रूसी महाद्वीप के स्तपी मैदानों को पहाड़ बना दिया जाय, और उसके व्यापक विस्तार को समेटकर (साइबेरिया को छोड़कर) मौजूदा विस्तार का कम-से-कम दसवां भाग कर दिया जाये । इसके अलावा और बहुत कुछ करना होगा जो किया नहीं जा सकता । केवल मानिलोव जैसे लोग ही अपनी पिनक में इस सबकी कल्पना कर सकते थे । फिर ईश्वर ही रक्षा करे उस राष्ट्रीयता की जो अन्य राष्ट्रों के प्रत्येक स्पर्श पर अपनी स्वतंत्रता खोने के भय से कांपने लगती है । हमारे थोथे देशभक्त, अपने हृदय तथा मस्तिष्क की सरलता के कारण, यह नहीं देख पाते कि इस तरह की बातें सोचना रूसी राष्ट्रीयता की मानहानि करना है । क्या पहले भी कभी रूसी सेनाएं उतनी विजयी हुई थीं जितनी उस काल में जब पीतर महान ने उन्हें योरपीय पोशाक -- तथा इस पोशाक से लगे-लिपटे अनुशासन -- से मज्जित किया था ? किसानों के रेवड़ों को, अस्त्र-शस्त्रों की कमी और अनुशासन की कमी के कारण, युद्ध द्वारा अपनी झोपड़ियों और हलों से उखड़े और युद्ध क्षेत्र में अस्तव्यस्त भागते देखना हमें अनहोना नहीं मालूम होता । न ही हमें यह अनहोना मालूम होता है कि रूसी सैनिकों की टुकड़ियां, युद्ध की स्थिति के प्रतिकूल होने पर भी वीरता के साथ युद्धक्षेत्र में जान देतीं या विकट अनुशासन के साथ पीछे हटती हैं । कितने ही उत्साही स्लावोफिल, अंध-जातिभक्त, कहते हैं : "जर्मनों को देखो । वे हर जगह जर्मन रहते है, चाहे रूस में हों, या फ्रांस में, या भारत में ! फ्रेंच भी हमेशा फ्रेंच रहते हैं, चाहे भाग्य उन्हें कहीं भी ले जाय । किन्तु रूसी इंग्लैंड में अंग्रेज, फ्रांस में फ्रेंच और जर्मनी में जर्मन बन जाते हैं ।" निस्संदेह, इस तर्क के पक्ष में अकाट्य रूप से कुछ कहा जा सकता है । किन्तु इस तर्क में रूसियों का गुण ही प्रकट होता है, अवगुण नहीं । किसी भी देश अथवा जाति के साथ अपने को ढालने का यह सुखद सहज गुण एक मात्र रूस के शिक्षित तबके का ही गुण हो, ऐसा कतई नहीं है । यह एक ऐसा गुण है जो रूसियों को अन्य सभी स्लाव जातियों से विशिष्ट बनाता है । शायद यही उनके सबसे श्रेष्ठ होने का कारण है । हमारे रूसी सैनिकों के बारे में प्रसिद्ध है कि वे जन्मजात रूप से ही अद्भुत दार्शनिक तथा

राजनीतिज्ञ होते हैं। उन्हें कोई भी चीज कभी चकित नहीं करती और हर चीज को वे स्वाभाविक मानते हैं, भले ही यह 'हर चीज' उनकी अपनी धारणाओं तथा अभ्यासों से कितनी ही भिन्न क्यों न हो। इस विषय को और अधिक न बढ़ाकर, हम लर्मन्तोव के एक कथन का यहां उल्लेख करेंगे। यह कथन रूसियों की इस अद्‌भुत क्षमता से सम्बध रखता है कि उन्हें चाहे जहां भी रहने का संयोग प्राप्त हो, वे वहां के लोगों के रहन-सहन के अनुसार अपने-आपको ढाल लेते हैं। "मुझे नहीं मालूम," युग नेता का लेखक कहता है, "कि यह मानसिक विशेषता गुण है अथवा दुर्गुण। किन्तु इससे उस अद्‌भुत लचक तथा समझ का पता अवश्य लगता है जो आवश्यक तथा दुर्निवार होने पर बुराई को क्षमा करना जानती है।" योरप के नहीं, वरन काकेशस के प्रसंग में यह कथन आया है। किन्तु रूसी जहां भी हो, कोई अन्तर नहीं पड़ता। औघड़ जर्मन और अति-अहम्मन्य जॉन-बुल — ये कहीं भी हों, अपने तौर-तर्ज और अन्दाज से अपने रूप को छिपाने में कभी सफल न होंगे। फ्रांसीसी के बाद केवल रूसी ही ऐसे हैं जो सीधे-सादे इन्सान की शक्ल-सूरत रखते है, जिनके माथे या पासपोर्ट पर उनके राष्ट्र का ठप्पा नहीं लगा है। लेकिन, इसका यह अर्थ कतई नहीं हैं कि चूंकि रूसियों में इंग्लैंड में अंग्रेज, फ्रान्स में फ्रेंच बन जाने का सहज गुण विद्यमान है, इसलिए वह एक क्षण के लिए भी रूसियत से शून्य हो जाता है — उसका रूसी होना खत्म हो जाता है, अथवा वह, सचमुच में, एक क्षण के लिए अंग्रेज या फ्रेंच बन जाता है। रूप और तत्व सदा एक ही वस्तु नहीं होते। अच्छे रूप को अपनाने में कोई आपत्ति नहीं, किन्तु अपने तत्व को तजना उतना आसान नहीं है जितना कि लम्बे चोगे को तज कर फ्राक कोट धारण कर लेना। रूसियों में अनेक फ्रेंच-परस्त, अंग्रेज-परस्त जर्मन-परस्त तथा और न जाने कितनी तरह के 'परस्त' और भक्त हैं। चाहे जिस पहलू से भी उन पर नजर डालकर देखिए — ऊपर से नीचे तक वे आम अंग्रेज, फ्रेंच या जर्मन नजर आयेंगे। यदि वह अंग्रेज परस्त है, और भाग्यवश धनी भी, तो उसके घोड़े तक — साथ ही उसके घोडा-बरदार और साईस भी — अंग्रेजियत में रंगे नजर आयेंगे, मानो उन्हें अभी-अभी लन्दन से मंगाया गया हो। इतना ही नहीं। उसका उद्यान भी अंग्रेजी ढंग से लगा होगा; नियमित रूप से एल का वह सेवन करेगा, भुने हुए मास, पुडिंग और आराइशों पर जान देगा। मुष्टिका युद्ध में वह आपके किसी भी अंग्रेज कोचवान से पीछे न रहेगा। यदि वह फ्रेंच-परस्त है तो लकदक कपड़े पहनेगा — मानो फैशन का पुतला हो; फ्रेंच में बातें करेगा — ऐसे, मानो ठेठ पेरिस का रहनेवाला हो; दुनिया को ऐसे बेरुखे अन्दाज से देखेगा मानो वह तुच्छ वस्तु हो। अवसर पड़ने पर, वह नम्र भी बन जायगा, हास-परिहास में भी योग देगा। यदि वह जर्मन-परस्त है तो, सर्वोपरि,

कला को वह कला के लिए प्यार करेगा और विज्ञान को विज्ञान के लिए। वह रोमांटिकता का शौकीन होगा। भीड़-भम्भड़ को नीची नजर से देखेगा। बाह्य सुख से इन्कार करेगा। अपने अन्तर की दुनिया में रमने और चिन्तन के सुख को सबसे ऊपर समझेगा। ... किन्तु इन महानुभावों को जरा बाहर भेजकर देखिए — अंग्रेज-परस्तों को इंग्लैंड में, फ्रेंच-परस्तों को फ्रान्स में और जर्मन-परस्तों को जर्मनी में। फिर इस बात पर निगाह रखिए कि क्या अंग्रेज, फ्रेंच और जर्मन भी उसी तत्परता तथा उतावली के साथ उसे अपना देश-भाई मानने के लिए लपकते हैं जितनी तत्परता से आप उन्हें ऐसा घोषित करते हैं...। नहीं, वे इन लोगों के देश-भाई नहीं। ये लोग उनकी चर्चा, आम दिलचस्पी, कौतुक और अचरज का विषय अवश्य बनेंगे — प्रशंसात्मक चर्चा का विषय नहीं। और हम फिर कहते हैं : यह इसलिए होता है कि विदेशी रूपों को अपनाना और अपने तत्व को तजना दोनों एक ही वस्तु नहीं हैं। किसी रूसी को सहज ही उस देश का निवासी समझा जा सकता है जिसमें वह अस्थायी रूप से रहता है! कारण कि बाजार में, सराय में, नृत्य-समारोहों अथवा गाडी में आदमी को उसकी रूप-रेखा से, पहचाना जाता है। किन्तु जीवन की विशिष्ट परिस्थितियों में, नागरिक और पारिवारिक सम्बंधों में, कोई चाहे या न चाहे, राष्ट्रीयता अपने-आप प्रकट हो जाती है। आदमी का साफ पता चल जाता है कि वह क्या है। यह पता चल जाता है कि वह अपने देश की सन्तान और गैर-देश का गोद लिया पुत्र है। इसी कारण इंग्लैंड के बजाय रूस में रहकर किसी रूसी के लिए अंग्रेज की संज्ञा पाना कहीं अधिक आसान है। संभव है कि कुछ व्यक्तियों के मामले में यह अपवाद हो। किन्तु राष्ट्रों के बारे में ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता। इसका सबूत उन स्लाव जातियों में देखा जा सकता है जिनका भाग्य ऐतिहासिक रूप से पश्चिमी योरप के साथ बधा था : बोहेमिया चारों ओर से ट्युटोनिक जाति से घिरा है जर्मनों ने शतियों तक उसे अपने स्वामित्व में रखा, कैथोलिसिज्म के आधार पर उनके साथ उसका विकास हुआ और धार्मिक नवोत्थान में — शब्द और कर्म दोनों में — वह उनसे आगे रहा। किन्तु यह सब होने पर भी चेक लोग आज दिन तक स्लाव हैं। न केवल यह कि वे जर्मन नहीं है, उन्हें पूरी तरह से योरपीय भी नहीं कहा जा सकता। ...

अपने विषय से हम कुछ दूर हट गये हैं, किन्तु इस बेबुनियाद धारणा का खण्डन करना आवश्यक था कि साहित्य में रूसी राष्ट्रीयता केवल उन कृतियों में मिल सकती है जिनकी विषय-वस्तु निम्न तथा अशिक्षित श्रेणी के लोगों के जीवन से सम्बंधित हो। इस विचित्र धारणा के अनुसार वह सब जो रूस में श्रेष्ठ और सुसंस्कृत है, गैर-रूसी बता दिया जाता है। हाथ की बनी बक्कल की चप्पल मार्का यह धारणा दहकानों और किसान स्त्रियों को चित्रित करने-

वाले एक अनगढ़ प्रहसन को तो राष्ट्रीय कृति करार देती है, किन्तु **सुख का अन्त दुख** को — रूसी होने पर भी — राष्ट्रीयता की पांति से अलग रखती है। इसी प्रकार **सौदागर की महफिल** कोटि का एक चटकीला उपन्यास — एक भद्दी रचना होने पर भी — रूसी राष्ट्रीयता के सिंहासन पर जा बैठता है, जब कि **युग नायक** एक उत्कृष्ट तथा रूसी कृति होने पर भी राष्ट्रीय नहीं है ! नहीं, हजार बार नहीं ! समय आ गया है कि अपनी सहज बुद्धि की समूची शक्ति और दुर्निवार तर्क के बल पर हम इस धारणा के विरुद्ध अस्त्र-सज्जित हों। एक समय था जब हमारे साहित्य में अंध-क्लासिकल धारा का दौर-दौरा था। यह धारा साहित्य में केवल उच्चतम स्तर के लोगों तथा शिक्षित पात्रों को ही स्वीकार करती थी, और यदि कभी किसी कविता, नाटक अथवा लोक-गीत में जन साधारण को स्थान देनी भी थी तो झाड़-पोंछकर, बना-सवारकर, और ऐसे शब्द उनके मुंह से बोलवाकर जो उनके नहीं होते थे। वह समय विदा हो गया है। अंध-क्लासिकल धारा के वे अनुपम दिन हमसे बहुत दूर चले गये हैं। किन्तु अब समय आ गया है कि अंध-रोमांटिक धारा को भी अपने से दूर, अतीत के उसी गर्भ में ढकेल दें जो **राष्ट्रीयता** शब्द को पकड़ कर — और कविताओं तथा नाटकों में न केवल निम्न स्तर के ईमानदार लोगों को ही बल्कि लुच्चों और चोरों को भी चित्रित करने की छूट देकर — कल्पना करती है कि सच्ची राष्ट्रीयता केवल घर की कती-बुनी पोशाक और धुयें से काली पड़ी झोंपड़ी में छिपी है, कि खुली मारपीट में चूल से बेमूल हुई प्यादे की टूटी नाक सच्चा शेक्सपीरियन स्पर्श है ! प्रमुख रूप में यह कि शिक्षित लोगों में राष्ट्रीयता जैसी कोई चीज नहीं मिल सकती। नहीं, उल्टे अब समय आ गया है कि लोग समझें कि कोई रूसी कवि केवल तभी अपने-आपको सच्चा राष्ट्रीय कवि कह सकता है जब वह अपनी कृतियों में शिक्षित समाज के जीवन को चित्रित करे। कारण, मूलतः गैर-रूपों के नीचे अध-दबे जीवन में राष्ट्रीय तत्वों को खोज निकालने का काम केवल वही कवि कर सकता है जो प्रतिभा का धनी है और हृदय से राष्ट्रीय है। "सच्ची राष्ट्रीयता," गोगोल का कहना है, "सराफान के वर्णन में नहीं, बल्कि ठीक लोगों की आत्मा में निवास करती है। सर्वथा गैर-दुनिया का चित्रण करने में भी कवि राष्ट्रीय हो सकता है, लेकिन तभी जबकि वह उसे अपने राष्ट्रीय तत्व की आंखों से देखे, समूचे राष्ट्र की आंखों से; जबकि वह इस ढंग से बोले और अनुभव करे कि उसके देशवासियों को लगे — उन्हें विश्वास हो जाये — कि वे खुद उस ढंग से बोल और अनुभव कर रहे हैं।" कवि के लिए राष्ट्र के मानस को उदघाटित करने का अर्थ है समाज के निम्न, मध्य और उच्च स्तरों के जीवन को सच्चे रूप में चित्रित करने की क्षमता का होना। वह, जो केवल अनगढ़ सामान्य जीवन के नगे रंगों को पकड़ने

की क्षमता रखना है और शिक्षित जीवन के अधिक सूक्ष्म तथा पेचीदा रंगों को पकड़ने में समर्थ नहीं, राष्ट्रीय कवि की गौरवमय उपाधि के लिए दावा करने का और भी कम अधिकारी होता है। महान राष्ट्रीय कवि, कुलीन और किसान, दोनों से, उनकी अपनी भाषा बोलवाने में सक्षम होता है। और अगर कोई कृति, जिसकी विषय-वस्तु शिक्षित समाज से ली गई है, राष्ट्रीय कृति कहलाने की अधिकारिणी नहीं होती, तो प्रत्यक्षतः एक कलाकृत्ति के रूप में भी वह बेकार होती है। कारण, वास्तविकता की जिस आत्मा की कसौटी पर चित्रित करने का वह दावा करती है, वह सच्ची नही उतरती। यही कारण है कि **सुख का अन्त दुख**, **मृत आत्माएं** और साथ ही **युग-नेता** जैसी कृतिया जिस प्रकार तत्वतः राष्ट्रीय हैं, उसी प्रकार उत्कृष्ट काव्यात्मक रचनाएं भी हैं।

पुश्किन की **यूजीन ओनेगिन** इस तरह की पहली कलात्मक-राष्ट्रीय कृति थी : रूस के अत्यन्त योरपीकृत सामाजिक स्तर के नैतिक पहलू को पेश करने का युवक कवि का निश्चय इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि वह राष्ट्रीय कवि था और अपने रोम-रोम में इसका अनुभव करता था। उसने समझा— महाकाव्य लिखने के दिन अब नही रहे; एक मुद्दत हुई उन्हें बीते हुए, और आधुनिक समाज का चित्रण करने के लिए, जिसमें जीवन के गद्य ने जीवन की कविता पर इतने जोरों से धावा किया है, रोमान्स की जरूरत है, महाकाव्य की नहीं। उसने इस जीवन को उसी रूप मे लिया जिसमें वह उसे मिला। उसने केवल उसके काव्यात्मक क्षणों को ही अपने लिए नही छांटा, बल्कि समग्र रूप में उसे ग्रहण किया, उसके समूचे काठिन्य को, उसके गद्य और तुच्छता को। यह साहसपूर्ण अनुष्ठान कम आश्चर्यजनक होता, यदि इस रोमान्स को गद्य में लिखने की कल्पना की गयी होती। किन्तु इस तरह के रोमान्स को पद्य में लिखना —सो भी उस समय जबकि गद्य में भी रूसी भाषा में रोमान्स कही जाने लायक कोई चीज नही थी—एक अत्यन्त साहसपूर्ण कार्य था, जो उसकी भारी सफलता से सिद्ध है और कवि की प्रतिभा का अकाट्य प्रमाण है। यह सच है कि रूसी भाषा में एक रचना थी—अपने समय की एक शानदार रचना! कहानी की कोटि की एक पद्यमय कृति। हमारा आशय दमित्रीयेव कृत **आधुनिक पत्नी** से है। किन्तु **ओनेगिन** से उसकी कोई समानता नही। उसे किसी फ्रेंच रचना का अनुवाद या रूपान्तर भी उतना ही समझा जा सकता है जितना कि रूसी कृति। यदि कोई ऐसी चीज है भी जो पुश्किन की कृतियों और दमित्रीयेव की बढ़िया कहानी में समान है तो वह—जैसा कि हम अपने पिछले लेख में कह चुके हैं—**काउंट नूलिन** का चरित्र है। लेकिन इसमें भी यह समानता दोनों कृतियों के काव्यात्मक गुणों में नही मिलेगी। **ओनेगिन** जैसे रोमान्स के रूप की रचना बायरन ने की थी। और कुछ नहीं तो उसकी

वर्णन-शैली, वास्तविकता को चित्रित करने में गद्य और पद्य का मिश्रण, विषयान्तरण, कवि का स्वगत भाषण, और विशेषकर, कवि का अपनी कृति में इतने प्रत्यक्ष रूप में प्रकट होना — यह सब बायरन की देन है। निस्संदेह अपनी सामग्री के लिए किसी अन्य के नये रूप को अपनाना और उसका स्वयं आविष्कार करना, दोनों एक कोटि की चीज नहीं। फिर भी, पुश्किन के **ओनेगिन** की बायरन के **डौन जुआन**, **चाइल्ड हैरोल्ड** और **बेप्पो** से तुलना करने पर केवल रूप और शैली में समानता मिलती है। न केवल बायरन की कविताओं की विषय-वस्तु वरन् उनकी भावना भी इन कविताओं और पुश्किन के **ओनेगिन** में अन्य किसी समानता की सम्भावना नहीं छोड़ती। बायरन ने योरप के बारे में और योरप के लिए लिखा। उसकी वह आत्मगत भावना — अत्यंत गहरी और सशक्त; उसका वह व्यक्तित्व — भीमाकार, गर्वीला और अडिग; उसका लक्ष्य — समसामयिक मानव-जाति को चित्रित करना, उतना नहीं था जितना उसके भूत और वर्तमान इतिहास पर अपना अभिमत प्रकट करना। हम फिर कहते हैं : समानता की परछाईं तक नहीं है। पुश्किन ने रूस के बारे में और रूस के लिए लिखा। उनकी महान तथा मौलिक प्रतिभा का चिन्ह इस बात में है कि वह अपनी प्रवृत्ति के प्रति सच्चे रहे। यह प्रवृत्ति बायरन की प्रवृति की एकदम विरोधी थी। वह अपनी कलात्मक चेतना के प्रति सच्चे रहे। और यह चेतना रूसी रोमान्स की रचना करते समय, दूर के नाते से भी, किसी भी बायरनी तत्व के अनुकरण के मोह में नहीं पड़ सकती थी। यदि पुश्किन अनुकरण करते, तो लोगों की भीड़ उन्हें आसमान में उछालती। नकली बायरन बनने के अपने करतब के पुरस्कार स्वरूप वह भारी ख्याति प्राप्त करते, — भले ही यह ख्याति अस्थायी होती! किन्तु हम फिर कहते हैं : पुश्किन इतने महान कवि थे कि इस तरह चोला-बदलने की बात वह सोच ही नहीं सकते थे। साधारण प्रतिभाएं ही इस तरह के प्रबल मोहजाल में फंसा करती हैं। बायरन बनने में उन्हें कोई दिलचस्पी नहीं थी। उन्हें दिलचस्पी थी अपने प्रति और अपनी वास्तविकता के प्रति न्याय करने में। उन्हें दिलचस्पी थी उस वास्तविकता के प्रति न्याय करने में जिसे पहले किसी ने नहीं छुआ था और जो केवल उनकी लेखनी द्वारा प्रकाशित हुई। यही कारण है कि उनकी रचना **ओनेगिन** अत्यंत मौलिक तथा राष्ट्रीय रूसी कृति है। अपने एक अन्य महान सामयिक, ग्रिबोइयेदोव, की कृति **सुख का अन्त दुख** के साथ पुश्किन के इस काव्यात्मक रोमान्स ने नयी रूसी कविता की, एक नये रूसी साहित्य की, स्थायी बुनियाद डाली।*

---

* तिफलिस में अपने प्रवास-काल में, १८२३ से पहले ग्रिबोइयेदोव ने **सुख का अन्त दुख** की रचना की थी। इसका पहला अंश १८२५ में '**तालिया**' पत्र

पुश्किन की कृति **ओनेगिन** से ग्रिबोइयेदोव की कृति **सुख का अन्त दुख**, व्यापकतम अर्थ में, रूसी वास्तविकता के काव्यात्मक अंकन का नमूना थी।...

इस रूप में इन दोनों कृतियों ने आगे आने वाले साहित्य की नींव रखी, उस धारा का निर्माण किया जिसमें से लर्मन्तोव और गोगोल का उदय हुआ। **ओनेगिन** के बिना **यग नायक** की कल्पना नहीं की जा सकती, ठीक वैसे ही जैसे **ओनेगिन** और **सुख का अन्त दुख** न होते तो गोगोल उतनी गहराई तथा सचाई से रूसी वास्तविकता को आंकने को अपने को तैयार न कर पाते, जितनी गहराई और सचाई से उन्होंने किया। जिस झूठे मुलम्मे के साथ **ओनेगिन** तथा **सुख का अन्त दुख** से पहले रूसी वास्तविकता को पेश किया जाता था, उसका रूसी साहित्य से अभी भी लोप नहीं हुआ है। विश्वास न हो तो उन नये नाटकों को देखिए जो दोनों राजधानियों की रूसी नाट्यशालाओं में प्रदर्शित किये जाते हैं। वे विकृत फ्रांसीसी जीवन के चित्र हैं जिन्हें रूसी नामों के लेबिल लगाकर पेश किया जा रहा है। गोगोल ने रूसी कथा साहित्य पर प्रबल प्रभाव डाला है। किन्तु **सुख का अन्त दुख** की भांति, उसकी कृतियां न किसी लुकाटी की मोहताज हैं, न वैसाखी की। वे अपने पांवों पर टिकी हैं। प्रकटतः अपने देशी माहौल को, उन चीजों को, जो निरन्तर हमारी आंखों के सामने रहती हैं—दूर की मुहावनी चीजों के बनिस्वत—सचाई से आंकना कहीं अधिक कठिन होता है। ऐसा इस कारण कि हम सदा रूप को तत्व की भांति और फैशनेबिल वेश-भूषा को योरपीयन्व की भांति, ग्रहण करते रहे हैं। दूसरे शब्दों में यह कि हम साधारणता को ही राष्ट्रीयता समझने की भूल करते रहे हैं। हमारा विश्वास था कि वह आदमी जो साधारण लोगों से सम्बंधित

में छपा। पुश्किन के **ओनेगिन** का पहला खंड भी १८२५ में प्रकाशित हुआ था। ग्रिबोइयेदोव के **सुख का अन्त दुख** को बेलिन्स्की ने रूसी साहित्य का सर्वोन्नत शिखर कहा है—ऐसी ऊंचाई जिस तक पहुंचने का कोई साहस नहीं कर सका, एक अभूतपूर्व घटना। पुस्तक रूप में प्रकाशित होने से दस वर्ष पहले ही समूचे साक्षर जगत ने इसे कंठस्थ कर लिया था—हस्तलिखित प्रतियों के रूप में समूचे रूस में यह प्रचारित हो चुकी थी। इतना ही नहीं, इस रचना ने लोगों के आये दिन के जीवन में, उनकी बोलचाल में, प्रवेश कर लिया था। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यह कृति एक आकस्मिक चमत्कार के रूप में नहीं, वरन परम्परा की एक कड़ी के रूप में प्रकट होती है, तथा आगे के साहित्य के लिए नींव के पत्थर का काम देती है, रूसी साहित्य के पूर्वापर सम्बंधित ऐतिहासिक विकास को उभारने वाली रचना।—अनु०

नहीं है, अर्थात् जो वोदका की जगह शैम्पेन का पान करता है, घर के कते-बुने काफ्तान की जगह फ्रॉक-कोट पहनता है, उसे फ्रेंच के रूप में चित्रित किया जाना चाहिए, या फिर स्पैनी अथवा अंग्रेज के रूप में। हमारे साहित्यकारों में से कुछ — वे, जो न्यूनाधिक रूप में यथार्थ चित्र खींचने की क्षमता रखते हैं — अपने पात्रों के चेहरों को असली प्रकाश में नहीं देख पाते। ऐसी हालत में, आश्चर्य नहीं, यदि उनके छवि-चित्रों में और उन मूल आधारों में, जिनकी वे अनुकृति हैं, कोई समानता न नजर आये। और उनके उपन्यासों, कहानियों और नाटकों को पढ़ते समय बरबस कहना पड़ता है :

किनकी छवि रच रही तूलिका सुन्दर उनकी ?
शब्द कौन ये — ध्वनि अप्रिय है इतनी जिनकी ?
यदि अपनी कहने पर ही वे आए हुए हैं ...
तो हम, लो, उठकर जाने को खड़े हुए हैं !

इस कोटि की प्रतिभाएं क्षीण-मस्तिष्क होती हैं। कल्पना से वे बुद्धि और समझ के अभाव की पूर्ति करती हैं। वे नहीं समझ पातीं कि प्रत्येक राष्ट्र की राष्ट्रीयता का रहस्य उसकी पोशाक और चूल्हे-चक्की में नहीं, बल्कि — जैसा कहते हैं — चीजों को देखने के उसके ढंग में है। किसी भी समाज का यथार्थ चित्र अंकित करने के लिए सर्व-प्रथम उसके तत्व को, उसके निजत्व को, पकड़ना आवश्यक है। और ऐसा करने का और कोई तरीका नहीं है — सिवा इसके कि जिन नियमों पर समाज टिका है, समग्र और सार रूप में, उनकी वास्तविक जानकारी प्राप्त की जाय, उनका दार्शनिक मूल्य आंका जाय। हर राष्ट्र के दो दर्शन होते हैं — एक पण्डिताऊ, किताबी, गम्भीर, अवकाशी दर्शन; दूसरा, काम के दिन का, घर-बार का, आचार-व्यवहार का दर्शन। ये दोनों दर्शन, न्यूनाधिक रूप में, बहुधा एक-दूसरे से घनिष्ट सम्बंध रखते हैं। जो कोई सोसायटी का चित्र खींचना चाहता है, उसके लिए इन दोनों से परिचित होना आवश्यक है — बाद वाले कामकाजी दर्शन से तो और भी अच्छी तरह से। इसी प्रकार, जो राष्ट्र को जानना चाहता है, उसके लिए जरूरी है कि वह उसका अध्ययन करे — सर्व प्रथम उसके पारिवारिक तथा घरेलू जीवन का। हो सकता है कि आप 'आवोस' और 'जिहवेत' जैसे शब्दों को कोई महत्व न देना चाहें। लेकिन फिर भी इन शब्दों का भारी महत्व है। और जब तक कि इन शब्दों के महत्व को आप नहीं पकड़ते तब तक, उपन्यासों का लिखना तो दूर, आपके लिए उनको समझना भी कभी-कभी असम्भव हो सकता है। काम के दिन के दर्शन की जानकारी ने ही **ओनेगिन** और **सुख का अन्त दुख** को मौलिक तथा पूर्णतया रूसी राष्ट्रीय रचना बनाया है ...।

परिवर्तन

पीतर महान ने विदेशों में अद्भुत चीजों को देखा, देखकर चकित रह गया। उसने निश्चय किया अपने देश की धरती में उन्हें रोपने का। उसने यह तक सोचने से इन्कार कर दिया कि उसके देश की धरती अभी इतनी कड़ी है कि ये पौधे पनप नहीं सकते, कि रूसी पाला और ठंड सहना उनके बूते की बात नहीं। लेकिन इससे क्या? उसने युगों पुरानी सभ्यता के फल देखे और एक बागी अपनी प्रजा के लिए उन्हें अपनी बांहों में समेटना चाहा। विचार कौंधा, शब्द प्रकट हुए, अमल में उतरे। रूसी इन्तजार करना नहीं जानते। सो उत्तिष्ठ-नव्यं ... हुक्म जार का, माग बोयार की, मार्का जर्मन का ... ! विदा, चेहरे की बाग-बाड़ी, श्रद्धा की पुंज दाढ़ी, विदा ! और अलकों, शुभ्र तथा सीधी-सादी अलकों, युगों तक सम्मान-प्राप्त, दाढ़ी के साथ जो इतनी अच्छी लगती थीं, तुम भी विदा ! तुम भी विदा ! ओह, भारी-भरकम विगों ! पाउडर-सिंचित बालों की टोलियों ने — तुम्हें बेदखल कर दिया। घुटने तक लटके बोयारों के लबादों, सोने-चांदी के काम और कसीदे से झिलमिलाते चोगो, तुम भी विदा ! काफ्तान, जाकेट, बिर्जिस व हेसियन के बूटों ने तुम पर भी धावा बोल दिया। और तुम ? हमारी बोयार ललनाओं की शोभा, ललित व काव्यात्मक सराफान ! और तुम ! चौड़ी और ढीली-ढाली आस्तीनों से लैस मसलिन की शमीजो ! तुम ! मोतियों जड़ी ऊंची टोपियो — सहज-सरल और मुग्धकारी साज-सज्जा, जो हमारी सुन्दरियों के उत्तुंग वक्ष, उजले गोरे-चिट्टे रंग और नीली आंखों के साथ इतनी सुहावनी लगती थी, तुम भी विदा ! हुपदार पेटीकोटो और लटकते अटपटे कोरों ने तुम्हें निकाल बाहर किया। पेंट और पाउडर ! जरा एक ओर हट जाओ ! सुन्दर काले तिल के लिए जगह छोड़ दो ! और तुम उदासी में डूबे रूसी गीतो और तुम शुभ्र और कमनीय लोक नृत्यो ! तुम भी विदा ! हमारी सौन्दर्य-प्रतिमाएं सोन-चिरैया की भांति न तो अब चिहुंक सकेंगी, न बुलबुल की भांति निर्बाध वायुमंडल को गुंजा सकेंगी ! न ही वे राजसी ठाठ-से हवा में तैर सकेंगी। नहीं, एरियाज और रोमांज मिनुएट नृत्य की चित्रमय

मुद्राओं और वाल्ट्ज नृत्य की चकरघिन्नियों ने जोर पकड़ा, प्रेम-गीतों के स्वर ऊंचे हुए :

आओ प्रभु ! मेरे शयनकक्ष में...

और हर चीज जैसे बगूला बनकर चक्कर काटने लगी, आंधी के झोंकों के साथ बह चली। ऐसा मालूम होता था जैसे रूस तीस वर्षों के भीतर शतियों की जड़ता को दूर करने के लिए उतावला हो उठा है ... रूस की कुंवारी धरती में नहरें और सड़कें निकाली गयीं, हथौड़ियों और करघों की ध्वनि से आकाश गूंज उठा ! उद्योग-धंधे चेत उठे !

हां, बहुत कुछ प्राप्त किया गया जो महान था, उपयोगी और शानदार था। पीतर ठीक था, वह रुक नहीं सकता था। वह जानता था कि उसे दो बार नहीं जीना है। सो, उसने जीना शुरू किया। और उसके लिए जीने का अर्थ था सृजन करना। लेकिन लोग दूसरे ही सोच में थे। वे युगों से लम्बी ताने थे। अचानक एक शक्तिशाली हाथ ने उन्हें झिझोड़ा, नींद से बोझिल आंखें कठिनाई से खुलीं और यह देखकर स्तब्ध रह गयीं कि विदेशी प्रथाओं ने उसके घर में धावा बोल दिया है : बे-बुलाये मेहमानों की भांति, बिना अपने जूतों को उतारे, बिना देव-प्रतिमाओं के आगे माथा झुकाये या घर के मालिक से दुआ-सलाम किये ! उनकी दाढ़ी को, जो उन्हें जान से भी ज्यादा प्यारी थी, उन्होंने दबोचा और उखाड़कर दूर फेंक दिया, उनके ठाठदार लबादे को नोच डाला और गुड्डे-जैसे कपड़ों में उन्हें कस दिया। उनकी निष्कलंक भाषा को उन्होंने घसीटा और उसे तोड़-मरोड़ डाला। बाप-दादाओं से चले आये पवित्र रीति-रिवाजों को कड़ी उद्धतता के साथ उन्होंने रौंद डाला। चिरपोषित विश्वासों और अति-प्रिय प्रथाओं को लांछित किया ... रूसी ने देखा और सन्न रह गया। जेबों में हाथ खोंसकर चलने का वह आदी नहीं था। यह बड़ा अटपटा और तकलीफ-देह मालूम होता। किसी स्त्री का हाथ चूमने आगे बढ़ता तो लड़खड़ा जाता, नफा-सत का परिचय देने के प्रयास में धरती चूमने लगता। योरपीयता के रूपों को उसने उधार लिया, और उनकी एक हास्यास्पद अनुकृति बनकर रह गया .

इस सबका नतीजा क्या हुआ ? जनता का बहुलांश, जहां था, वहीं अड़ा रहा — जरा भी नहीं डिगा। लेकिन सोसायटी — कुलीनों का समाज — अपनी लीक बनाता उस पथ पर बढ़ चला जिस पर कि महान विभूति के सशक्त हाथ ने उसे डाल दिया था। किस तरह की सोसायटी थी वह ? अपनी ओर से क्या कहें — **छटकऊ, सुख का अन्त दुख, यूजीन ओनेगिन, राव-उमरावों** का **चुनाव** और लाजेचनिकोव का उपन्यास जब वह प्रकाशित हो, पढ़कर देखिए और आप हमसे भी ज्यादा जान जायेंगे ...

सो जाति, बल्कि कहिए कि अधिकांश जन समूह, और सोसायटी, दोनों विलग हो गये, जुदा राह पर चले। अधिकांश जन-समूह जीवन के अपने आदिम, और अर्द्ध-बर्बर ढंग को अपने गले से प्रेम से चिपकाये रहा, उन उदास गीतों में डूबा रहा जिनमें कि अपने हृदय का दुःख और सुख उंडेलता था। और सोसायटी में — कुलीनों के समाज में — स्पष्ट ही एक परिवर्तन आ गया सुधार चाहे इसे न भी कहें, वह कुछ का कुछ बन गया : वह हर उस चीज को भूल गया जो रूसी थी, वह रूसी में बात तक करना भूल गया। अपने देश के काव्य और गाथाओं को, गहरी उदासी, मीठी कसक और तूफानी-उल्लास से भरे गीतों को, भूल गया! और एक ऐसे साहित्य की उसने अपने लिए रचना की जो उसका सच्चा आईना था।

जो हो, हमारे साहित्य का हमारे लिए उससे कहीं अधिक महत्व है जितना कि प्रत्यक्ष प्रकट होता है। उसमें — और एक मात्र उसमें ही — हमारे जीवन की समूची कला निवास करती है। केवल साहित्य का क्षेत्र ही एक ऐसा क्षेत्र है जहां हम पीतर और जॉन न रह कर इन्सान के रूप में अन्य इन्सानों के साथ व्यवहार करते हैं और उनके संसर्ग-संस्पर्श में आते हैं।

अलगाव की भावना हमारे समाज में छाई है। हमारे समाज की प्रत्येक श्रेणी की अपनी एक अलग विशेषता है : उसकी पोशाक और उसका उठना-बैठना उसके जीवन का ढंग और रीति-नीति, यहां तक कि उसकी भाषा की भी अपनी अलग खिचड़ी पकती है। विश्वास न हो तो किसी ऐसी संगत में पहुंच जाइए जहां, संयोगवश, एकाध सरकारी अफसर, फौजी आदमी, जमींदार, दुकानदार, नगर-पिता, बैरिस्टर, पादरी, छात्र, सिद्धान्त-शिरोमणि, प्रोफेसर और कलाकार आ जुटे हों। तब, ऐसा मालूम होगा, जैसे भिन्न भाषाओं और बोलियों के अजायबघर में आप पहुंच गये हों। एक ही समाज के विभिन्न स्तरों के ये प्रतिनिधि एक-दूसरे से बहुत अधिक भिन्न हैं। भिन्नता की यह भावना हम में इतनी प्रबल है कि समाज के उन नये स्तरों ने भी, जिन्हें पीतर महान के नये सुधारों ने जन्म दिया था, अपना एक अलग तिलक-छापा और हुक्का-पानी रखने में देर नहीं की। सो क्या आश्चर्य अगर हमारे यहां ऐसे कुलीन मिल जायें जो सौदागर से कतई मेल नहीं खाते, या ऐसे सौदागर नजर आयें जो कुलीनों से मेल न खायें। करीब-करीब ऐसी ही पृथकता वैज्ञानिक और कलाकार को अलग किये है। अभी भी ऐसे वैज्ञानिक हमारे यहां मौजूद हैं जो मानो कला को, और उसके उद्देश्य को, न समझने की सौगन्ध खाये हैं, और अपनी इस पवित्र सौगन्ध का जिन्दगी भर सचाई के साथ पालन करते हैं। ऐसे कलाकारों की कमी नहीं है जो भूल कर भी यह नहीं समझ पाते कि विज्ञान, साहित्य और जीवन के बीच सप्राण सम्बंध हो सकता है!...

पुरातन और नवीन

पीतर महान के सुधारों ने उन दीवारों को, जो पुराने समाज में एक श्रेणी को दूसरी से अलग करती थीं, तोड़ा या गिराया तो नहीं, लेकिन उन दीवारों की नीवों को झंझोड़ जरूर दिया। वे गिरी तो नहीं, लेकिन उनकी जड़ें ढीली हो चलीं, और अब वे दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक लड़खड़ा रही हैं और अपने ही मलबे तथा धूल के नीचे दफन हो रही हैं। उनकी मरम्मत की जा सकती है, लेकिन मरम्मत से उनका बोझ ही बढ़ेगा, और चूंकि उनकी नीवें निःसत्व हो चुकी हैं, इसलिए उनके गिरने की अनिवार्य गति को तेज करने में ही योग देगी। और आज इन दीवारों से विभाजित श्रेणियां यदि इन दीवारों को उस तरह नहीं पार कर पातीं जैसे कि एक समतल सड़क को करती, तो भी कम से कम वे उन स्थलों को तो आसानी से लांघ ही सकती हैं, जो जीर्ण-शीर्ण और खस्ता-हाल होने के कारण सबसे ज्यादा कमजोर हैं। पहले यह धीमी गति से और अलक्षित ढंग से होता था। लेकिन अब यह अधिक तेज गति से, ठीक आंखों के सामने हो रहा है। और, वह दिन दूर नहीं जब यह प्रबल वेग से और सम्पूर्णता के साथ होगा। इन दीवारों को भेद कर रेल की सुरंगे निकलेंगी, उद्योग और व्यापार का विकास सभी वर्गों और श्रेणियों के हितों को एक-दूसरे के साथ गूंथ देगा और इतने घनिष्ट तथा प्राणवान अन्तर्व्यवहार के लिए उन्हें बाध्य करेगा कि अलगाव के सारे ऊपरी चिन्ह बरबस साफ हो जायेंगे।

लेकिन समाज के स्तरों के एक-दूसरे के निकट पहुंचने की यह शुरूआत, जो कि वस्तुतः समाज की प्राथमिक अवस्था को—उसके पहले अंकुरों को—सूचित करती है, एकमात्र हमारे युग की ही चीज नहीं है, बल्कि वह हमारे साहित्य की शुरूआत के साथ घुली-मिली है।...

समाज की शिक्षा-दीक्षा की—उसके संस्कार की—प्रगति की बात सोचते ही हमारे साहित्य की प्रगति का चित्र हमारी आंखों के सामने मूर्त हो उठता है। कारण, हमारे साहित्य ने हमारे विचारों को, हमारी रीति-नीति को, सीधे प्रभावित किया है, और हमारी शिक्षा-दीक्षा इसी प्रभाव का नतीजा है।

हमारे साहित्य ने हमारे समाज की नैतिकता का निर्माण किया है, चरित्र में एक-दूसरे से अत्यन्त भिन्न अनेक पीढ़ियों को शिक्षित किया है, विभिन्न स्तरों-श्रेणियों के बीच आन्तरिक ऐक्य के लिए जमीन तैयार की है, जनता के विभिन्न मतों को ढाला है और समाज में एक खास श्रेणी की — एक खास वर्ग की — रचना की है। यह खास वर्ग मध्यम वर्ग से भिन्न है — इस अर्थ में कि यह केवल सौदागरों तथा शहरी लोगों का नहीं, बल्कि उन सभी कोटि के लोगों का वर्ग है, जो शिक्षा के द्वारा एक-दूसरे के निकट खिंच आये हैं — ऐसी शिक्षा के द्वारा, जो एकमात्र साहित्य-प्रेम में केन्द्रित थी।

समाज पर हमारे साहित्य के प्रभाव को समझने-सराहने के लिए साहित्य के विभिन्न युगों के प्रतिनिधियों पर एक नजर डालने, उनसे बातचीत करने या खुद उन्हें आपस में बातचीत करते देखने की जरूरत है। हमारा साहित्य अभी इतना कम-उम्र है, उसकी उत्पत्ति इतने हाल की है, कि उसके सभी प्रतिनिधियों को आज के समाज में देखा जा सकता है। नियमित छन्द में लिखी हुई पहली प्रशंसनीय रूसी कविता, लोमोनोसोव कृत **खोतिन विजय विरुदावली,** १७३९ में — ठीक १०७ वर्ष पहले — प्रकाशित हुई थी। और १७६५ में लोमोनोसोव का निधन हुआ — कोई अस्सी वर्ष पहले। ऐसे लोग निश्चय ही अब नहीं रहे, जिन्होंने छुटपन तक में लोमोनोसोव को देखा हो, या जिन्होंने उसे देखा हो और उसकी याद भी उन्हें हो; लेकिन ऐसे लोगों की रूस में आज भी कमी नहीं है जिन्होंने लोमोनोसोव की कृतियों के द्वारा काव्य और साहित्य से प्रेम करना सीखा है और उसे उतना ही बड़ा कवि मानते हैं जितना कि वह अपने समय में माना जाता था। ऐसे लोग भी काफी संख्या में हमारे यहां मौजूद हैं जिनके हृदयों में देरज्हाविन के चेहरे तथा गले की आज भी सजीव याद मौजूद है और जो उसकी भरपूर ख्याति के युग को अपने जीवन का श्रेष्ठतम काल घोषित करते हैं। बड़े-बूढ़ों में ऐसे लोग भी आपको मिल जायेंगे जो सच्चे हृदय से, खेरास्कोव की कविताओं को चरमोत्कृष्ट समझते हैं, और उस दिन को अभी कुछ इतना अरसा नहीं हुआ जब आदरणीय कवि दमित्रीयेव ने **रोस्सियादा** और **व्लादिमीर** के रचयिता की प्रतिभा के प्रति नयी पीढ़ी की अवहेलना से सिंचित आलोचना छपवाई। ऐसे बड़े-बूढ़ों की भी हमारे यहां कमी नहीं है जिनका रोम-रोम सुमारोकोव की ट्रेजेडियों की याद कर सिहर उठता है और जो, बहसा-बहसी में, **दमित्री—गद्दी का दावेदार** के श्रेष्ठतम अंशों को सुनाने को कमर कसे रहते हैं। फिर, ऐसे लोग भी हमारे यहां मिल जायेंगे जो, यह मानने के साथ-साथ कि सुमारोकोव की भाषा वास्तव में पुरानी पड़ गयी है, खास सम्मान की भावना के साथ, नाटकीय संवेदन तथा भाषा की शुद्धता के आदर्श के रूप में, क्याभ्निन की ट्रेजेडियों तथा प्रहसनों की मिसाल पेश करेंगे। और

ऐसे लोग तो और भी बहुलता से मिलेंगे जो सुमारोकोव या क्याभनिन के बारे में तो चुप्पी साध जायेंगे, लेकिन अधिक गर्मजोशी तथा विश्वास के साथ ओजेरोव का बखान करेंगे। रहा करमजिन, सो उसका क्या कहना। बड़े-बूढ़ों तथा वयस्कों — दोनों पीढ़ियों के रंगो-रेशे में वह समाया है, उनकी आत्मा में वह रमा है। उसी के सहारे वे अनुभव करते, सोचते और जीते हैं,— बावजूद इसके कि उन्होंने न केवल ज्हुकोव्स्की, बात्युश्कोव, पुश्किन, ग्रिबोइयेदोव, गोगोल और लर्मन्तोव को पढ़ा है, बल्कि कम-व-बेश उन्हें सराहा भी है ..! ऐसे लोग भी आज मिल जायेंगे जो पुश्किन का जिक्र छिड़ने पर, व्यंगमय अन्दाज से मुस्कराते हैं और श्रद्धा तथा मुग्ध प्रशंसा के साथ ज्हुकोव्स्की का नाम लेते हैं, मानो ज्हुकोव्स्की के प्रति सम्मान प्रकट करना पुश्किन के प्रति सम्मान प्रकट करने से मेल न खाता हो! और ऐसे लोगों की भी कुछ कमी नहीं है जो गोगोल को नहीं समझ पाते और उसके प्रति अपने इस पूर्वग्रह के समर्थन में इस तथ्य की दोहाई देने में नहीं चूकते कि पुश्किन को वे समझते हैं! लेकिन, यह न समझें कि ये सब निरे साहित्यिक तथ्य हैं। नहीं, हमारे साहित्य के विभिन्न युगों और हमारे समाज के विभिन्न युगों के इन प्रतिनिधियों की ओर अगर आप जरा ध्यान से देखें तो आपसे यह छिपा न रहेगा कि उनकी साहित्यिक और भौतिक मान्यताओं तथा विश्वासों में एक मूलभूत सम्बंध मौजूद है। जहां तक उनकी साहित्यिक शिक्षा-दीक्षा का सम्बध है, ऐसा मालूम होता है जैसे इन लोगों के बीच सदियों का अन्तर है। यह इसलिए कि हमारे साहित्य ने, मुश्किल से सौ-एक वर्षों के भीतर ही, अनेक सदियों की खाई को पाटा और पार किया है। और यही कारण है जो अतिशयोक्तिपूर्ण विरुदावली के बोझिल बोलों और भारी-भरकम महाकाव्यों की सराहना करने वाले समाज और लीजा की बावड़ी पर आंसू बहानेवाले समाज में, लुदमिला और स्वेतलाना को एक ही सांस में पढ़ जाने, बारह निद्रामग्न सुन्दरियों की अकल्पित भीषणताओं से रोमांचित होने या एयोलिन हार्प की रहस्यमय झंकारों की रोमांटिक अलसता में डूबने वाले और यूजीन ओनेगिन के सामने बख्शीसराय का फौवारा तथा काकेशस के कैदी को, सुख का अन्त दुख के सामने फोनविजिन के प्रहसनों और बोरिस गोदुनोव के सामने ओजेरोव के दमित्री दोन्स्कोय को (ठीक वैसे ही जैसे कि पहले दमित्री दोन्स्कोय के सामने सुमारोकोव के दमित्री—गद्दी का दावेदार के साथ हो चुका था) भूल जानेवाले समाज में, और आगे चलकर पुश्किन तथा लर्मन्तोव के सामने पहले के सारे कवियों के प्रति ठंडा पड़ जाने और गोगोल के सामने उपन्यास तथा रोमांस के उन सभी लेखकों को, जिन पर कि अभी हाल तक वे इतना मुग्ध थे, भूल जानेवाले समाज में इतना भारी अन्तर है...। जरा कल्पना तो कीजिए, १८२६ में प्रकाशित ईवान विज्हिगिन और १८४२ में प्रकाशित

गोगोल-कृत मृत आत्माएं के बीच कितना बड़ा — अनुल्लंघनीय — अन्तर नजर आता है। समाज की साहित्यिक शिक्षा-दीक्षा के इस अन्तर ने समाज में प्रवेश किया। लोग अलग ढंग से संचरण तथा चिन्तन करनेवाली कोटियों में बंट गये। ऐसी पीढ़ियों का उदय हुआ जिनकी जोशीली बहसें और विवादपूर्ण सम्बंध — जो माली हितों की बजाय सिद्धान्तों से उद्भूत थे — समाज के नवजात और विकसित होते हुए आत्मिक जीवन के अंकुर थे। यह एक महान कृतित्व था जिसे हमारे साहित्य ने सम्पन्न किया! ... ◊◊

बुर्जुआजी और क्रान्ति

लुई ब्लांक की पुस्तक मैंने पढ़ी। प्रकृति ने इस आदमी को न तो हृदय से वंचिवं किया है और न मस्तिष्क से, लेकिन इसने इन दोनों को अपने निजी उपायों से बढ़ाने की कोशिश की है। नतीजा इसका यह कि महान हृदय और महान मस्तिष्क का धनी तो वह नहीं बन सका, अपने हृदय और मस्तिष्क को उसने गुब्बारा अवश्य बना लिया... एक ओर तो वह बुर्जुआजी को मानव-जाति का दुश्मन दिखाता है: सृष्टि के भी प्रारम्भ से वह मानवजाति के विरुद्ध षड़यंत्र रचती नजर आती है; दूसरी ओर — इसी पुस्तक में — यह सत्य भी उद्घाटित करता है कि अगर बुर्जुआजी न होती तो क्रान्ति, जिस पर वह जी-जान से न्योछावर है, कभी न हो पाती, और यह कि क्रान्ति के लाभों की वह सही वारिस है! बाप रे, क्या मूर्खता है! यह बात न भेजे में समा सकती है, और न हृदय में! एकदम असह्य!

रूप और विषय-वस्तु

अगर कोई हमसे पूछे कि आज के रूसी साहित्य की विशिष्टता क्या है, तो हम जवाब देंगे : जीवन और वास्तविकता के साथ निरन्तर बढ़ता हुआ उसका लगाव, परिपक्व तथा वयस्क स्थिति में पहुंचने की ओर उसका निरन्तर बढ़ता हुआ प्रयास। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह व्याख्या केवल परवर्ती-काल के नये साहित्य पर ही लागू हो सकती है—जो अनुकरणशीलता से उदित हुआ है, मौलिक सूझ-बूझ के फलस्वरूप नहीं। मौलिक साहित्य कई शतियों में परिपक्व होता है, और उसके परिपक्व होने का यह युग, साथ ही साथ, उत्कृष्टतम कृतियों (कलात्मक रचनाओं) में परिमाणात्मक सम्पन्नता का भी युग होता है। रूसी साहित्य के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसका इतिहास, खुद रूस के इतिहास की भांति, अन्य किसी भी साहित्य के इतिहास के साथ मेल नहीं खाता। वह एक सबसे अलग और निराली घटना है, जो अन्य किसी योरपीय साहित्य के चौखटे में कसकर देखने पर अजीब, अनबूझ और बेतुकी दिखाई देगी। हर उस चीज की भांति जो आज के रूस में प्राण-वान, सुन्दर और युक्तियुक्त है, हमारा साहित्य भी पीतर महान के सुधारों की देन है। यह सच है कि पीतर ने साहित्य की ओर कोई ध्यान नहीं दिया और उसके प्रादुर्भाव के लिए कुछ नहीं किया, लेकिन उसने अपना ध्यान शिक्षा पर केन्द्रित किया और रूसी आत्मा की उपजाऊ भूमि में ज्ञान और प्रकाश का बीज रोपा। और साहित्य के अंकुर अपने आप फूट निकले, बिना उसकी जानकारी के; उसकी गतिविधि के एक प्रकृत परिणाम के रूप में। प्रसंग वश, यहां यह और कह दें कि पीतर महान के सुधारों की सप्राणता ठीक इसी तथ्य में निहित थी कि उन्होंने बहुत सी ऐसी चीजों को जन्म दिया जिनके बारे में शायद खुद उसने कभी सोचा या कभी कल्पना तक नहीं की थी। चतुर और प्रतिभाशाली कान्तेमीर, रोमन कवियों (प्रमुख रूप से होरेस) की व्यंग रचनाओं का आधा-अनुकरणकर्ता और आधा रूपान्तरकार,—उन्हें रूसी नैतिकता के बाने में पेश करने वाला; बायल्यू की नकल पर जिसने रोमन व्यंग-रचनाओं का अनुकरण

किया तथा फ्रेंच नैतिकता के अनुसार उनका रूपान्तर किया ! यह कान्तेमीर और उसके वे सिलेबिक वृत्त, उसकी आधी किताबी और आधी जन-प्रिय भाषा, जो ठीक इस खिचड़ी के कारण उस समय के शिक्षित समाज की प्राकृत भाषा थी ! — कान्तेमीर, और उसके बाद त्रेदियाकोवस्की, उसका वह कोरा किताबी ज्ञान, प्रतिभा से शून्य उसकी वह तन्मयता, उसका वह पण्डिताऊपन, रूसी छन्दों को नियमित स्वरीय वृत्तों और प्राचीन षटपदी चरणों में सज्जित करने के उसके बिना पेंदी के प्रयास, उसके बर्बर अनुप्रास और उसका रोलिन का दोहरा बर्बर रूपान्तर ! — कान्तेमीर और त्रेदियाकोवस्की, जैसा कि कहते हैं, रूसी साहित्य के सूत्रधार थे। इनमें से पहले का, कान्तेमीर का, निधन हुए एक सौ दो वर्ष से कुछ ही अधिक काल हुआ होगा (३१ मार्च, १७४४ को उसका निधन हुआ था), जबकि त्रेदियाकोवस्की का निधन हुए केवल ७७ वर्ष ही हुए हैं (६ अगस्त, १७६९ को उसका निधन हुआ था)। त्रेदियाकोवस्की तब अपनी ख्याति के शिखर पर था। अभी ५ वर्ष ही हुए थे जब से कि उसने अपने-आप को "वाग्मी और छन्द कौशल का आचार्य" कहना शुरू किया था। कान्तेमीर, युवा किन्तु रुग्ण था और अपने अन्त के निकट पहुँच रहा था। अठाइस वर्षीय लोमोनोसोव ने — रूसी साहित्य के पीतर महान ने — जब १७३९ में जर्मनी से अपनी प्रसिद्ध रचना खोतिन विजय विरुदावली भेजी थी जिससे कहा जा सकता है, रूसी साहित्य का शुभारम्भ होता है, कान्तेमीर जीवित था : साहित्य की दुनिया में कान्तेमीर के सारे प्रयासों का कोई चिन्ह, और त्रेदियाकोवस्की के सारे प्रयासों का — यहाँ तक कि रूसी काव्यशास्त्र में नियमित वृत्तों का समावेश करने के प्रयासों का भी — कोई चिन्ह बाकी नहीं बचा था। सब निष्फल सिद्ध हो चुके थे ...। नतीजा इसका यह कि नियमित वृत्तों में रूसी भाषा में लिखी गयी पहली पद्य-रचना होने का श्रेय लोमोनोसोव की रचना ने प्राप्त किया, सभी ने उसकी सराहना की। लोमोनोसोव का रूसी साहित्य पर वैसा ही प्रभाव पड़ा जैसा कि, सामान्यतः, रूस पर पीतर महान का प्रभाव पड़ा था। साहित्य, बहुत दिनों तक, उस पथ पर चला जिसका कि लोमोनोसोव ने निर्देश किया था, — और उस समय तक चलता रहा जब तक कि, अन्ततः, उसके प्रभाव से मुक्त होकर उसने एक नया पथ नहीं ग्रहण किया, एक ऐसा पथ जो लोमोनोसोव की कल्पना तथा सूझ-बूझ से परे था।...

गैर, उधार ली हुई, विषय-वस्तु अपनी निजी, जातीय विषय-वस्तु के अभाव की पूर्ति कभी नहीं कर सकती। न जीवन के क्षेत्र में, और न साहित्य के क्षेत्र में। लेकिन, कालान्तर में, उसे उसमें परिवर्तित किया जा सकता है, ठीक वैसे ही जैसे कि मानव-द्वारा पचाई हुई खूराक रक्त और मांस में परिवर्तित हो जाती है, और उसकी शक्ति, स्वास्थ्य और जीवन को कायम रखती है। पीतर

रचित रूस में, और लोमोनोसोव की रचना के साहित्य में, यह कैसे सम्पन्न हुआ, इसके विस्तार में हम यहां नहीं जायेंगे। लेकिन ऐसा हुआ और हो रहा है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य, एक सुस्पष्ट तथा वास्तविक सत्य है। क्रीलोव की गल्पों ग्रिबोइयेदोव के प्रहसनों, पुश्किन और लर्मन्तोव की कृतियों—और खास तौर से गोगोल की कृतियों—की लोमोनोसोव तथा उसके पंथ के लेखकों की कृतियों से जरा तुलना करके देखिए। आपको उनके बीच कोई समानता नहीं मिलेगी, कोई सम्बंध नजर नहीं आयेगा। लगेगा जैसे रूसी साहित्य आकस्मिक घटनाओं का पिटारा है—प्रतिभा और कौशल दोनों ही मामलों में। आकस्मिक का क्या महत्व ? क्या वह एक छलावा, एक सपना नहीं है ? और सच ही, एक समय था जब यह प्रश्न कि हमारे पास साहित्य है या नहीं, जरा भी निराला नहीं ध्वनित होता था, और बहुधा 'नहीं' में उसका निर्णय किया जाता था। अगर रूसी साहित्य को भी उसी चौखटे में कसकर परखा जाये जो कि योरपीय साहित्य के इतिहास को परखने में ही काम दे सकता है, तो इस तरह का निर्णय प्रकृत तथा अनिवार्य है। सो यह हमारे युग की एक महानतम बौद्धिक उपलब्धि है कि हमने, अन्ततः, यह समझना शुरू किया कि रूस का अपना एक अलग इतिहास है जो किसी भी योरपीय राज्य के इतिहास से मेल नहीं खाता, कि उसके अपने गुण-दोषों के आधार पर हमें उसका अध्ययन और निर्णय करना चाहिए, योरपीय जातियों के इतिहास की रोशनी में नहीं, जिनका उससे कोई मेल नहीं। रूसी साहित्य के बारे में भी यही बात है। उपरोक्त लेखकों तथा लोमोनोसोव और उसके पंथ के अन्य लेखकों के बीच अगर हम दो छोरों के रूप में तुलना करने लगे तो, वस्तुतः, उनमें कोई समानता, कोई सम्बंध, नजर नहीं आयेगा। लेकिन अगर लोमोनोसोव से लेकर गोगोल तक सभी रूसी लेखकों का कालानुक्रम से अध्ययन करें तो आपको तुरत उनके बीच एक सप्राण तथा घनिष्ठ सम्बंध नजर आयेगा। तब आपको मालूम होगा कि पुश्किन के समय तक रूसी साहित्य की समूची धारा का प्रयास—निश्चय ही अचेतन रूप में—अपने आपको लोमोनोसोव के प्रभाव से मुक्त करने तथा जीवन और वास्तविकता के अधिक निकट आने—दूसरे शब्दों में यह कि मौलिक, जातीय तथा रूसी बनने की, ओर था।...

रूसी साहित्य को लोमोनोसोव के प्रभाव से मुक्त करनेवाले प्रगतिशील धारा के लेखकों ने यह ध्येय अपने सामने बिल्कुल नहीं रखा; यह कार्य तो उन्होंने अचेतन रूप से ही कर डाला; वे मात्र अपने युग की आत्मा की आवाज थे, जो उनके द्वारा, उनकी ओर से, अपना काम कर रही थी। कवि के रूप में वे लोमोनोसोव की भारी इज्जत करते थे, उसकी प्रतिभा के सामने माथा नवाते थे, उसका अनुकरण करने का प्रयास करते थे, फिर भी उससे अधिकाधिक

विलग होते जाते थे। इसकी सर्वाधिक उल्लेखनीय मिसाल देरज्हाविन है। लेकिन ठीक यही वह योरपीय सिद्धान्त की सप्राणता है, जिसे पीतर महान ने रूसी जाति के जीवन में रोपा था, अर्थात यह कि वह एकदम प्रवाहहीन और निश्चल नहीं, बल्कि गतिशील है, प्रगति और विकास की मंजिलें तय करता है। लोमोनोसोव के मस्तिष्क में समसामयिक जर्मन कवियों तथा फ्रेंच गीतकार जां बाप्टिस्ट रूसो के नमूने पर विरुद लिखने की बात न सूझती, अगर वह एनिद के नमूने पर अपनी पेत्रियादा की रचना न करता जिसमे उसने, पीतर महान के साथ-साथ, जो कि उसकी कविता का नायक था, वरुण को भी अपना एक पात्र बनाया और श्वेतसागर की शीतल तथा व्यापक गहराइयों में अपने ट्राइटनों तथा जलपरियों के साथ उसे स्थापित किया था। अगर वह, सच ही, इन सब किताबी, स्कूली-लड़कों जैसी असम्बद्धताओं में न पड़कर हमारे लोक-काव्य के मुख्य स्रोत —**प्रिन्स ईगोर के आल्हा**, परियों की रूसी कहानियों (जो अब दानिलोव के संकलन में सुलभ हैं) और लोक-गीतों—की ओर उन्मुख हुआ होता, और उनसे अनुप्राणित होकर तथा उनमे पगी विशुद्ध जातीय नींव पर एक नये रूसी साहित्य की इमारत का निर्माण किया होता,—तो इसका क्या नतीजा निकलता ? जाहिर तौर से यह प्रश्न महत्वपूर्ण दिखता है, लेकिन —सच पूछो तो—यह एक बेकार का सवाल है, बिल्कुल वैसे ही जैसे कोई कहे : अगर पीतर महान फ्रांस में और नैपोलियन रूस में पैदा हुआ होता तो क्या होता ? ... लेकिन उन लोगों की खातिर, जो महान ऐतिहासिक घटनाओं की युक्ति-सगत आवश्यकता का अनुभव नही करते, हम इस प्रश्न के महत्व को मानने के लिए तैयार हैं कि अगर लोमोनोसोव ने जातीय नीव पर एक नये रूसी साहित्य की नींव रखी होती तो क्या होता। हमारा उत्तर है : उसका कोई नतीजा नहीं निकलता। हमारे जातीय काव्य के रूप इतने क्षीण और एकरस थे कि वे केवल प्राचीन रूस के कबीलाई, प्रकृत, क्षणरत और अर्द्ध-पितृसत्तात्मक जीवन की विषय-वस्तु को व्यक्त करने के उपयुक्त हो सकते थे। नयी विषय-वस्तु मे उनकी पटरी नहीं बैठ सकती थी। इस उद्देश्य के लिए नये रूपो की दरकार थी। सो, हमारी मुक्ति जातीयता में नही, योरोपीयता में थी। हमारे उद्धार के लिए यह आवश्यक था कि अपनी जातीयता का गला न घोटें या उसे नष्ट न करें (यह असम्भव है, या अगर सम्भव है तो आत्मघाती है), लेकिन —जैसा कि कहते हैं—उसके विकास और प्रगति को रोककर नये तत्वों को उसकी धरती में रोपें। जब तक ये तत्व देश के तत्वों के साथ घुल-मिलकर एकाकार नहीं हुए—तेल और पानी की भांति विलग रहे—तब तक हमारी हर चीज, हमारी आदतें और उनकी अभिव्यक्ति, हमारा साहित्य, अलंकारिकता से, आडम्बर से, आगे नहीं बढ़ सके। लेकिन हमारे पास एक सप्राण

सिद्धान्त था जो आत्मसात होने की प्रक्रिया द्वारा सजीव रूप में मूर्त होने की क्षमता रखता था। नतीजा इसका यह कि साहित्य, अडिग गति से, निष्प्राण अनुकरण के हवाई सिद्धान्त से मौलिक रचना के सप्राण सिद्धान्त की ओर बढ़ा। और आखिर वह दिन भी आज आ पहुंचा है जब हम देखते हैं कि फ्रेंच भाषा में गोगोल की अनेक कहानियों का अनुवाद हुआ है, और उन्हें पढ़कर समूचा योरप चकित होकर रूसी साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ है। चकित होकर इसलिए कि रूसी उपन्यास और कहानियां इससे पहले भी विदेशी भाषाओं में अनूदित हो चुकी थीं, लेकिन ध्यान आकर्षित करने के बजाय उन्होंने विदेशियों के हृदय में गहरी वितृष्णा का ही संचार किया। यह इसलिए कि उन्हें ऐसा मालूम हुआ मानो उनकी भाषाओं में अनूदित रूसी उपन्यास और कहानियां उनकी अपनी भाषाओं से पुनः अनुवाद करके रख दी गयी हों,—रूसियत का, मौलिकता का, अपने स्वतंत्र अस्तित्व का, इतना कम अंश था उनमें !

लोमोनोसोव के प्रभाव से रूसी साहित्य को मुक्त करने का काम—अकाट्य रूप में—करमजिन ने किया। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि उसने उसे आडम्बर से पूर्णतया मुक्त करके जातीय बना दिया। उसने इस दिशा में भारी काम किया, लेकिन ठीक यह नहीं किया, क्योंकि यह अभी काफी दूर की चीज थी। रूस का पहला जातीय कवि पुश्किन था।* उसके साथ हमारे साहित्य का एक नया युग शुरू होता है जो करमजिन के युग से भिन्न है,—करमजिन का युग लोमोनोसोव से जितना भिन्न था, उससे कहीं अधिक भिन्न है। करमजिन का प्रभाव अभी भी हमारे साहित्य में दिखाई देता है। उससे पूर्णतया मुक्त होना रूसी साहित्य के लिए आगे की ओर एक महान कदम होगा। लेकिन इससे, लेशमात्र भी, करमजिन की सेवाओं का महत्व कम नहीं होता, बल्कि यह उनकी महानता को ही प्रकट करता है। लेखक में वह अंश जो

*यहां, खुद हमारे ही शब्दों की ओर इशारा करते हुए, यह कहा जा सकता है कि पहला जातीय कवि पुश्किन नहीं, क्रीलोव था। लेकिन, क्रीलोव केवल गल्पों, दन्त-कथाओं, की रचना करनेवाला कवि था, जबकि गिने-चुने शब्दों में व्याख्या करके, यह नहीं कहा जा सकता कि पुश्किन इस किस्म का कवि था। क्रीलोव की कविता लौकिक सीखों और नीति-कथाओं की कविता है,—एक ऐसी विषय-वस्तु जिसकी, अन्य विषय-वस्तुओं के मुकाबले में, रूसी जीवन में प्रचुरता है; आसानी से वह मिल जाती है। फिर क्रीलोव की श्रेष्ठतम, और सर्वाधिक जातीय कथाएं पुश्किन के रचना-काल में लिखी गयी थीं,—उस नयी धारा के काल में जिसका पुश्किन ने रूसी कविता में समावेश किया था।—ले०

पिछड़ा हुआ होता है और समय की गति का साथ नहीं देता, क्षयकारी होता है। इस क्षयकारी अंश के उन्मूलन का काम लेखक के समय के बाद भी चलता रहे इसके लिए जरूरी है कि वह लेखक अपने समय में नवीनता, सौन्दर्य, सप्राणता और महानता की प्रतिमा हो। ...

करमजिन ने, पहली बार, रूसी साहित्य में, जो अभी प्रस्फुटित होना शुरू हुआ था, नया निखार पैदा किया। उससे पहले तक साहित्य के सभी प्रश्नों पर पूर्ण ऐक्य था। कभी कोई मतभेद या विवाद पैदा होते भी थे, तो वे सिद्धान्तों या विश्वासों से नहीं, बल्कि त्रेदियाकोवस्की और सुमाराकोव की तुच्छ तथा छिछली अहम्मन्यताओं से पैदा होते थे। लेकिन यह ऐक्य केवल उस समय के तथाकथित रूसी साहित्य की निष्प्राणता को सिद्ध करता था। उसमें जीवन फूंकने का काम सबसे पहले करमजिन ने किया। किताबों के पन्नों से साहित्य को उसने जीवन में उतारा, पन्थों से समाज में उसका समावेश किया। ऐसी हालत में, स्वभावतः, दलों ने सिर उठाया, लेखनियों का युद्ध छिड़ा, और कुहराम मचा कि करमजिन और उसका पन्थ रूसी भाषा के लिए, और रूस के प्राचीन भले तौर-तरीकों के लिए, काल सिद्ध होगा। ऐसा मालूम होता था मानो उसके विरोधियों के रूप में, अड़ियल रूसी परम्परा, जिसने बलबलाकर इससे भी अधिक निष्फलता के साथ पीतर महान के सुधारों का प्रतिरोध किया था, अब फिर अपना सिर उठा रही है। लेकिन बहुसंख्या ने न्याय का पक्ष लिया, अर्थात प्रतिभा और समय की नैतिक आवश्यकताओं का साथ दिया और विरोधियों द्वारा मचाया गया हो-हल्ला करमजिन के प्रशंसकों की प्रशसा के समवेतगान में डूब गया। हर चीज उसके इर्दगिर्द बटुर आई और हर चीज —यहां तक कि उसके विरोधी भी — अपने महत्व और सार्थकता के लिए उसके ऋणी थे। वह हीरो था; अपने समय के साहित्य का भीष्म। लेकिन यह हो-हल्ला उस तूफान के मुकाबिले में क्या था जो, साहित्य के मंच पर, पुश्किन के प्रकट होने पर हुआ था। उसकी याद हमारी स्मृति में अभी भी इतनी ताजी है कि उसे यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं। इतना कहना ही काफी होगा कि पुश्किन के विरोधियों को उनकी कृतियों में रूसी भाषा और रूसी कविता को विकृत करने का प्रयास नजर आता था और वे उसे, निश्चित रूप से, न केवल जनता की साहित्यिक रुचि के लिए ही, बल्कि — क्या आप विश्वास करेंगे ? — जनता की नैतिकता के लिए भी, खतरनाक समझते थे !! ...

इसका क्या कारण है कि हमारे साहित्य के सभी कालों में, उन लोगों ने, जो हर किस्म की प्रगति के विरोधी हैं, प्रत्येक बार और हमेशा एक से ही शब्दों में एक जैसी बातें कहीं ?

इसके कारण की खोज करने के लिए भी हमें उसी स्रोत की खोज करनी होगी जिसकी कि हम यथातथ्यवाद पंथ के स्रोत का पता लगाने के लिए करते हैं,—अर्थात रूसी साहित्य के इतिहास की। यथातथ्यवाद से उसकी शुरूआत हुई: हमारा पहला जन-लेखक था व्यंगकार कान्तेमीर। लेटिन व्यंग-रचनाओं तथा बोइल्यो का अनुकरण करने के बावजूद वह अपनी मौलिकता को कायम रखने में समर्थ हुआ। कारण, वह प्रकृति के प्रति सच्चा था और प्रकृति से अपनी विषय-वस्तु ग्रहण करता था। दुर्भाग्य से उसने अपने लिए नीरस शैली चुनी, अनगढ़ और अटपटे शब्दों का और सलेबिक वृत्तों का उसने प्रयोग किया जो हमारी कविता के लिए बेमेल था। नतीजा यह कि वह रूसी कविता का आदर्श नमूना और विधान-निर्माता नहीं बन सका। यह काम लोमोनोसोव ने किया। लेकिन चूंकि कान्तेमीर विरल प्रतिभा का धनी था और धनी रहा, और कालानुक्रम से पहला कवि था, इसलिए उसे रूसी साहित्य के इतिहास से बाहर नहीं किया जा सकता। इस प्रकार, तथ्यों को बिना तोड़े-मरोड़े और बिना खींचतान के, हम यह दावा कर सकते हैं कि रूसी कविता एकदम शुरू से ही—जैसा कि कहते हैं—दो समानान्तर धाराओं में बहना शुरू हुई, और जैसे-जैसे समय बीतता गया, अधिकाधिक एक दूसरे से मिलकर एक संयुक्त धारा में बहती और विलग होती रही। आखिर हमारे समय में आकर, उसने एक संयुक्त धारा का रूप धारण कर लिया। कान्तेमीर के रूप में रूसी कविता वास्तविकता की ओर, जीवन की ओर, जैसा कि वह वस्तुतः है, उन्मुख हुई। उसकी शक्ति का यही रहस्य है कि वह यथार्थ के प्रति सच्ची रहने पर आधारित है। लोमोनोसोव के रूप में वह आदर्श की ओर उन्मुख हुई। दिव्य और नैसर्गिक जीवन और उस सब की, जो महान और शुभ्र था, वह देव-वाणी और अग्रदूत बनी। ये दोनों ही धाराएं बंध थीं। लेकिन दोनों ही जीवन से नहीं बल्कि विचारों से, पुस्तकों और पन्थों से, उदित हुई थीं। लेकिन कान्तेमीर के ढंग ने, जिससे कि उसने अपने काम को सम्पन्न किया, पहली धारा को सचाई और वास्तविकता का लाभ प्रदान किया। देरज्हाविन में, जिसकी प्रतिभा अधिक शुभ्र थी, ये दोनों धाराएं बहुधा मिलती नजर आती हैं। फेलित्जा, प्रान्डी और खुशहाली पर लिखी गई उसकी उत्कृष्टतम कृतियां कम से कम उसकी भारी-भरकम रचनाओं के मुकाबिले में निस्संदेह कहीं अधिक मौलिक और रूसी हैं। खेमनित्जर की दन्तकथाएं और फौनविजिन के प्रहसन उसी धारा का प्रतिबिम्ब हैं जिसका प्रतिनिधि, काल की दृष्टि से, कान्तेमीर था। उसका व्यंग अतिरंजन तथा अति-चित्रण की बीमारी का कम शिकार होता है, और जिस अनुपात से उसमें काव्यात्मकता आती-जाती है, उसी अनुपात में वह अधिक प्रकृत मालूम होता है। क्रीलोव की दन्तकथाएं पूर्णतया कलात्मक हैं। यथातथ्य-

वाद उसकी कविता की एक निजी विशिष्टता है। हमारी कविता के क्षेत्र में वह पहला यथातथ्यवादी कवि था। यह आरोप भी सबसे पहले उसी पर लगाया गया कि वह 'नीच प्रकृति' का चित्रण करता है; खासतौर से अपनी कहानी **शूकर महाराज** में। लेकिन जरा उसके पशुओं पर नजर डालकर देखिए। कितने स्वाभाविक हैं वे! वे वास्तविक मानव-जीव हैं: चरित्र की एक-एक रेखा उभरी हुई, बिला किसी शक व शुबह के रूसी। और उसकी वे कहानियां जिनके पात्र रूसी दहकान हैं? क्या वे यथार्थ की पूर्णतम अभिव्यक्ति नहीं हैं? फिर भी, आज कोई भी उसे दोष नहीं देता, — न तो उस 'शूकर' का चित्रण करने के लिए जो, "अपनी थूथनी पर रहम न करते हुए पिछवाड़े की सभी क्यारियों को तहस-नहस कर डालता है," न उन कहानियों के लिए जिनमें वह दहकानों का चित्रण करता है और उनसे दहकानों-जैसी बोली बोलवाता है। यह कहा जा सकता है कि ये दन्तकथाएं हैं, कविता की एक विशिष्ट शैली की चीज हैं। लेकिन क्या सौन्दर्य के नियम कविता के सभी रूपों, शैलियों, के लिए समान नहीं हैं? दमित्रीयेव ने भी तो दन्तकथाएं लिखी हैं और, घटनाक्रम से, दहकानों का भी उनमें समावेश किया है। लेकिन उसकी दन्तकथाएं, अपने तमाम गुणों के बावजूद, यथार्थ का जरा भी दावा नहीं कर सकतीं, — यह उनकी विशेषता नहीं है। उसके दहकान एक सामान्य किस्म की भाषा बोलते हैं, जिसे किसी भी एक सामाजिक कोटि की भाषा नहीं कहा जा सकता। इस भेद का कारण यह है कि दमित्रीयेव की कविता, उसकी दन्तकथाओं में भी और उसकी विरुदावलियों में भी, लोमोनोसोव की परम्परा की देन है, कान्तेमीर की नहीं। वे आदर्शवाद का दामन पकड़ कर चली हैं, वास्तविकता का नहीं! लोमोनोसोव के विचार पुरातन मान्यताओं पर आधारित है,—जैसा कि उन्हें उस समय योरप में समझा जाता था। करमजिन और दमित्रीयेव — खासतौर से दमित्रीयेव — कला को अठारहवीं शती के फ्रांसीसियों की दृष्टि से देखते थे, और हम यह जानते हैं कि उन दिनों के फ्रांसीसी कला को सोसायटी के जीवन की अभिव्यक्ति मानते थे— बिलाशक ऊंची और दरबारी सोसायटी के जीवन की, आम लोगों की नहीं। वे शिष्टता को कविता की प्रमुख तथा प्राथमिक शर्त समझते थे। यही कारण है कि उनके ग्रीक तथा रोमन हीरो वालों की टोपी पहनते थे, और हीरोइनों को मादाम कहकर सम्बोधित करते थे। ये विचार रूसी साहित्य में गहरे समाये थे और, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, उनके प्रभाव के चिन्ह अभी भी एकदम गायब नहीं हुए हैं।...

लोमोनोसोव ने हमारी कविता को जो धारा दी थी, उसे ओजेरोव, ज्हुकोव्स्की और बात्युश्कोव ने जारी रखा। वे अपने आदर्श के प्रति सच्चे थे। लेकिन उनके लिए यह आदर्श उत्तरोत्तर कम हवाई और कम आडम्बरपूर्ण होता

गया और वास्तविकता के अधिकाधिक निकट आता गया, या यूं कहिए कि वह कम से कम ऐसा करने का प्रयास करता था। इन कवियों की रचनाओं में — खास तौर से ज़ुकोव्स्की और बात्युश्कोव की रचनाओं में — कविता की भाषा केवल सरकारी छाप के उत्साह को व्यक्त करने का ही काम नहीं करती थी। वह राग-विरागों, संवेदनों, आशा-आकांक्षाओं को भी व्यक्त करती थी, — हवाई आदर्शों से उत्प्रेरित आशा-आकांक्षाओं को नहीं, वरन् मानव हृदय तथा उसकी आत्मा में जन्म लेनेवाली आशा-आकांक्षाओं को। और तब पुश्किन का उदय हुआ: पुश्किन, जिसकी कविता अपने पूर्वजों की कविता से वैसे ही सम्बंधित है जैसे कि उपलब्धि आकांक्षा से सम्बंधित होती है। उसकी कविता में, एक प्रचंड बाढ के रूप में, रूसी कविता की वे दोनों धाराएं संयुक्त हो गयी थीं जो कि, उससे पहले तक, अलग-अलग बहती रही थीं। उसके पेचीले तारों में विशुद्ध रूसी ध्वनियों को सुना जा सकता था। बावजूद इसके कि पुश्किन की प्रारम्भिक कविताएं मुख्यत: भाववादी और गीतात्मक थीं: उनमें वास्तविक जीवन के तत्व भी मौजूद थे। उसकी साहसिकता इसका प्रमाण है, एक ऐसी साहसिकता जिसने उस समय हरेक को चकित कर दिया था। अपनी कविताओं में उसने समावेश किया — क्लासिकल इटालियन या स्पेनी डाकुओं का नहीं, वरन रूसी डाकुओं का, छुरों और पिस्तौलों से लैस नहीं, बल्कि चौडे चाकुओं और भारी गदकों से लैस। यही नहीं, इन डाकुओं में से एक को जब सन्साम होता है, तो बेहोशी में प्रलाप करता हुआ वह कोडे और भयावह जल्लाद का जिक्र करता है। बनजारों का पड़ाव, गाड़ियों के दो पहियों के बीच तने उनके जीर्ण तम्बू, नाचनेवाले भालू और गधे-जुते गड्डलनों में नंगे बच्चे, एक क्रूरतापूर्ण रक्तिम और दु:स्वप्न प्रसंग के लिए यह सब अब तक अन-देखा और अनसुना था। लेकिन **यूजीन ओनेगिन** में आदर्श वास्तविक जीवन के लिए और भी अधिक राह छोड़ते नजर आते हैं, या कम से कम दोनों घुलमिल कर एक नयी चीज बन जाते हैं — दोनों के मिलने से उत्पन्न एक नयी चीज, जिसे न इसकी संज्ञा दी जा सकती है, न उसकी; एक ऐसी काव्य कृति जिसने, जायज तौर से, हमारी आज की कविता की नींव रखी। यहां यथार्थ व्यंग या परिहास के बाने में नहीं, बल्कि वास्तविकता का सच्चा प्रतिबिम्ब बनकर प्रकट होता है, अपनी सारी भलाई और बुराई के साथ, और अपने आये दिन के झगड़े-झझटों के साथ। गिनती के दो या तीन व्यक्तियों को केन्द्र बनाकर — जो काव्यात्मक या किसी हद तक भावनाशरीरी हैं — आम लोगों के चित्र अंकित किये गये हैं, परिहास की सामग्री के रूप में नहीं, विलक्षणता और सामान्य नियम के अपवाद-रूप में नहीं, बल्कि उन लोगों के रूप में जो समाज के बहुलांश की रचना करते हैं। और यह सब सम्पन्न हुआ पद्य में लिखे गये एक उपन्यास में!

और गद्यमय उपन्यास उस समय क्या कर रहा था ?

वह अपनी समूची शक्ति से यथार्थ के, जीवन के, निकट आने का प्रयास कर रहा था। नारेझनी, बुल्गारिन, मार्लिन्स्की, ज़ागोस्किन, लाज्हेचनिकोव, उशाकोव, वेल्टमान, पोलेवोय और पोगोदिन के उपन्यासों तथा कहानियों की याद कीजिए। यहां पर अनुमान भिड़ाने की जरूरत नहीं कि किसने सबसे ज्यादा किया, किसकी प्रतिभा सबसे बड़ी थी। यहां हम एक ऐसे प्रयास का जिक्र कर रहे हैं जो सामान्यतः सब में मौजूद है : उपन्यास को जीवन के निकट लाना, उसे उस जीवन का सच्चा आईना बनाना। इन प्रयासों में से कुछेक उल्लेखनीय हुए। लेकिन जहां तक सन्तरण काल की छाप का सम्बंध है, वह सब में मौजूद थी,—पुरानी लीक में से निकले बिना ही उन्होंने नये के लिए प्रयास किया। सो वे केवल एक इस बात में सफल हुए कि, बावजूद पुरातनपंथियों की चीख-पुकार के, हर श्रेणी और कोटि के लोगों ने उपन्यासों में प्रकट होना शुरू कर दिया। और लेखक अपने पात्रों के मुंह से प्रत्येक कोटि के अनुसार उसकी विशिष्ट बोलियां बोलवाने का प्रयास करने लगे। इसे तब **नारोदनोस्त** कहा जाता था। लेकिन इस नारोदनोस्त में स्वांग का अंश ज्यादा था। निम्न श्रेणियों के रूसी लोग भेष बदले हुए कुलीनों की भांति दिखते थे; और कुलीन केवल नाम को ही विदेशियों से भिन्न होते थे। रूसी रीति-नीतियों और रूसी जीवन को चित्रित करनेवाली कविता के लिए किसी ऐसी प्रतिभा की आवश्यकता थी जो उसे विदेशी प्रभावों से सदा के लिए मुक्त कर सके। पुश्किन ने इस दिशा में भारी काम किया। लेकिन इस प्रक्रिया को अन्त तक, सम्पूर्णता तक, पहुंचाने का काम एक दूसरी प्रतिभा के कंधों पर पड़ा। १८२६ में सेवेरनीये त्स्वेती में, पुश्किन के उपन्यास **पीतर महान का अरब** का एक अंश — 'एक ऐतिहासिक उपन्यास का चौथा परिच्छेद' शीर्षक से—प्रकाशित हुआ था। यह अंश यथार्थता का चरम रूप था। एक छोटे से चौखटे में, पीतर महान के समय का कितना व्यापक, कितना उत्कट, चित्र अंकित था ! मानो गागर में सागर लहरा रहा हो !

और इसके बाद १८३५ में **मीरगोरोद** तथा **अराबस्क** के और १८३६ में **इन्सपेक्टर जनरल** के प्रकाशन के साथ गोगोल की भरपूर ख्याति और रूसी साहित्य पर उसके प्रबल प्रभाव का दौर शुरू हुआ। ..

एक सिरे से सभी मान्यताएं, थ्योरी और सिद्धान्त, साहित्य जगत की सभी परिपाटियां, उसके विरुद्ध थीं क्योंकि वह खुद उनके विरुद्ध था। उसे समझने के लिए उन सबको अपने मस्तिष्क से निकाल बाहर करने की, उनका अस्तित्व तक भूल जाने की, आवश्यकता थी,—और बहुतों के लिए ऐसा करने का अर्थ था फिर से जन्म लेना, मरना और फिर मृतकों के बीच से जीवित हो उठना !...

विकास पथ पर

हमारा साहित्य सचेत विचारों का परिणाम था। एक नवीन आविष्कार के रूप में वह प्रकट हुआ; अनुकरण के रूप में उसका श्रीगणेश हुआ। लेकिन, उसने इतने पर ही बस नहीं की। निरन्तर उसने मौलिकता और जातीयता के लिए प्रयास किया ... यह प्रयास ही, जिसे हम उल्लेखनीय तथा उत्तरोत्तर सफलता पाते देखते हैं, हमारे रूसी साहित्य के इतिहास का सार और उसकी आत्मा है। और बिना किसी संदेह के यह जोर देकर कहा जा सकता है कि यह प्रयास, जितनी सफलता के साथ गोगोल में प्रकट हुआ, उतना अन्य किसी में नहीं। कला को केवल वास्तविक जीवन पर पूर्णतया आधारित करके ही इस उपलब्धि को पाया जा सकता था,—हर किस्म की आदर्शवादिता को पूरी तरह तिलांजलि देकर। इसके लिए आवश्यक था कि एकनिष्ठ होकर भीड़ का, जनसमूह का, अध्ययन किया जाय, आम लोगों को चित्रित किया जाय, केवल सामान्य नियम के सुखकर अपवादों को ही नहीं, जो हमेशा कवियों को भावलोक में पहुंचा देते हैं और उस पर अजनबियत की छाप लगा देते है। यही गोगोल की महान सेवा है। यही वह चीज है जिसे पुराने पथ के लोग कला के विधान के खिलाफ भीषण अपराध घोषित करते हैं। इस अर्थ में उसने खुद कला की प्रचलित मान्यता को ही पूर्णतया बदल दिया। कविता की पुरानी और घिसी-पिटी व्याख्या थी : सुन्दरम्, प्रकृति को सुन्दर रूप में पेश करना। इस व्याख्या को, एक सिरे से, किसी न किसी हद तक अन्य सभी रूसी कवियों की कृतियों पर लागू किया जा सकता है, लेकिन गोगोल की कृतियों पर नहीं किया जा सकता। उस पर कला की एक दूसरी व्याख्या लागू होती है—कला वास्तविकता का, समग्र रूप में, सच्चा आईना है। यहां तत्व की बात टाइप हैं, यहां भाव या आदर्श एक आभूषण के (फलत: झूठ के) रूप में नहीं, बल्कि उन सम्बंधों के रूप में प्रकट होता है जिनमें लेखक अपने टाइपों को स्थापित करता है, और उसके ये टाइप उस भाव—विचार—की रोशनी में रचे गये होते हैं जिन्हें कि वह अपनी रचना में विकसित करना चाहता है।

कला, हमारे समय में थ्योरी के बन्धन तोड़ आगे बढ़ चली है। थ्योरी को उसने पछाड़ दिया है। पुरानी मान्यताओं का — थ्योरियों का — अब कोई मान नहीं रहा। वे लोग भी, जो इन थ्योरियों की घुट्टी पीकर बड़े हुए थे, अब उनका अनुसरण नहीं करते, बल्कि नये और पुराने विचारों को मिलाकर उन्होंने एक अजीब घोल तैयार किया है। मिसाल के लिए इन लोगों में से कुछ ने रोमांटिसिज्म के पक्ष में पुरानी फ्रेंच थ्योरी को तिलांजलि देते हुए छूत के रोग की भांति उपन्यासों में निम्न श्रेणी के लोगों को — यहां तक कि लुच्चे-लफंगों को भी — पेश करने में पहल की थी और सटीक नामों से अपने इन पात्रों को सज्जित करते थे, जैसे वोरोवातिन और नोज्होव (चोरसिंह और चाकूधर प्रसाद)। इसके बाद, तराजू के पलड़े बराबर करने या अनैतिक चरित्रों के चित्रण का परिष्कार करने के लिए, उन्होंने नैतिक चरित्रों को भी साथ में रखना शुरू किया, वैसे ही सटीक नामों के साथ, जैसे प्रावदोल्युबोव और ब्लागो-त्वोरोव (सत्यप्रिय और नेकीराम)। इस प्रकार, पहली कोटि के पात्र जहां नये को सूचित करते हैं, वहां दूसरी कोटि के पुराने को। यह इसलिए कि काव्य-शास्त्र के पुराने विधि-विधान के अनुसार सन्तुलन बनाये रखने के लिए अनेक मूढों के साथ एकाध चतुर-सुजान को और खल-मण्डली के साथ एक न्यायात्मा को भी रखना जरूरी था। लेकिन, दोनों ही मामलों में ये लोग मुख्य चीज को एकदम नजरन्दाज कर गये — यानी कला को। उन्हें यह नहीं सूझा कि उनके खल और न्यायात्मा पात्र मानव नहीं, चरित्र नहीं हैं, बल्कि शून्य नेकियों और शून्य बदियों के अलंकारिक रूप हैं,— निरे भावना-शरीरी हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि करनी और सारतत्व के मुकाबले में थ्योरी और नियमों को क्यों अधिक महत्व देते हैं। करनी और सारतत्व उनकी पहुंच से — समझ से — बाहर हैं। फिर एक बात यह भी है कि प्रतिभा, उज्ज्वल होने पर भी, हमेशा थ्योरी के असर से अपने को नहीं बचा पाती। गोगोल उन विरल प्रति-भाओं में से है जो किसी भी थ्योरी के चंगुल में नहीं आया। हालांकि कला को वह समझता था और अन्य कवियों की कृतियों की सराहना भी कर सकता था, लेकिन वह खुद अपने ही रास्ते पर चला, उस गहरी और सच्ची सहज चेतना का अनुसरण करते हुए जिससे प्रकृति ने इतनी प्रचुरता के साथ उसे विभूषित किया था। अन्य लोगों की सफलताओं से चकित होकर वह अनुकरण के जाल में नहीं फंसा। लेकिन, बिलाशक, इसने उसे मौलिकता नहीं प्रदान की, बल्कि इसने उस मौलिकता को व्यक्त करने तथा क़ायम रखने की उसे क्षमता प्रदान की, जो कि उसके व्यक्तित्व की विशेषता और गुण थी— और प्रतिभा की भांति, प्रकृति की एक देन थी। और इस वजह से ही बहुत से लोगों को ऐसा मालूम होता था जैसे रूसी साहित्य में उसने बाहर से प्रवेश किया हो,

जबकि — वस्तुतः — वह रूसी साहित्य की एक आवश्यक सत्य घटना था, रूसी साहित्य के पहले के विकास का एक परिणाम था।...

...यथार्थवादी पंथ के लेखकों के रूप में रूसी साहित्य ने वास्तविक तथा खरे पथ का अनुसरण किया। प्रेरणा और आदर्शों के निजी, मौलिक, स्रोतों की ओर वह उन्मुख हुआ, और इस प्रकार उसने समसामयिक तथा रूसी रूप धारण किया। हम समझते हैं कि इस पथ को वह नहीं छोड़ेगा। कारण, यह मौलिकता का, सभी प्रकार के विदेशी तथा बाहरी असरों से मुक्ति पाने का, सीधा पथ है। इसका जरा भी यह मतलब नहीं कि वह सदा वैसा ही रहेगा जैसा कि वह आज है। नहीं, वह बढ़ेगा और बदलेगा, लेकिन वास्तविकता तथा यथार्थ के प्रति सच्चा रहने से कभी मुंह नहीं मोड़ेगा। उसकी सफलताओं से, नाम को भी, न तो हम चौंधियाये है, न उन्हें जरा भी बढ़ा-चढ़ाकर पेश करना चाहते हैं। हम खूब अच्छी तरह से देखते हैं कि हमारा साहित्य आज भी आकांक्षा के ही पथ पर है, उपलब्धि के नहीं; कि वह अभी अपने को केवल पा ही रहा है, अपने को अभी उसने पाया नहीं है। उसकी सफलता, फिलहाल, इस बात में है कि उसने अपना वास्तविक पथ पा लिया है, उसकी टोह में अब वह नहीं है, और यह कि प्रत्येक वर्ष वह अब अधिकाधिक दृढ डगों से इस पथ पर बढ़ रहा है। आज उसका कोई नेता — उसे उंगली पकड़ कर चलानेवाला — नही है; चोटी की ऐसी प्रतिभाएं भी नहीं हैं जिन पर वह दम्भ कर सके। लेकिन फिर भी उसका एक अपना चरित्र है। बिना किसी का कठ-पुतला बने वह अपने उस वास्तविक पथ पर बढ़ सकता है जिसे वह स्पष्ट रूप में देखता है। यहां हम पिछले वर्ष के सोव्रेमेन्निक के पहले अंक के शब्दों की याद किये बिना नही रह सकते जो उसके संपादक ने लिखे थे :

"सशक्त प्रतिभाओं के स्थान पर, जिनका आज के हमारे साहित्य में अभाव है, उसने अपने भीतर से, जैसा कि कहते हैं, परिपक्व तथा सप्राण तत्वों को, और अधिक बढ़ती तथा क्रियाशीलता के तत्वों को, विकसित कर लिया है। यह, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, एक खास — सुनिश्चित कोटि की — घटना है, एक ऐसी घटना जो अपनी स्वतंत्र स्थिति और अपने महत्व के प्रति सचेत है, और जिसने, अभी भी, समाज की कतिपय आवश्यकताओं तथा हितों के साथ अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध, समुचित रूप से संगठित व सक्रिय शक्ति का रूप धारण कर लिया है। अब वह उस उल्का की भांति नहीं है जो एक गैर-लोक से हमारे ऊपर आ गिरती है और जन-समूह को चकित कर देती है। वह अब किसी प्रतिभा के विच्छिन्न मस्तिष्क की कौंध नहीं जो एकाएक लोगों के मस्तिष्क को चौंधिया देती है और कुछ क्षणों के लिए नयी तथा अपरिचित अनुभूतियों का उन्हें अनुभव कराती है। हमारे साहित्य के क्षेत्र में आज खास

*तौर से उल्लेखनीय प्रकाशस्तंभ नहीं हैं; लेकिन हमारे पास समूचा — भरा-*पूरा — साहित्य है। अभी हाल तक वह शीतकाल के बर्फानी आवरण से पहली बार मुक्त हमारे खेतों के बहुरंगी विस्तारों के समान मालूम होता था। जहां-तहां, पहाड़ों पर, दूब की पहली कोपलें फूट आई हैं, लेकिन घाटियां अभी कीचड़-मिश्रित काली बर्फ से आच्छादित हैं। अब इसकी तुलना वसन्त का चोला धारण किये खेतों से की जा सकती है, हालांकि उनकी हरियाली में अभी निखार नहीं है, और कहीं-कहीं वह पीतवर्ण तथा श्लथ सी दीखती है। लेकिन इससे क्या! हरियाली का कालीन सब कहीं बिछा है। ऋतुराज वसन्त का आगमन हो रहा है!"

◊◊

इतिहास के तथ्य

कुछ लोग समझते हैं कि रूस को बिना विप्लवकारी सुधारों के, बिना उसके नोरोदनोस्त से — कुछ समय के लिए ही सही — अलग किये, उसके स्वयं के विकास, उसकी स्वयं की प्रतिभा द्वारा योरप के समकक्ष खड़ा किया जा सकता था। यह बात आदि से अन्त तक सचाई में पगी दिखाई देती है, इसीलिए बड़ी आकर्षक और चमक-दमकपूर्ण लगती है, किन्तु किसी बड़े, खूबसूरत, सड़े बादाम की तरह भीतर से खोखली है। इसका खंडन स्वयं अनुभव ने किया है, इतिहास के तथ्यों ने किया है।

◊ ◊ ◊

जो महान है

जो सचमुच महान है वह शंकाओं के प्रति उदासीन रहेगा, वह कभी नहीं गिरेगा, कभी नहीं घटेगा, कभी आंखों से ओझल नहीं होगा। शंकाओं और विरोधों के उठने पर, जो प्रत्येक सत्य को परखने का पहला प्रयास, ज्ञान की दिशा में पहला कदम हैं, वह और भी सुदृढ़, और भी महान, और भी प्रखर होगा। केवल मिथ्या को ही शंकाओं और विरोधों का भय होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे कागज के फूलों और कच्ची धातुओं को पानी का भय होता है।

गोगोल को पत्र

तुम मेरे लेख को क्रुद्ध हृदय का उफान समझते हो। तुम्हारी यह समझ सही है, किन्तु आंशिक रूप में ही। तुम्हारी यह 'टीका' जरूरत से ज्यादा हल्की और नाकाफी है; तुम्हारी पुस्तक पढ़ने पर मेरी जो हालत हुई, उसे यह व्यक्त नहीं करती। और इस स्थिति का जो कारण तुमने बतलाया है, वह तो सोलहों आना गलत है, अर्थात यह कि तुम्हारी प्रतिभा के 'स्वनामधन्य' (खुदा ही बचाये उनसे) प्रशंसकों का हवाला देखकर मैं कुड़मुड़ा उठा हूं। नहीं, उसका इससे कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण कारण है। आहत अभिमान की चोट को सहा जा सकता है, और मुझमें इतनी समझ है कि अगर इतना ही होता तो सारे मामले को मैं चुपचाप टाल जाता। लेकिन सत्य की, और माननीय गौरव की, आहत भावना को नहीं सहा जा सकता। उस समय अपनी जुबान को बंद नहीं रखा जा सकता जब झूठ और अनैतिकता को, धर्म के बाने में, दमन के संरक्षण के रूप में, सत्य और सदाचार का पुतला बनाकर पेश किया जा रहा हो।

हां, मैं तुम्हें प्यार करता था! हृदय के समूचे अनुराग के साथ प्यार करता था — उसी अनुराग के साथ जिससे कि अपने देश के साथ रक्त के सूत्रों में गुथा आदमी अपने देश की आशा को, उसके मान और गौरव को, जागरण, विकास और प्रगति के पथ पर ले जानेवाली एक महान विभूति को, प्यार कर सकता है। और प्रेम के इस अधिकार को अपने हाथों से निकलता देखकर, कुछ क्षणों के लिए ही सही, तुम्हारा विचलित हो उठना मैं समझ सकता हूं। मैं यह इसलिए नहीं कहता कि अपने प्रेम को किसी महान प्रतिभा के लिए मैं सम्यक पुरस्कार समझता हूं, बल्कि इसलिए कि यह सिर्फ मेरी ही नहीं, बहुत से लोगों की आवाज है, उन लोगों की जिनमें से एक को भी न तुमने कभी देखा है, न मैंने और न ही उनमें से किसी एक को, तुम्हें या मुझे, देखने का मौका मिला है। विक्षोभ की वह लहर जो तुम्हारी पुस्तक को देखकर सभी भले लोगों के हृदयों में उमड़ी है, और खुशी की वे किलकारियां जो तुम्हारे सभी दुश्मनों — चिचिकोवों, नोज्द्रेवों और मेयरों के हृदय से

तुम्हारी पुस्तक के स्वागत में निकली हैं ! मेरी समझ में नहीं आता कि इन्हें किन शब्दों में व्यक्त करूं । ये तो हैं साहित्य जगत से बाहर के लोग । लेकिन साहित्य-जगत के लोगों की क्या कहूं ? उनके नामों से तुम खूब परिचित हो ! तुम खुद ही देखो; ये लोग भी, जो तुम्हारी पुस्तक से सहमत हैं, हाथ झाड़कर उस पुस्तक से अलग छिटक गये हैं । अगर यह पुस्तक गहरे तथा सच्चे विश्वास की देन होती, तब भी कोई अन्तर न पड़ता । जनता पर इसकी वैसी ही छाप पड़ती जैसी कि अब पड़ी है । और यह किसी और का नहीं, खुद तुम्हारा दोष है कि हरेक ने (उन इक्के-दुक्कों को छोड़कर जिन्हें एक बार देख और जान लेने पर उनका समर्थन प्राप्त करने की सारी खुशी हवा हो जाय) तुम्हारी इस पुस्तक को एक निराला, किन्तु कुल मिलाकर जरूरत से ज्यादा अधूरा, प्रयास समझा; एक ऐसी कृति के रूप में उसे ग्रहण किया जिसका उद्देश्य अलौकिक साधनों से मात्र लौकिक लक्ष्य को साधना है। इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है; अगर है भी तो यह कि तुम्हें यह आश्चर्य-जनक मालूम होती है । मेरी समझ में इसका कारण यह है कि रूस के बारे में तुम्हारी गहरी जानकारी केवल एक कलाकार की जानकारी है, विचारक की जानकारी नहीं, जिसकी भूमिका को इतने भोंड़े रूप से तुमने अपनी इस अजूबा पुस्तक में निबाहने का प्रयत्न किया है । यह नहीं कि तुम विचारक नहीं हो । बात यह है कि रूस को तुम बहुत सालों से सुन्दर-सुदूर से देखने के आदी हो गये हो । कौन नहीं जानता कि चीजों को अपने मनचीते रूप में देखने का सबसे आसान तरीका है उन्हें दूर से देखना ? कारण अपने उस सुन्दर-सुदूर में जो जीवन तुम बिताते हो, वह सच्चे जीवन से सर्वथा भिन्न होता है । तुम उसमें और अपने ही अन्दर या ऐसी मण्डली में रमते हो जिसकी मनःस्थिति तुम्हारी ही छाया होती है, जिसमें इतना भी बल नहीं होता कि तुम्हारे प्रभाव का प्रतिरोध कर सके । ऐसी दशा में, तुम भला कैसे देख सकते थे कि रूस की मुक्ति न तो रहस्यवाद में है, न वैराग्यवाद में, न भक्तिवाद में । उसकी मुक्ति है तो सभ्यता में, प्रकाश में और मानवता की सफलताओं में । उसे उपदेशों (जिनसे वह ऊब चुका है) या वन्दनाओं (जिन्हें दोहराते-दोहराते उसका गला बैठ गया है) की नहीं, वरन् उस मानवीय गौरव की भावना की आवश्यकता है जो सदियों के कूड़े-कचरे में कहीं लुप्त हो गयी है । आवश्यकता है ऐसे अधिकारों और कानूनों की जिन्हें, गिरजा के उपदेशों का अमृत छिड़क-कर नहीं, वरन् सामान्य बुद्धि और न्याय के आधार पर, गढ़ा जाये और यथा-सम्भव दृढ़ता से उनका पालन किया जाय । इस सबके बजाय रूस एक दूसरा ही भयानक दृश्य प्रस्तुत करता है, जहां बिना किसी ओट के इन्सान इन्सानों का व्यापार करते हैं । वे अमरीकी बागानों के मालिकों की तरह यह कपटपूर्ण

बहाना भी नहीं करते कि नीग्रो इन्सान नहीं होता। हां, रूस भयंकर दृश्य प्रस्तुत करता है : एक ऐसे देश का दृश्य जहां लोग अपने-आपको नामों से नहीं, वरन उपनामों से पुकारते हैं — जैसे वान्का, वास्का, स्तेश्का, पलाश्का आदि; एक ऐसे देश का जहां न केवल व्यक्तित्व, मान-मर्यादा और मिल्कियत की सुरक्षा की कोई गारण्टी नहीं, वरन जहां पुलिस की भी कोई व्यवस्था नहीं, जहां एकमात्र सरकारी चोरों और सभी काट-छांट के लुटेरों की व्यापक कार्पोरेशनों का बोलबाला है। दास-प्रथा का विनाश, शारीरिक दण्डों को रद्द करना और कम-से-कम उन कानूनों का, जो पहले से मौजूद हैं, यथाशक्ति कड़ाई के साथ पालन किया जाना — आज के रूस की ये ज्वलन्त समस्याएं हैं। शासन तंत्र स्वयं इस बात को समझता है (वह खूब अच्छी तरह जानता है कि भूस्वामी किस प्रकार अपने किसानों से पेश आते हैं और किस प्रकार वे — भूस्वामी — प्रतिवर्ष किसानों के हाथों जहन्नुम रसीद होते हैं)। यह उन भीरु और बेकार के उपायों में प्रत्यक्ष है जो श्वेत गुलामों को राहत पहुंचाने तथा एक जीभवाले कोड़े की जगह तीन जीभवाले कोड़ों का उपयोग करने के लिए अमल में लाये गये हैं।

ये तथा इसी प्रकार की अन्य समस्याएं हैं जो अलस तन्द्रा में डूबे रूस के मस्तिष्क में कुलमुला रही हैं! और ऐसे समय में रूस का एक महान लेखक, जिसकी सुन्दर, कलात्मक तथा गहरी सचाई से परिपूर्ण कृतियों ने अपनी स्थिति के बारे में रूस की चेतना को जगाने में शक्तिशाली योग दिया, उसकी आंखों के सामने एक ऐसा आईना रखा जिसमें उसने अपनी यथार्थ छवि को देखा — वही लेखक एक ऐसी पुस्तक लेकर प्रस्तुत होता है जो ईसा और गिरजा के नाम पर किसानों का और भी अधिक दोहन करने, उनके साथ और भी बुरी तरह पेश आने की सीख बर्बर भूस्वामियों को देता है! ... और तुम मुझसे आशा करते हो कि मैं विक्षुब्ध न होऊं? ... अरे, तुमने यदि मेरे जीवन पर हमला किया होता तो भी मैं तुमसे उतनी घृणा न करता जितनी अब, तुम्हारी इन घृणास्पद पंक्तियों को देखने के बाद, करता हूं ... कोढ़ में खाज यह कि तुम आशा करते हो कि पाठक तुम्हारी पुस्तक के मूल आशय की सचाई में विश्वास करें! नहीं! यदि शैतान की सीखों ने नहीं, वरन् ईसा के सत्य ने तुम्हें अनुप्राणित किया होता तो, निस्संदेह, तुम्हारी लेखनी से इससे सर्वथा भिन्न पुस्तक निकलती। तुम भूस्वामी को बताते कि तुम्हारे किसान भी मसीहे के बन्दे हैं, और चूंकि एक बन्दा दूसरे बन्दे का गुलाम नहीं हो सकता, इसलिए या तो भूस्वामी को किसानों को मुक्त कर देना चाहिए, या कम-से-कम, उन्हें अपने श्रम के फलों का उपभोग करने देना चाहिए ताकि वे, अधिक से अधिक परिमाण में, अपने हित में उन फलों का

प्रयोग कर सकें; तभी गलत सम्बंधों की उस स्थिति का—अपनी आत्मा की गहराई से जिसका वह अनुभव करता है—वह कुछ परिमार्जन कर सकेगा।

और तुम्हारे ये शब्द : "ओह तुम, गंदी थूथनी वाले, तुम !" किस नोजद्रेव या सोबाकेविच के मुंह से इन्हें चुराकर लाये हो तुम ? वाह ! किसानों के हित और प्रतिष्ठा के लिए कितना बड़ा आविष्कार किया है तुमने ! अगर वह—किसान—अपनी थूथनी नहीं धोता तो इसका कारण यह है कि उसके मालिकों ने उसे कभी अपने-आपको आदमी नहीं समझने दिया। खुद उसने भी इसे एक गनीमत समझा। रूस के लिए सजा और दण्डों की जातीय प्रणाली की तुम्हारी कल्पना, जिसका आदर्शीकरण तुमने इस बेहूदा कहावत मे पाया है कि अपराधी और निरपराधी, दोनों को, एक समान दण्डित किया जाना चाहिए ? सचमुच, हमारे यहां बहुधा ऐसा ही होता है। किन्तु, बहुत करके सजा उसी के माथे मढ़ी जाती है जो सच्चाई पर होता है, बशर्ते कि वह कुछ दे-दिला कर छूट न जाये। ऐसे मौकों के लिए एक दूसरी कहावत है : बेगुनाह, गुनहगार बना ! अब कैसे मान लिया जाय कि तुम्हारी यह पुस्तक कठोर मानसिक तपस्या, दिव्य आध्यात्मिक प्रकाश, की उत्पत्ति है ? असम्भव ! या तो तुम बीमार हो—और तुम्हें तुरन्त अपनी चिकित्सा करानी चाहिए, या फिर ...अपनी बात पूरी करते मुझे डर लगता है !...

कोड़े की व्यवस्था के प्रवर्तक, अज्ञान के पैगम्बर, दुरूहता और अभेद्य अंधकार के अग्रदूत, तातारी नैतिकता के चारण—आखिर तुम क्या करने पर कमर कसे हो ? जरा अपने पांवों के नीचे तो देखो; तुम अंधकारमय खाई के कगार पर खड़े हो ! ..सनातनी चर्च को तुम इन सीखों का आधार बनाते हो। यह मैं समझ सकता हूं। उसने हमेशा कोड़े के समर्थक और निरंकुशता के चाकर का काम किया है। लेकिन इसमें बेचारे ईसा को क्यों घसीटते हो ? उसमें और किसी भी गिरजा में—सनातनी गिरजा में तो विशेषकर—भला क्या समानता दिखाई देती है तुम्हें ? समानता, स्वतंत्रता, और बन्धुत्व की सीखों का वह पहला पेशवा था। शहादत के खून से उसने अपनी सीखों को सींचा था। सत्य की उस पर मुहर लगायी थी। और उसकी सीखें मानव की मुक्ति का साधन बनीं—केवल तब तक जब तक गिरजा के रूप वे संगठित नहीं हुई, और सनातन के सिद्धान्त को अपनी नींव नहीं बनाया। हां, मैं कहता हूं गिरजा के रूप में, जो—ईसा की सीखों के प्रतिकूल—पुरोहितशाही का गढ़ था : असमानता का हिमायती, प्रभुत्व का चाटुकार, मानवों में बन्धुत्व की भावना का शत्रु और दमनकर्ता था ! आज दिन तक उसने यही किया है और कर रहा है। ईसा की सीखों का अर्थ प्रकट किया गिरजा ने नहीं, वरन् पिछली शती के दार्शनिक आन्दोलन ने। इसीलिए वाल्तेयर जैसा आदमी, जिसने कठमुल्ला-

पन और अज्ञान के कोहरे को योरप में अपने व्यंग्य-बाणों से भेदा, पूर्व या पश्चिम के तुम्हारे उन तमाम पुरोहितों, धर्माधिकारियों, मेट्रोपोलिटनों और पैट्रियार्कों के मुकाबिले ईसा का कहीं अधिक सच्चा पुत्र है; ईसा के मांस का मांस है उसके कलेजे का टुकड़ा है ! क्या तुम इतने भोले हो कि यह सब नहीं जानते ? अरे, स्कूली बच्चों तक के लिए यह नयी चीज नहीं रह गयी ... ऐसी स्थिति में, सच कहो, क्या यह सम्भव है कि तुमने, **इन्सपेक्टर जनरल और मृत आत्माओं** के लेखक ने, पूर्ण सच्चाई के साथ, अपने अन्तरतम से, घृणित रूसी पुरोहितशाही के गीत गाये हैं, कैथोलिक पुरोहितों की तुलना में उसे सातवें आसमान पर चढ़ा दिया है ? चलो, थोड़ी देर के लिए मान लेते हैं कि तुम अजान हो, तुम्हें नहीं मालूम कि कैथोलिक पुरोहित कभी अच्छे थे; न ही यह मालूम है कि रूसी पुरोहितों ने इस संसार के प्रभुओं की चाकरी और दासता के सिवा और कुछ नहीं किया। लेकिन क्या तुम सचमुच यह कहना चाहते हो कि तुम नहीं जानते कि रूसी समाज हमारे पुरोहितों को सर्वाधिक घृणा से देखता है; रूस की जनता, रूस के आम लोग, उनसे नफरत करते है ? तुम्हीं बताओ, रूसी लोग आखिर किनके बारे में गंदे-से-गंदे किस्से सुनाते हैं ? पादरी के बारे में ! पादरी की धर्मपत्नी के बारे में ! पादरी की बेटी और पादरी के खेत-मजदूर के बारे में ! क्या सभी रूसियों की दृष्टि में, पादरी रूस में पेटूपन, लालच, चापलूसी और बेशर्मी के पुतले नहीं हैं ? क्या तुम यह कहना चाहते हो कि तुम यह सब नहीं जानते ? आश्चर्य ! तुम्हारी बात मान ली जाय तो यह मानना पडेगा कि रूसी जनता संसार में सबसे ज्यादा धार्मिक है ! झूठ ! यह झूठ है ! धार्मिकता का आधार है पवित्रता, श्रद्धा, ईश्वर का भय। और रूसी, ईश्वर का नाम लेते समय, अपने एक हाथ से कहीं खुजाया करता है। देवता की प्रतिमा के बारे में वह कहता है : '**प्रार्थना के काम की न हुई तो बरतन-भांडे ढंकने के काम तो आ ही जायेगी।**'

जरा और ध्यान से देखो। तुम्हें पता चल जायेगा कि रूसी घोर अनीश्वरवादी प्रकृति के लोग हैं। अंधविश्वासों की उनमें अभी-काफी भरमार है, किन्तु धार्मिकता नाम को भी नहीं। अंधविश्वास तो सभ्यता की उन्नति के साथ लोप हो जाते हैं, किन्तु धार्मिकता बहुधा बाद में भी जारी रहती है। फ्रान्स में इसकी जीवित मिसाल देखी जा सकती है। वहां प्रबुद्ध और शिक्षित लोगों के बीच आज भी कितने ही सच्चे कैथोलिक मिल जायेंगे। इतना ही नहीं। वहां उन लोगों में भी, जो ईसाई धर्म को तिलांजलि दे चुके हैं, कितने ही ऐसे हैं जो किसी न किसी रूप में ईश्वर से अभी भी हठपूर्वक चिपके हैं। रूसी जाति उनसे भिन्न है। रहस्यवाद का आनन्द उसकी प्रकृति के लिए दूर की वस्तु है। उसकी सामान्य बुद्धि इतनी प्रबल है, उसका मस्तिष्क इतना स्वच्छ और यथार्थपूर्ण है

कि रहस्यवाद की उसमें गुजर नहीं। और, शायद इसी में, भविष्य में, उसके ऐतिहासिक भाग्य की व्यापकता निहित है। और तो और, स्वयं पुरोहित वर्ग में भी धार्मिकता अपनी जड़ें नहीं जमा सकी। कुछ इक्के-दुक्के, पृथक, अपने-आप में सिमटे, वीतरागी व्यक्तित्व यदि, निरुद्वेग, संन्यस्त चिन्तन में डूबे भी रहते हैं, तो इसमें कुछ सिद्ध नहीं होता। किन्तु हमारे पुरोहितों का बहुलांश अपनी मोटी तोंदों, अपने लालबुझक्कड़ी पण्डिताऊपन और अपने बर्बर अज्ञान के लिए विख्यात है। धार्मिक असहनशीलता और कट्टरपन का दोष उनके सिर मढ़ना शर्मनाक है। उल्टे हमें उनकी तारीफ करनी चाहिए, — उस अनुकरणीय उपेक्षा के लिए जो धर्म के मामलों में वे प्रदर्शित करते हैं। धार्मिकता हमारे यहां केवल पृथकतावादी पंथों में दिखायी दी थी जो अधिकांश जन-समूह की आत्मा से बहुत ही भिन्न और संख्या की दृष्टि से बहुत ही नगण्य थे।

रूसी लोगों और उनके प्रभु तथा स्वामियों के बीच मौजूद प्रेमपूर्ण सम्बंधों का जो राग तुमने अलापा है, उसके विस्तार में मैं नहीं जाऊंगा। दो शब्दों में इतना ही कहूंगा : तुम्हारा वह गुण-गान कहीं भी, किसी की भी, महानुभूति नहीं पा सका है, और उसने उन लोगों की नजरों में भी तुम्हें नीचे गिरा दिया है जो बाकी मामलों में तुम्हारे दृष्टिकोण के बहुत नजदीक हैं। जहां तक मेरा सम्बंध है, मैं इस — एकतंत्रशाही के दिव्य सौन्दर्य के इस गुण-गान को — तुम्हारी आत्मा पर छोड़ता हूं (ऐसा करना उचित भी है और लाभप्रद भी)! लेकिन सुन्दर-सुदूर से ही तुम उसकी सराहना जारी रखना। निकट से न तो वह इतना आकर्षक मालूम होगा, और न सुरक्षित ही ...। हां, इतना मैं जरूर कहूंगा : जब किसी योरोपीय में, खासतौर से कैथोलिक में, धार्मिकता जोश मारती है तो वह हिब्रू पैगम्बरों की भांति अन्यायी अधिकारतंत्र का खंडक बन जाता है, जो इस धरती के महान प्रभुओं के अन्याय का खंडन करते थे। हमारे यहां ठीक इससे उलटा होता है : जैसे ही कोई व्यक्ति (चाहे वह ख्याति प्राप्त क्यों न हो) इस रोग का — जिसे मनोविज्ञानविद 'धर्म का भूत सवार होना' कहते हैं — शिकार होता है, वैसे ही स्वर्गलोक के देवता के बजाय इस लोक के देवता के आगे धूप-दीप जलाना शुरू कर देता है। ऐसा करने के लिए वह इतना आगे बढ़ता है कि देवता गुलामी में पगे उसके जोश के लिए उसे पुरस्कृत करते हिचकता है, — इस डर से कि अगर समाज ने उसे ऐसा करते देख लिया तो इसमें उसकी हेठी होगी ... ओह, कितना काइयां होता है हमारा यह रूसी जीव भी! ...

एक बात और जो तुमने अपनी पुस्तक में कही है, और दावा किया है कि वह एक महान और अटल सत्य है, यह है कि साक्षरता केवल बेकार ही नहीं, बल्कि आम लोगों के लिए निश्चित रूप से हानिकर है। अब, इसके बारे में

भला मैं क्या कह सकता हूं ? कामना करता हूं कि तुम्हारा बाइजेंन्टीन खुदा इस बाइजेंन्टीन विचार के लिए तुम्हें माफ करे, बशर्ते कि, इसे कागज पर लिखते समय, तुम्हें ध्यान न रहा हो कि तुम क्या लिख रहे हो ... लेकिन शायद तुम कहो : 'मान लो कि मैंने गलती की, और यह कि मेरे सभी विचार गलत हैं, लेकिन गलती करने के अधिकार से मुझे वंचित क्यों किया जाय ? लोग मेरी गलतियों की सदाशयता पर क्यों सन्देह करें ?' इसलिए — जवाब में मैं कहूंगा — कि इस तरह की बात रूस में न जाने कब से पुरानी पड़ चुकी है। अधिक दिन नहीं हुए जब बुराचोक और उसके सहपंथियों ने इसे निचोड़कर खुश्क कर दिया था। निस्संदेह, उनकी कृतियों की तुलना में तुम्हारी पुस्तक कहीं अधिक बौद्धिकता और प्रतिभा का परिचय देती है (हालांकि यथेष्ट मात्रा में नहीं) लेकिन उन्होंने तुम्हारे इस समान सिद्धान्त को कहीं अधिक जोश और अडिगता के साथ विकसित किया, साहसपूर्वक उसके अन्तिम नतीजे तक वे पहुंचे, सभी कुछ बाइजेंन्टीन खुदा के चरणों पर चढ़ा दिया और शैतान के लिए कुछ भी बाकी नहीं छोड़ा। और तुम ? ... तुम दोनों के आगे एक-एक बत्ती जलाने चले और दोनों के बीच में फंस गये। मिसाल के लिए, पुश्किन, साहित्य और नाटक को तुम सराहते हो जो सब, तुम्हारे मत के मुताबिक — काश तुम में इतना चेत होता कि अपनी ही बात को न काटते — किसी माने में भी आत्मा की मुक्ति का साधक नहीं बन सकता, उल्टे उसे जहन्नुम रसीद करने के लिए बहुत कुछ कर सकता है... भला, किसका दिमाग था जो इस विचार को पचा सकता कि गोगोल और बुराचोक एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं ? तुमने अपने-आपको रूसी जनता से इतना ऊंचा उठा लिया है कि वह तुम्हारे इन विश्वासों की सचाई पर यकीन करने में असमर्थ है। मूर्खों में जो चीज स्वाभाविक मालूम होती है, क्या उसे प्रतिभा के धनी लोगों में भी वैसा ही माना जाय ? कदापि नहीं ! कुछ लोगों को ऐसा लगता है कि तुम्हारी पुस्तक पागलों जैसे मानसिक-असन्तुलन का नतीजा है। लेकिन उनकी यह धारणा टिक नहीं पाती, अगले ही क्षण वे इसे रद्द कर देते हैं। कारण यह कि इस पुस्तक को लिखने में स्पष्ट ही एक दिन, या सप्ताह, या महीना नहीं, बल्कि बहुत सम्भव है कि एक, दो, या तीन वर्ष लगे हों। इसमें सम्बद्धता है, इसके लापरवाह प्रतिपादन में पूर्व-चिन्तन की झलक मिलती है। हाकिमे-वक्त को — सत्ता के प्रभुओं को — धूप-नैवेद्य चढ़ाकर भक्त लेखक ने इस लोक में अपने जीवन को निष्कंटक बना लिया है। इसी कारण सन्त पीतर्सबर्ग में अफवाह फैली है कि यह पुस्तक तुमने गद्दी के उत्तराधिकारी के सुपुत्र के ट्यूटर बनने के उद्देश्य से लिखी है। इससे पहले उवारोव को लिखे गये तुम्हारे पत्र की चर्चा से पीतर्सबर्ग गर्म था। इस पत्र में तुमने अफसोस प्रकट किया था — यह कहते हुए कि रूस के बारे में तुम्हारी

कृतियों को गलत समझा गया। इतना ही नहीं, तुमने यह भी लिखा कि अपनी पहली कृतियों से खुद तुम असन्तुष्ट हो। तुमने घोषित किया कि तुम्हारी कृतियां केवल तभी तुम्हें खुश कर सकती हैं जब जार को भी उनसे खुशी प्राप्त हो। अब, तुम्हीं निर्णय करो, ऐसी हालत में अगर तुम्हारी पुस्तक जनता की नजरों में—एक लेखक की हैसियत से और इससे भी ज्यादा एक इन्सान की हैसियत से—तुम्हें नीचे गिरा देती है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? ...

तुम, जहां तक मैं देख सकता हूं, रूसी जनता को ठीक से नहीं समझते। उसका चरित्र रूसी समाज की परिस्थति से निश्चित होता है जिसमें नयी शक्तियां अपने-आपको व्यक्त करने के लिए उमड़ रही हैं किन्तु भारी उत्पीड़न से दबी होने के कारण जिन्हें निकासी का कोई रास्ता नहीं मिलता और वे केवल निराशा, उदासीनता और पीड़ा को जन्म देती हैं। केवल साहित्य में ही, बावजूद तातार सैन्सरशिप के, जीवन और प्रगति के कुछ चिन्ह दिखायी देते हैं। इसी कारण, हमारे यहां, लेखक के पद का इतना अधिक सम्मान है; इसी कारण उस लेखक के लिए भी जिसकी प्रतिभा नगण्य होती है, साहित्यिक सफलता काफी आसान हो गयी है। कवि और लेखक के पद ने, एक अर्से से, लकदक वर्दियों और तमगों-बिल्लों की आभा को फीका कर दिया है। और यही, खासतौर से यही, वह चीज है जो इस रहस्य को प्रकट करती है कि प्रत्येक तथाकथित उदार प्रवृत्ति—प्रतिभा में लाख क्षीण होने पर भी—क्यों सार्वभौम सम्मान का पात्र बन जाती है; क्यों महान से महान प्रतिभाओं की ख्याति को भी—सचाई से या गैर सचाई से—रूढ़िवाद, एकतंत्र शाही और जातीयता के तलवे सहलाना शुरू करते ही धूल में मिलते जरा भी देर नहीं लगती। पुश्किन इसकी एक ज्वलन्त मिसाल है। शाही स्वर में स्वर मिलाकर और कामेर-जकर का चोला धारण करके केवल एक या दो ही पद उसने लिखे होंगे कि उसकी जनप्रियता, एकदम अचानक, धूल में मिल गयी। और अगर तुम यह समझते हो कि तुम्हारी पुस्तक की इस दुर्दशा का कारण यह नहीं है कि वह बुरी है, बल्कि यह है कि तुमने उसमें हरेक के बारे में खरी-खरी बातें कही हैं तो यह तुम्हारा भारी भ्रम है। अगर यह मान भी लिया जाय कि लेखकों की बिरादरी इसी कारण चिढ़ गयी है, तो जनता के लिए तुम क्या कहोगे? **इन्सपैक्टर जनरल और मृत आत्माओं** में क्या तुमने कुछ कम कटु भीतरी सत्यों को उघारा है? क्या कुछ कम कठोरता, कुछ कम सचाई और कम प्रतिभा के साथ उन्हें व्यक्त किया है? बिलाशक, पुराने पंथ ने गुस्से से तमतमाते हुए तुम्हारे खिलाफ तोपें दागीं, लेकिन **इन्सपैक्टर जनरल और मृत आत्माओं** का बाल तक बांका नहीं हुआ, जबकि तुम्हारी नयी पुस्तक को पूर्ण और शर्मनाक विफलता की धूल चाटते जरा भी देर नहीं लगी। और इसमें रूसी जनता सही है। रूसी लेखकों

को वह अपने एकमात्र पेशवा के, रूसी एकतंत्रशाही, रूढ़िवाद और जातिवाद के विरुद्ध अपने एकमात्र रक्षक तथा उद्धारक के रूप में देखती है। यही कारण है कि बुरी रचना के लिए लेखक को माफ करने के लिए जहां वह हमेशा तैयार रहती है, वहां कुत्सित-कुटिल पुस्तक के लिए उसे कभी माफ नहीं करती। इससे पता चलता है कि हमारे समाज में, बीज रूप में, कितने अधिक परिमाण में ताजी, स्वस्थ और सहज चेतना निहित है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि उसका भविष्य उज्ज्वल है। अगर तुम रूस को प्यार करते हो, तो आओ, मेरे साथ अपनी इस पुस्तक की विफलता पर हर्ष मनाओ!...

सच मानो, और यह बात किसी हद तक आत्म-संतोष की भावना के साथ कह सकता हूं, कि रूसी जनता को मैं थोड़ा-बहुत जानता हूं। मेरी आशंका यह नहीं कि जनता पर पुस्तक का बुरा प्रभाव पड़ेगा, बल्कि सम्भावना सरकार और सेंसर पर बुरा प्रभाव पड़ने की है। जब पीतर्सबर्ग में यह अफवाह फैली थी कि सरकार तुम्हारी पुस्तक को हजारों की संख्या में प्रकाशित करने तथा बेहद सस्ते दामों में बेचने का इरादा कर रही है तो मेरे मित्र उदास हो उठे थे। मैंने तभी उनसे कहा कि यह पुस्तक, इस सब के बावजूद, कतई सफल नही होगी, और देखते न देखते विस्मृति के गर्भ में पहुंच जायगी। और सचमुच, इस पुस्तक की याद अब उन लेखों में ही मिलती है जो इसके बारे में लिखे गये। खुद पुस्तक का जहां तक सम्बंध है, उसे कोई नहीं पूछता। निस्संदेह रूसियों में सत्य की गहरी सहज चेतना मौजूद है, हालांकि वह अभी अविकसित है।

अपने इस हृदय-परिवर्तन में, हो सकता है, तुमने ईमानदारी से रंग बदला हो। लेकिन इसे जनता की आंखों के सामने रखने की तुम्हारी सूझ बेहद गलत थी। वे दिन अब हमारे समाज में भी नहीं रहे जब औघड़ धार्मिकता की दाल गल जाती थी। हमारा समाज भी अब समझ गया है कि माला जपने या न जपने से कोई फर्क नहीं पड़ता, और यह कि केवल वही लोग ईसा तथा यरूसलम की ओर लपकते हैं जिनके हृदय में कभी प्रभु का वास नहीं रहा था, जो उसे अपने हृदय से निष्कासित कर चुके हैं। दूसरों के दुःख को जो अपना दुःख समझने की क्षमता रखता है, दूसरों का उत्पीड़न देखकर जिसका हृदय व्यथा से भर उठता है, उसे यरूसलम की यात्रा करने की जरूरत नहीं, वह ईसा को अपने वक्ष में वहन करता है। दीनता की जिस भावना का तुम प्रचार करते हो वह, प्रथमतः, कोई नयी चीज नहीं है, और दूसरे, मानव के आत्मगौरव की भावना का वह अत्यन्त शर्मनाक अपमान है। एक तरह की हवाई पूर्णता प्राप्त करने, दीनता की डोर पकड़कर अन्य सबसे ऊंचा उठने का यह भाव या तो अहंकार की उपज है, या फिर पागलपन की; और इन दोनों

दशाओं में, अनिवार्यतः वह कपटाचरण, ढोंग और पाखण्ड को जन्म देता है। फिर, अपनी पुस्तक में तुमने, न केवल दूसरों के साथ ही (जिसे महज शिष्टाचार का अभाव कहकर टाला जा सकता है) वरन् स्वयं अपने साथ भी मनमानी की है। और यह कुत्सित है। जब कोई अपने पड़ोसी के गाल पर थप्पड़ मारता है तो उसे ऐसा करते देखकर क्षोभ का संचार होता है, किन्तु यदि कोई खुद अपने ही गाल पर तमाचे मारे तो इसे घिनौना ही कहा जायगा। नहीं, तुम्हारे अंतर की जोत नहीं जगी है; उस पर धुंध का काला कम्बल पड़ा है। तुम हमारे आज के युग की ईसाइयत को न तो आत्मा को ही पकड़ सके हो, और न उसके रूपों को ही। तुम्हारी पुस्तक ईसा की सच्ची सीखों से अनुप्राणित नहीं, वरन् मृत्यु, शैतान और नरक के विकृत भय से किलबिला रही है!

तुम्हारी भाषा! और वे फिकरे जो तुमने इस्तेमाल किये हैं! "प्रत्येक व्यक्ति आज कूड़े का पात्र और चीथड़ा दृष्टिगोचर होता है।" क्या तुम सचमुच समझते हो कि 'ढेर' की जगह पात्र और 'नजर आता' की जगह 'दृष्टि-गोचर' कहकर तुमने भाषा को देव-वाणी बना दिया है? कितना सच है कि जब आदमी पूर्णतया झूठ का व्यापार करने लगता है तो समझदारी और प्रतिभा उसमें विदा हो जाती हैं। अगर यह पुस्तक तुम्हारे नाम से न छपी होती तो कोई सपने में भी नहीं सोच सकता था कि यह बेहूदा और वीभत्स शब्दाडम्बर इन्स्पैक्टर जनरल और मृत आत्माओं के लेखक का कृतित्व है!

और जहां तक इसका खुद मुझसे सम्बंध है, मैं फिर कहता हूं: तुम्हारा यह सोचना गलत है कि अपनी आलोचना पर तुम्हारी टिप्पणी से नाराज होकर मैंने तुम्हारे खिलाफ लिखा, अपना बुखार उतारा। अगर मेरी नाराजी का इतना ही कारण होता तो मैं केवल उसी अंश की धज्जियां उड़ाता और बाकी सब के प्रति कोई उद्वेग न प्रकट करता। फिर, अपने प्रशंसकों की तुमने जो आलोचना की है, वह तो सचमुच और भी कुत्सित है। माना कि कुछ मूर्ख लोग प्रशंसा और आनंदातिरेक में इतने उलटे हो जाते हैं कि उनकी प्रशंसा का पात्र हास्यास्पद हो उठता है, और कभी-कभी उन्हें चपतियाने की भी जरूरत पड़ सकती है। लेकिन यह स्थिति भी कुछ सुखद नहीं कही जा सकती। कारण, मानव का स्वभाव है कि उससे, झूठी प्रशंसा तक का, दुश्मनी से जवाब नहीं देते बनता। लेकिन तुम्हारे प्रशंसक तो ऐसे लोग थे जिन्हें—भले ही वे अद्भुत सूझ-बूझ के धनी न हों—मूर्ख नहीं कहा जा सकता। इन प्रशंसकों ने तुम्हारी कृतियों की अपनी प्रशंसाओं में जितना उद्गारों से काम लिया है उतना गहराई से नहीं। फिर भी, तुम्हारे प्रति उनका यह उछाह इतना निर्मल और स्वच्छ था कि उनके साथ दगा कर उनकी गरदन को दुश्मन के हाथों में नहीं

सौंपा जा सकता था। इतना ही नहीं, तुमने उन पर यह आरोप लगाया कि वे तुम्हारी कृतियों के गलत अर्थ लगाते रहे हैं। निस्संदेह, अपनी पुस्तक की भाव-धारा में तुम इतना बह गये कि दोस्त-दुश्मन का कुछ ध्यान नहीं रहा। लेकिन व्याजेम्स्की ने, कुलीनों के उस सिरमौर और साहित्य के क्षेत्र के उस गुलाम ने, तुम्हारी भाव-धारा को विकसित करते हुए अपनी कृति में तुम्हारे प्रशंसकों पर—और परिणामतः मुझ पर सबसे अधिक—कोलतार का पोचारा फेरा। शायद तुम्हारे प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए उसने ऐसा किया। अगर मैं भूलता नहीं तो तुमने इस तुक्कड़ को—'सारहीन तथा नीरस पदों' के इस रचयिता को—आसमान पर चढ़ाकर महान कवि का पद प्रदान किया था। यह सब बड़ा कुत्सित है। मैं नहीं जानता था कि तुम अपने प्रशंसकों से हिसाब चुकता करने की ताक में थे (पहले, दीनता के दम्भ के साथ, दुश्मनों को अपना देय चुकाने के बाद)। न, मैं यह नहीं जान सकता था? मैं स्वीकार करता हूं, मैं यह जानना भी नहीं चाहता था। मेरे सामने तुम्हारी पुस्तक ही थी, तुम्हारे इरादे नहीं। मैंने उसे पढ़ा, फिर पढ़ा, सैकड़ों बार पढा, और मैंने वही लिया जो उसमें मौजूद था, वह नहीं जो उसमें नहीं था। और, जो कुछ उसमें था, उसने मेरे हृदय पर गहरा आघात किया, मेरी आत्मा में चिनगारियां उकसा दीं।

यदि मैं अपने भावों को मुक्त होकर व्यक्त करना शुरू करूं तो यह पत्र एक भारी ग्रंथ बन जायगा। इस विषय पर कुछ लिखने का कोई इरादा नहीं था, यद्यपि इच्छा अवश्य थी और हालांकि तुमने, छापे में, हर खास व आम को न्यौता दिया था कि वह, बिना किसी औपचारिकता के, केवल सत्य को दृष्टि में रखते हुए, तुम्हें लिखे। यदि मैं रूस में होता तो ऐसा न कर पाता। कारण, स्थानिक 'श्पेकिन' दूसरों के पत्र खोल डालते हैं—केवल अपने आनन्द के लिए नहीं, वरन् सरकारी फर्ज अदा करने के लिए, मुखबरी करने के लिए। इस साल, गर्मियों में, तपेदिक की बदौलत—अभी शुरूआत ही है—मुझे विदेश आना पड़ा (नेक्रासोव ने तुम्हारा पत्र यहां—साल्जब्रुन्न—भेज दिया और यहां से, आन्नेन्कोव के साथ, फ्रांकफोर्ट-ऑन-मेन होते हुए, आज ही पेरिस के लिए रवाना हो रहा हूं)। तुम्हारे पत्र के इस अप्रत्याशित आगमन ने वह सब कुछ उंडेलकर रखने के लिए मुझे तैयार कर दिया जो तुम्हारी पुस्तक को लेकर इतने दिनों से मेरे हृदय में तुम्हारे खिलाफ संचित था। आधी बात कहना मैं नहीं जानता, न ही मैं कुछ लुकाता-छिपाता हूं, यह मेरी प्रकृति नहीं है। यह सिद्ध करना तुम्हारे, या खुद समय के हाथ में है कि मैं गलत नतीजों पर पहुंचा हूं। यदि ऐसा हुआ तो मैं इस पर खुशी प्रकट करूंगा, लेकिन जो कुछ मैंने तुमसे कहा है, उस पर पश्चात्ताप कभी नहीं करूंगा। यह तुम्हारे या मेरे

व्यक्तित्व का प्रश्न नहीं है, इसका सम्बंध एक ऐसी चीज से है जो मुझसे—और तुमसे भी—कहीं अधिक महान है! वह चीज है सत्य, रूसी समाज, रूस! और अब, अन्त में, इतना ही मैं और कहूंगा : दुर्भाग्यवश, दीनता के दम्भ में, जहां तुमने अपनी वास्तव में महान कृतियों को तिलांजलि दी, वहां अब, सच्ची दीनता के साथ, विनयशीलता के साथ, अपनी इस अन्तिम पुस्तक का विसर्जन करो और नयी कृतियों की रचना करके इसको प्रकाशित करने के घोर पाप का परिमार्जन करो, ऐसी कृतियों की रचना करके जो तुम्हारी पुरानी कृतियों की स्मृति को अमर बनायें।

साल्जब्रुन्न,

१५ जुलाई, १८४७

❀

अलेक्जेंडर इवानोविच हर्जन

[१८१२—१८७०]



[जन्म : २५ मार्च, १८१२]

[मृत्यु : ६ जनवरी, १८७०]

जीवन-वृत

उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध का दूसरा दशक। मास्को के एक भद्र परिवार में — इवान याकोवलेव हर्ज़न के घर — २५ मार्च, १८१२ को एक जारज पुत्र जन्मा। पुत्र का नाम रखा गया : अलेक्जेंडर इवानोवाविच हर्ज़न।

उन दिनों भद्र परिवारों ने एक ओर जहां लुटेरों, शराबियों और जुआरियों को जन्म दिया, वहां दूसरी ओर क्रान्तिकारी विचारकों को भी। हर्ज़न इस दूसरी कोटि के लोगों में से थे। लेनिन के शब्दों में : "उन्नीसवीं शती के पांचवे दशक में वह उच्चता के उस शिखर पर पहुंचे जहां तत्कालीन महानतम विचारकों में उनकी गणना हुई!"

हर्ज़न की शिक्षा-दीक्षा के लिए किसी प्रकार का धनाभाव नहीं था। किन्तु वह अपने विचारों को कहां छिपाते? २४ वर्ष की आयु में, "खतरनाक विचारों" के अपराध में, उन्हें मास्को विश्वविद्यालय से गिरफ्तार किया गया और व्यात्का में नजरबन्द कर दिया गया। व्यात्का में उन्होंने कई वर्षों तक क्लर्की की। नजरबन्दी की अवधि समाप्त हुई और उन्हें व्लादिमीर लौट आने दिया गया; यहां उन्होंने सरकारी गजट के सम्पादन का कार्य संभाला।

१८४० में हर्ज़न को मास्को आने की अनुमति मिल गयी। किन्तु कुछ ही समय बाद "खतरनाक कार्रवाइयों" के अपराध में उन्हें फिर गिरफ्तार करके नोवगोरोद भेज दिया गया। वहां दो साल तक उन्होंने सरकारी दफ्तरों में काम किया।

१८४६ में हर्ज़न के पिता की मृत्यु हुई और १८४७ में ही वह देश से निकल पड़े — फिर कभी वापिस न लौटने के लिए।

अभी हर्जन इटली में ही थे कि उन्होंने फ्रांस की १८४८ की क्रान्ति का समाचार सुना। वह तुरत वहां पहुंचे और बहुत कुछ देखा, सुना, समझा। फ्रांस से वह स्विटजरलैंड गये; वहां से १८५२ में लन्दन। काफी समय तक वह लन्दन में ही रहे।

साहित्य के क्षेत्र में हर्जन ने अपने उपन्यास *किसकी भूल* के साथ प्रवेश किया। इसी काल में उन्होंने अनेकों कहानियां भी लिखीं; *अधूरी कहानियों* के नाम से १८५४ में ये लन्दन से प्रकाशित हुईं।

उनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचनाएं *सागर के उस पार से* तथा *फ्रांस से पत्र* हैं। इन रचनाओं में प्रतिपादित जनवादी विचारों ने रूसी साहित्यकारों तथा उनकी कृतियों पर गहरा प्रभाव डाला। योरप में क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास को समझने के लिए हर्जन के *संस्मरण* भी आवश्यक पाठ्य-पुस्तक के समान हैं।

लन्दन में हर्जन ने एक स्वतंत्र प्रेस की स्थापना की और *ध्रुवीय नक्षत्र* नामक एक साहित्यक पत्रिका तथा राजनीतिक पत्रिका *घन्टी* प्रकाशित की। १८६५ में वह इस पत्रिका को जेनेवा ले गये और १८६८ तक यह वहीं से प्रकाशित होती रही। इन पत्रिकाओं ने रूस के जन-आन्दोलन को बल पहुचाने में अभूतपूर्व काम किया तथा क्रान्तिकारी विचारधारा के बीज रोपे।

बहुत समय तक हर्जन की रचनाएं रूस में प्रवेश न पा सकी थीं। किन्तु, १८५५ में जार निकोलस की मृत्यु के बाद हर्जन के विचार दावानल की भाँति रूस के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल चले। अब उनकी रचनाओं की लोक-प्रियता की कोई सीमा नहीं थी।

९ जनवरी, १८७० को पेरिस में उनकी मृत्यु हुई।

उद्बोधन

मानव केवल चिन्तनशील ही नहीं, क्रियाशील प्राणी भी है। कला वस्तुओं का चित्रण करती है, विज्ञान उनका ज्ञान प्रदान करता है। आज के युग की मांग है कि जो ज्ञान प्राप्त किया है, उसे वास्तविक जीवन में मूर्त किया जाय।

◇ ◇ ◇

मानव समस्त सृष्टि का पैमाना है। उसमें वह कुन्जी निहित है जिससे पता चलता है कि हर वह चीज जो है, क्यों है, और हर वह चीज जो नहीं है, क्यों नहीं है—प्रोटागोस के इन महान शब्दों का यूनानी चिन्तन में एक उत्कृष्ट बन्दनवार का स्थान है।

◇ ◇ ◇

क्रियाशीलता में हृदय और मस्तिष्क अपनी चरितार्थता प्राप्त करते हैं। गोचर जगत में वे उस चीज को मूर्त करने में सफल होते हैं जो बीज रूप में निहित थी।

◇ ◆ ◇

द्वन्दात्मकता मानव-जाति के सजीव इतिहास की एक विशिष्टता है, मानव की नब्ज की धड़कन की भांति—केवल इस अन्तर के साथ कि इसकी प्रत्येक धड़कन मानव-जाति के लिए आगे बढ़ा हुआ कदम होती है।

◇ ◇ ◇

विज्ञान में चिन्तन और सत्ता ने अपनी अभिन्नता को फिर से प्राप्त किया, किन्तु जीवन की परिस्थितियां चिन्तन की करनी का फल हैं और उनका पूर्ण समाधान करनी में ही निहित है।

चिन्तन में मानव का अस्तित्व केवल सूक्ष्म और निराकार रूप में रहता है ... केवल सचेत, नैतिक रूप में मुक्त और अत्यन्त आवेगमय क्रिया ही एक ऐसी चीज है जो मानव को इस गोचर जगत में, न केवल वास्तविक रूप और परिवेश ही, वरन् अमरता भी, प्रदान करती है।

◇ ◇ ◇

अहंवाद सार्वभौम से घृणा करता है, मानव को मानव-जाति से विछिन्न करता है, उसे सार्वतारिक्त, सबसे विलग, बना देता है। अपने व्यक्तित्व के अलावा सभी कुछ उसके लिए गैर होता है। वह अपने चारों ओर कुछ ऐसा कुत्सित वायुमण्डल लिए घूमता है कि प्रकाश की कोई भी किरण, बिना अपने को विकृत किये, उसमें प्रवेश नहीं कर सकती !

◇ ◇ ◇

अन्त की ओर देखना, और उस चीज को न देखना जो सामने मौजूद है—इससे बड़ी गलती दूसरी नहीं हो सकती !

◇ ◇ ◇

भविष्य अनागत है। हजारों प्रकार की परिस्थितियां—जो अनिवार्य हैं वे भी, और जो आकस्मिक हैं, वे भी—साथ में मानव की इच्छा और आकांक्षाएं, जो अप्रत्याशित उलट-फेरों तथा नाटकीय घटनाओं को जन्म देती हैं—समग्र रूप में ये सब अनागत का निर्माण करती हैं। इतिहास विकास करता है, किन्तु अपने को दोहराता कभी नहीं। हर अवसर से वह लाभ उठाता है, एक साथ सहस्रों द्वारों को वह खटखटाता है। और, कोई नहीं कह सकता कि ये द्वार खुलेंगे या बंद रहेंगे !

◇ ◇ ◇

एक जमाना था जब लोग रहस्य का हल बादलों में और गहराइयों में खोजते थे। वे आकाश की ऊंचाइयों को छूने के लिए ऊपर को उड़ते या गहराइयों को नापने के लिए नीचे अतल में डुबकी लगाते थे; किन्तु पल्ले कुछ न पड़ता था। कारण, प्रमुख तत्व ठीक उनकी आंखों के सामने मौजूद थे।

हमारा इतिहास

रूस की जनता का अतीत अंधेरे में छिपा है; उसका वर्तमान भयावह है, किन्तु भविष्य पर उसके दावे को कोई नहीं छीन सकता। वर्तमान उसके लिए अमिट और अडिग नहीं है। साहस के साथ वह भविष्य से बहुत कुछ पाने की आशा करता है, क्योंकि अतीत ने उसे कुछ भी नहीं प्रदान किया है!

रूस में परियों की एक कहानी दूर-दूर तक प्रचलित है। यह कहानी एक जार के बारे में है। उसे अपनी पत्नी पर संदेह था कि वह दुराचारिणी है उसने उसे और उसके लड़के को पीपे में बंद किया, ऊपर से मोहर लगायी और पीपे को समुद्र में फेंकवा दिया।

सालों तक पीपा समुद्र की लहरों के थपेड़े खाता और बहता रहा।

इस बीच जारेविच, जारिना का लड़का, दिन-दिन नहीं बल्कि हर घड़ी बड़ा होता जा रहा था, और उसका सिर तथा पांव पीपे में नहीं समा पा रहे थे। हर दिन वह अधिकाधिक घुटन का अनुभव करता था। अन्त में उसने अपनी मां से कहा :

'रानी मां, मुझे अपने पांव पसारने और खुलकर सांस लेने की अनुमति दो।"

"मेरे लाल!" जारिना ने उत्तर दिया, "ऐसा नहीं करते। पीपा टूट जायगा और समुद्र का खारी जल तुम्हें निगल जायेगा!"

जारेविच एक क्षण चुप रहा। फिर कुछ सोचकर उसने कहा :

"नहीं मां, मुझसे नहीं रहा जाता। एक बार पांव फैलाकर आजादी के सांस तो ले लूंगा फिर चाहे जो हो।"

इस लघु कथा में ... हमारा समूचा इतिहास छिपा है।

मृत्यु को पहचान

बहुत से लोग हैं जो केवल इसलिए सामने आने पर भी मृत्यु को नहीं पहचान पाते कि वे मृत्यु को विनाश से सम्बद्ध करते हैं। किन्तु मृत्यु तत्वों का विनाश नहीं करती। वह केवल उनका रूप-परिवर्तन करती है।

सत्य के रूप

सत्य, और सत्य के सिवा अन्य कुछ नहीं ! —सभी कालों और युगों के दर्शनों ने सत्य की इस उपलब्धि या खोज को अपनी विषय-वस्तु बनाया है। अनेक कोणों से उसे देखा गया। भिन्न-भिन्न प्रकार से उसे अभिव्यक्त किया गया। प्रत्येक भिन्न मत ने एक स्कूल, पंथ अथवा प्रणाली को जन्म दिया। अनेक एकांगी परिभाषाओं की शृखला से गुजरते हुए सत्य ने उत्तरोत्तर अधिक समृद्ध तथा अधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति प्राप्त की। दो मान्यताओं अथवा धारणाओं के बीच प्रत्येक द्वन्द्व ने एक के बाद एक आवरणों को विदीर्ण किया। कल्पनाओं, छवियों और विचारों का वह भंवर जिसके द्वारा मानव अपनी अन्तरतम भावनाओं को व्यक्त करने का प्रयास करता था, वायवी बनकर विलीन होता गया और चिन्तन ने अपनी सच्ची भाषा प्राप्त की। एक भी दार्शनिक पंथ ऐसा नहीं जो विशुद्ध झूठ पर आधारित हो। हर सिद्धान्त किसी न किसी प्रामाणिक तत्व की, परमपूर्ण की, नींव पर आधारित है। वह अपनी स्थिति से नियमित और उस एकांगी परिभाषा से सीमित है जो उसे पूरी तरह से स्पष्ट नही कर पाती। यदि कोई ऐसा दर्शन दिखायी दे जिसके उद्गम, उद्भव और पंथ का आधार असंगत प्रतीत हो, तो आप में कम से कम इतनी बौद्धिक शिष्टता और शालीनता होनी चाहिए कि उसकी वाह्य स्वरूपगत अभिव्यक्ति को न देखकर उसके भीतरी अर्थ को जानने का प्रयत्न करें—उस अर्थ को जिसे स्वयं वह पंथ अपने सिद्धान्त से सम्बद्ध करता है। तब, निश्चय ही, परम-पूर्ण झूठ नहीं वरन् एकांगी सत्य आपको वहां दिखायी देगा। इसीलिए विज्ञान के विकास का प्रत्येक क्षण—एकांगी और क्षणगत होने पर भी—अनिवार्यतः, हमें एक ऐसी विरासत सौंपता है जो चिरन्तन होती है। उसका विशिष्ट और एकांगी अंश विज्ञान के पदतल में कुछ दिन छटपटाकर विदा हो जाता है और अपनी अन्तिम चिरन्तन सांस, अपना आत्मगत सत्य, उसमें फूंक जाता है। चिरन्तन की सार्थकता भी ठीक इसी में निहित है कि वह क्षणगत के चिरन्तन सत्य को विकसित करे।

चिर सुन्दर और चिर नवीन

गेटे का कहना था कि सौन्दर्य अनित्य है, क्योंकि केवल वही सुन्दर हो सकता है जो अनित्य और कालातीत है। किन्तु लोगों को यह ठीक नहीं लगता।

मानव का यह स्वभाव है कि वह उस सबको, जो उसे सुखकर-सुहावना मालूम होता है, सुरक्षित रखना चाहता है। एक बार जन्म लेने के बाद वह इस तरह जीना चाहता है कि वह अमर रहे, एक बार प्रेम के अंकुरों का उदय होने पर वह जीवनपर्यन्त प्रेम करने और प्रेम किये जाने के लिए ललकना है—चाहता है कि उस क्षण का, जब पहली बार उसके हृदय में प्रेम का अंकुर फूटा था, कभी अन्त न हो! पचास का होने पर वह जीवन को कोसता है: अब उसमें वह ताजगी, वह स्फूर्ति और चेतनता क्यों नहीं है, जो बीस वर्ष की आयु में थी। किन्तु इस तरह की स्थिरता, इस तरह का टिकाव, जीवन की आत्मा के प्रतिकूल है। जीवन व्यक्तिगत क्षेत्र में किसी भी टिकाऊ चीज की व्यवस्था नहीं करता। अपनी समूची निधि, जो कुछ भी उसके पास है, उसे वह प्रस्तुत क्षण में उंडेल देता है। यह मानव का काम है कि वह इस क्षण का जितना भी उपभोग कर सके, करे। जहां तक जीवन का सम्बंध है, वह किसी भी चीज का बीमा नहीं करता—न जीवन का, न आनन्द का, न उनकी अवधि का। और जीवन की इस निरन्तर गति में, इस निरन्तर परिवर्तन में, प्रकृति निरन्तर नवीन बनती है, जीवित रहना जारी रखती है। यही वह चीज है जो उसे चिर यौवन प्रदान करती है। इसीलिए प्रत्येक ऐतिहासिक क्षण अपने आप में पूर्ण होता है—अपने वसन्त, अपने ग्रीष्म, अपने शरद और अपनी वर्षा ऋतु से युक्त। उसमें तूफान भी आते है, सुहावने दिन भी—ठीक वैसे ही जैसे कि जीवन के प्रत्येक वर्ष में आते हैं। इसीलिए प्रत्येक युग वर्तमान के गर्भ में अपनी सारी भलाइयों और वेदनाओं को छिपाए रहता है!

दो पताकाएं

हमारी समूची सभ्यता का क्रम यह रहा है: घरेलू द्वन्द्वों के बीच वह विकसित हुई; पंथों और मठों की लक्ष्मण-रेखा को पारकर वह बाहर आयी; बाहर आकर उसने जीवन में प्रवेश नहीं किया वरन् उसके भीतर से गुजरी—फॉस्ट की भांति उसकी एक झलक देखने के लिए, चिन्तन और मनन करने के लिए। इसके बाद मानव की भीड़ से अपने दामन को बचाती, अपने दीवान-खानों, अकादमियों, ग्रन्थागारों में वह लौट आयी। दोनों हाथों में वह दो पताकाएं लिए थी। इनमें से एक पर अंकित था: "रोमांटिसिज्म आत्मा के लिए!" और दूसरी पर: "भाववाद मस्तिष्क के लिए!"

विज्ञान

छात्र जीवन की वे अन्तहीन बहसें, वे वाद-विवाद ... जरा उनकी याद तो कीजिए ! ... बहुधा दो शून्य विन्दुओं से हम आरम्भ करते और जीवन के रहस्य का उद्घाटन करने के लिए हाथ-पांव मारते। किन्तु जीवन को समझना तो दूर, हम आपस में एक-दूसरे को भी न समझ पाते। प्रकृति-विज्ञान और दर्शन की भी यही दशा थी। दोनों सत्य का दावा करते, पूर्ण सत्य का नहीं तो कम से कम उस तक पहुंचने के पथ का तो अवश्य ही; दोनों लड़ते-झगड़ते, एक-दूसरे पर अविश्वास करते; एक आसमान पर चढ़कर बोलता ; दूसरा प्रत्यक्ष प्रमाणों के लिए धरती पर रेंगता। दोनों एक-दूसरे पर फनफनाते और शब्द-वेधी वाणों से एक-दूसरे को बींधते ... दोनों ने एक-दूसरे को न समझने की मानो कसम खा ली और पूर्ण सफलता के साथ अपने-आपको एक-दूसरे से अलग कर लिया। किन्तु इस बीच यह साफ होता गया कि दोनों की एक-दूसरे के बिना कोई गति नहीं। विज्ञान की, पदार्थ विज्ञान की, प्रगति पर एक नजर डालने से ही यह स्पष्ट हो जाता है। पिछली शती के अन्त में जिन चीजों की सपने में भी कल्पना नहीं की जा सकती थी, आज उन्हें हम अपनी आंखों के सामने या तो अभी ही देख सकते है, या शीघ्र देखने लगेंगे। रसायन-विज्ञान, भूतत्व-विज्ञान, पुरातत्व-विज्ञान, तुलनात्मक शरीर-रचना-विज्ञान के छोटे-छोटे अंकुरों ने हमारी शती में शाखा-प्रशाखाओं का रूप धारण कर लिया है ... अतीत, विश्व विज्ञान का शक्तिशाली आवाहन सुनकर, अपनी समाधि से उठा और उस उथल-पुथल की साक्षी देने के लिए जो, अपने विकास-क्रम में, इस भूमण्डल की सतह में पटी है, तत्पर हुआ। हमारी यह पृथ्वी जिस पर हम रहते हैं, यह गोल गुम्बद जो अपने भीतर समूचे अतीत को छिपाये है, पारदर्शी होता जा रहा है। प्रस्तरीय तहखानों के पट खुल गये हैं, चट्टानों के अन्तर में छिपे रहस्य अब रहस्य नहीं रह गये ...'

ज्ञान और अंधविश्वास

मानव सदा अपनी आदिम अवस्था में नहीं रह सकता था, सदा प्रकृति और गोचर-जगत की नाल से जुड़ा नहीं रह सकता था ... पशु ही ऐसा है जो प्रकृति से कभी अनमेल या बेसुरेपन का अनुभव नहीं करता ... किन्तु मानव ? न केवल बाह्य प्रकृति से, वरन स्वयं अपने से भी उसका द्वन्द चलता है। यह असंगति

उसे झनझनाती और व्यथित करती है, और यह व्यथा उसे आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि प्रकृति के साथ यह वैमनस्य, यह अन्तर्विरोध... इतना भयानक रूप धारण कर लेता है कि मानव... सत्य की टोह छोड़... ऑथेलो की भांति अंधी झुंझलाहट और क्षोभ मे त्रस्त किसी भी भुलावे को पकड़ने के लिए... यहां तक कि एकदम औघड जादू-टोनों तक में पड़ने के लिए... विकल हो उठता है।... वह, जैसे भी हो, इस जान-लेवा द्वन्द को भूलना और उससे निकल भागना चाहता है!... यहीं से ज्ञान का, और अंधविश्वासों का भी, सूत्रपात होता है...!

सापेक्ष निरपेक्ष

यूनानियों के दृष्टिकोण की जब हम शास्त्रवादियों के द्वैतवाद अथवा जर्मनों के इन्द्रियबोधातीत भाववाद से तुलना करते हैं तो वह हमें अपनी इसी दुनिया का चीज मालूम होता है। इतना ही नहीं। हम उसे वास्तविक की भी, इस शब्द के व्यापकतम अर्थों में, संज्ञा दे सकते हैं। वास्तविकता की यह भावना यूनानियों में सभी दृष्टाओं और पंथों से पहले मौजूद थी। भाग्य में, नियति में, उनका विश्वास अनुभववाद या वास्तविकता की भावना का ही स्वरूप है। वह विश्व की वास्तविकता की दुर्निवार स्वीकृति पर आधारित है, अर्थात यह कि — ऐसा होना अनिवार्य था, होनहार था। भाग्य में यह विश्वास अपने-आप मे, तथ्यों में, बहिर्जगत की युक्ति में विश्वास का ही एक रूप है। चिन्तन ने बहुदेवोपासकों की देव कथाओं से अपने-आप को सहज ही एक जीवनदायी नियम के रूप में — जो मौजूद है उस सबके एक प्रथम सिद्धान्त के रूप में — मुक्त कर लिया था। वह भाग्य की कल्पना किये बिना नहीं रह सकता था। ऐसा करना उसके लिए अनिवार्य था। इसका बीज शुरू से ही उसमें निहित था। इस प्रथम सिद्धान्त ने समूचे यूनानी ज्ञान की इमारत के लिए सहज नीव का काम दिया।

यूनानी चिन्तन, कभी भी, प्रकृति अथवा प्रत्यक्ष सत्ता से अलगाव की सीमा तक नहीं पहुंचा। निरपेक्ष और सापेक्ष के बीच की भारी खाई से वह अनभिज्ञ था। संशयवाद का भी उसमें अभाव है, मानो रहस्य का उद्घाटन करने के लिए हम किसी पाकदामन पर हाथ डाल रहे हों, मानो निषिद्ध की आपत्तिजनक खोज-बीन करने में हम जुटे हों, काली शक्तियों से सांठ-गांठ-कर कोई षड़यंत्र रचने या व्यापार करने में हम व्यस्त हों। नहीं, इसके प्रतिकूल

यूनानी चिन्तन उस आदमी की अलस दृष्टि के समान था जिसने अभी ही अपनी आंखें खोली हों, जो आल्हाद से उमगकर अपने चारों ओर की दुनिया को देख रहा हो, जो पहले ही क्षण से जानता हो कि विश्व को हृदयंगम करने तथा उसे चिन्तन में मूर्त्त करने के लिए ही उसने जन्म लिया है। उसकी नीयत शुद्ध है और स्वार्थ से मुक्त है। इसीलिए उसमें इतना साहस और इतना आत्म विश्वास है। मध्ययुगीन कीमियागीर की भांति वह थरथराता नहीं—मानो चोरी से प्रकृति के अन्तर में झांक रहा हो। दोनों का लक्ष्य भी भिन्न है। एक ज्ञान का, सत्य का, खोजी है; दूसरा प्रकृति पर अधिकार करना चाहता है। एक प्रकृति में वस्तुगत अर्थ की खोज करता है; दूसरा केवल उसका शोध करना, उससे सोना और हीरे प्राप्त करना या धरती को पारदर्शी बनाना, चाहता है। निस्संदेह ये अहंवादी दावे एक हद तक युग की गरिमा को भी व्यक्त करते हैं। मध्ययुग की कीमियागिरी के विकृत चेहरे में भी कुछ तत्व हैं, जो यूनानियो से श्रेष्ठ कहे जा सकते हैं। यूनानियों के लिए आत्मा अभी उनके लक्ष्य का पात्र नहीं बनी थी। उसने अभी अपने-आप में पूर्ण और प्रकृति से स्वतंत्र रूप नहीं धारण किया था। इसीलिए वे उसे अपने मुकाबिले में नहीं खड़ा करते थे। वे उसे नियति की वास्तविकता के रूप में स्वीकार करते थे। सत्य की कुंजी अभी मानव के भीतर नहीं थी। कीमियागीर अपने-आपको ठीक ऐसी ही कुंजी समझते थे। यूनानी बाह्य जगत की अनिवार्यता से अभी नहीं छूट सके थे, यद्यपि इस अनिवार्यता को स्वीकार कर उन्होंने नैतिक मुक्ति प्राप्त कर ली थी।

तर्क और ज्ञान-लाभ

तर्क शास्त्र में ज्ञान अपनी समूची पूर्णता के साथ—वयस्क रूप में—प्रकट होता है, जैसे कि समुद्र के गर्भ से उर्वशी प्रकट हुई थी। पूर्ण यौवना, न उसके जन्म का पता चलता है, न शैशव का। इतिहास में ज्ञान जन्म और शैशव की सभी अवस्थाओं को पार करता हुआ सूक्ष्मातिसूक्ष्म बीजाणु से विकसित होता है... तर्क शास्त्र हर चीज को चिरन्तन की दृष्टि से देखता है! इसीलिए हर सापेक्ष और इतिहासगत चीज उसकी आंखों से ओझल हो जाती है। तर्क-शास्त्र समझता है कि किसी भी खुराफात को महज उसकी ओर संकेत करके खत्म किया जा सकता है। किन्तु इतिहास जानता है कि खुराफात की जड़ें कितनी दृढ़ता से धरती में जमी रहती हैं और जमी रहना चाहती हैं!...

अनास्थावाद या संशयवाद

अनास्थावाद या संशयवाद कट्टर सूत्रवाद की ही एक अनिवार्य कड़ी था, उसी का एक दूसरा छोर था। कट्टर सूत्रवाद ने ही उसे अपने विरुद्ध जन्म दिया। वह उसकी प्रतिक्रिया था, उसी सिक्के का दूसरा पहलू था।

प्राचीन चिन्तन के अन्तिम दिनों में जिस रूप में उसने अपने आप को मूर्त किया, वह अत्यन्त उल्लेखनीय था। कट्टर सूत्रवाद के दो रूपों के विरुद्ध लड़ते-लड़ते, अन्ततः, उसने भी वही किया जो कि रूढ़ सूत्रवाद करता: उसने व्यक्तित्व को हर उस चीज से शून्य कर दिया जो ठोस थी; उसमें कोई चीज ऐसी नहीं रहने दी जो सकारात्मक थी। यही उसकी अनन्त शक्ति का, उसके नकरात्मक मूल्य का, प्रत्यक्ष प्रमाण था। अनास्थावाद ने मस्तिष्क को प्राचीन विज्ञान के प्रभावों से, जिनकी घुट्टी पीकर वह बढ़ा-पनपा था, मुक्त कर दिया। किन्तु यह मुक्ति सचेत और सजग अधिकारों की संगतिपूर्ण घोषणा नहीं, वरन एक प्रतिक्रियात्मक मुक्ति थी—'९३ की भांति—जब चिन्तन ने प्राचीन विश्व के प्रभावों से अपने को मुक्त करके प्रकट होनेवाले विश्व के लिए भूमि तैयार की थी। अनास्था का यह उद्रेक विकटतम था। न केवल यह कि वह सत्य को जानने की सम्भावना में ही अविश्वास करता था, वरन् उसे जानना एकदम असम्भव समझता था। उसका दृढ़ विश्वास था कि चिन्तन और सत्ता दोनों, समान रूप में, असम्भव हैं; उन्हें कोई काबू में नहीं ला सकता, और यह कि वे बेकार की, यहां तक कि कल्पना-जगत की, हवाई चीजें हैं ... पुरानी धारणाओं का दिवाला निकाल चुकने और मस्तिष्क को उसके प्रभाव से मुक्त कर चुकने के बाद अनास्थावाद ने मस्तिष्क को शून्य में झोंक दिया।...

ससीम और असीम

ससीम और असीम, नित्य और अनित्य—चुम्बक के इन दो छोरों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। यह ऐसा ही है जैसे कोई गरदन पर सवार होकर कहे: "यह या वह... रख दो जो तुम्हारी गांठ में हो, नहीं तो जान से हाथ धोने के लिए तैयार हो जाओ!" साहसी आदमी इसका दृढ़ता के साथ एक ही उत्तर देगा: "दोनों में से एक भी नहीं!" क्योंकि ...प्रकृति हमें निरन्तर सीख देती है कि इन दोनों को एक साथ लेकर समझना होगा, अनेकता में एकता को पकड़ना होगा।

अंकगणित

यूनानियों के बारे में चाहे जो कहा जाय; उनके सहज बोध की विशुद्ध वास्तविकता को मानना ही पड़ेगा, जिसके सहारे वे अपने आदि सिद्धांत की खोज प्रकृति के भीतर ही करते थे, प्रकृति से बाहर नहीं। उनका असीम ससीम में, विचार गोचर जगत में और अनित्य नित्य में निवास करता था। उनके पांव विज्ञान की धरती पर थे। किन्तु वास्तविक प्रथम सिद्धान्त, इस स्थिति में अपने को स्थिर नहीं रख सकता था। हां, इस स्थिति में विकास की सम्भावना, उसका बीज, मौजूद था।

परम तत्व की इन्द्रियगम्य और वास्तविक परिभाषाओं और परिवेश से सूक्ष्म तथा तर्कगत व्याख्याओं तक पहुंचने से पहले, स्वभावतः, विचार को बीच के एक अन्य दौर में से गुजरना पड़ा : मध्यवर्ती तत्व के द्वारा परमतत्व को व्यक्त करने का उसने प्रयास किया। उसने वास्तविक और शून्य के दो प्रतिवादी छोरों के बीच सत्य को पाना चाहा। यह प्रयास, हर सम्भावना से लाभ उठाने की यह प्रवृत्ति, जीवन की यह सदा गतिशील और सक्रिय प्रकृति उसकी निजी विशेषता है। ऐतिहासिक तथा भौतिक, दोनों जगतों में, वह इस विशेषता का परिचय देता है। पदार्थ का सुसम्बद्ध विकास अपने को मूर्त करने की किसी भी सम्भावना को व्यर्थ नहीं जाने देता। विशुद्ध इन्द्रिय-गम्य और तर्क-गम्य के बीच पाइथागोरस ने एक ऐसी स्थायी वस्तु प्राप्त की जो न तो सम्वेदन थी न विचार। वह वस्तु थी अंक! ...अरस्तू के शब्दों में : पाइथागोरियनों ने अंकों तथा उनके अन्तर्सम्बंधों से युक्त एक सुसंगत प्रणाली के रूप में विश्व की कल्पना की। निरन्तर परिवर्तनशील गोचर जगत में से उन्होंने उसके स्थायी सम्बंध को अलग किया। पाइथागोरियनों द्वारा प्रतिपादित और आधुनिक समय में इतने व्यापक रूप में विकसित विश्व की अंकगणितीय कल्पना एक सशक्त कल्पना थी। इसीलिए युगों-युगों को पारकर वह आज दिन भी वर्तमान है। अंकगणित तर्क और अनुभवसिद्धवाद के बीच की मध्यवर्ती चीज है, किन्तु पाइथागोरियन इस तथ्य को भूल गये कि उनके अंकों में उससे कहीं अधिक सार निहित है जितना कि वे समझते हैं ... उनके लिए अंकों की क्रमबद्धता, उनका मेल ही ... सब-कुछ था, उसी को वह पूर्ण ज्ञान की इति-श्री समझने लगे! ...

किन्तु अंक अपने को उस ऊंचाई पर नहीं रख सकते थे जिस पर पाइथागोरियनों ने उन्हें पहुंचा दिया था। अरस्तू के शब्दों में : "उनमें गत्यात्मक तत्व का अभाव था।"

क्लासिसिज्म और रोमांटिसिज्म

कुछ समस्याएं होती हैं जो आंधी की तरह उठतीं हैं और फिर वैसे ही शान्त भी हो जाती हैं, जो अच्छा-खासा तूफान खड़ा करती हैं और फिर गायब हो जाती हैं। और उनके गायब होने का कारण यह नहीं होता कि वे हल हो जाती हैं, वरन यह कि हम, हममें से हरेक, उनसे ऊब जाता है। मन ही मन हम सब, एकमत से, उन्हें गया-बीता, नीरस, दुरूह समझकर छोड़ देते हैं। उनका फिर नाम तक नहीं लेते। लेकिन, बीच-बीच में उन फाइलों को खोलकर देख लेना अच्छा होता है जिनमें ऊपरी ढंग से दाखिल-दफ्तर की गयी समस्याएं बन्द होती हैं। जब भी हम पीछे मुड़कर शृंखला की कड़ियों पर नजर डालते हैं तो अतीत का एक नया ही चित्र हमें दिखायी देता है; हर बार एक नये पहलू का आविष्कार होता है। अन्तरिम काल में उपलब्ध अनुभवों को पूर्णतया काम में लाते हुए, हम एक नयी चेतना, नयी समझ, प्राप्त करते हैं। अतीत के बारे में अच्छी, अधिक पूर्ण, समझ वर्तमान के दृश्यपट को और भी अधिक स्पष्टता के साथ मूर्त करती है; अतीत की और भी गहरी टोह भविष्य का अर्थ स्पष्ट करती है—पीछे की ओर मुड़कर हम आगे की ओर बढ़ते हैं। फिर, पुराने लबादों को हवा देना यह जानने के लिए भी लाभप्रद होता है कि वह क्या कुछ है जो एकदम सड़ गया है और वह क्या है जो अब भी काम दे सकता है।

अधिक दिन नहीं हुए जब ऐसा ही एक मामला, अदालत की भाषा में, अगली पेशी तक के लिए दाखिल-दफ्तर कर दिया गया है। हमारी शती के पहले चरण में, बल्कि उससे भी बाद में, रोमांटिसिज्म बनाम क्लासिसिज्म को लेकर लड़ाइयां लड़ी गयीं। किन्तु कब्र से खींचकर लाये गये वादियों प्रतिवादियों का यह द्वन्द्व एक बार फिर कब्र में ही समा गया, रोमांटिकों के अधिकारों और क्लासिसिस्टों के विरुद्ध उनके संघर्ष की अब कोई चर्चा तक नहीं करता, हालांकि उनके उपासकों तथा शत्रुओं में से कितने ही जीवित हैं!

ठीक उस समय जबकि क्लासिसिज्म और रोमांटिसिज्म के बीच संघर्ष चल रहा था, जब एक दुनिया को पुरातन के चोले में ढालने पर तुला था और

दूसरा शौर्यत्व के, तब एक अन्य शक्तिशाली चीज उभर रही थी और बल प्राप्त कर रही थी। यह ऐसी चीज थी जिसका इन दोनों के बीच उदय हुआ। और दोनों ही, बावजूद उसकी तमाम गौरव-गरिमा के, उससे बेखबर रहे। एक पांव क्लासिसिस्टों के कंधों पर रखे और दूसरा रोमांटिसिस्टों के, वह उन दोनों से कहीं अधिक ऊंची थी — मानो समस्त शक्ति उसी के हाथों में हो ! पहले उसने एक का जायजा लिया। फिर दूसरे का। और उसने दोनों को ठुकरा दिया। कारण कि यह नयी चीज हमारी आज की दुनिया के आन्तरिक जीवन का, उसके मानस का, मूर्त रूप थी। उसका जन्म हुआ कैथोलिसिज्म और रिफार्मेशन के संघर्ष की गर्जन-तर्जन के बीच और वह बढी-पली एक दूसरे संघर्ष के बीच। अब उसे पुरानी उतारन पहनने की जरूरत नहीं थी। उसने अपनी निजी पोशाक तैयार कर ली थी। क्लासिसिज्म और रोमांटिसिज्म, दोनों में से किसी को भी इस तीसरी शक्ति के अस्तित्व का लम्बे अर्से तक भान नहीं हुआ। शुरू में कभी इसने तो कभी उसने, भ्रमवश, उसे अपना सहायक समझा (रोमांटिसिज्म को धोखा हुआ कि वाल्टर स्काट ही क्या, गेटे, शिलर, और बायरन तक उसकी पांत में हैं)। किन्तु अन्त में क्लासिसिज्म और रोमांटिसिज्म दोनों को स्वीकार करना पड़ा कि उन दोनों के बीच कोई तीसरी चीज आ खड़ी हुई है, एक ऐसी चीज जो उन दोनों में से किसी को शह देने को तैयार नहीं है। अस्तु दोनों के दोनों, आपस में सुलह किये बिना ही, इस तीसरी शक्ति पर टूट पड़े। और तभी उनके भाग्य का निपटारा हो गया।

कल्पनाप्रिय रोमांटिसिज्म ने नयी धारा से घृणा शुरू कर दी—उसके यथार्थवाद के कारण; क्लासिसिस्टों ने, दबे पांव उसकी टोह ली, और उसमें भाववाद की गंध पाकर उससे मुंह फेर लिया।

यह नयी टक्कर दोनों के लिए घातक सिद्ध हुई। क्लासिसिज्म की कमजोरी और रोमांटिसिज्म की असम्भवता — दोनों पूरी तरह से बेनकाब हो गयीं ... इसके सिवा कुछ और हो भी नहीं सकता था। काल-गत को कालकवलित होना ही पड़ता है। क्लासिसिज्म और रोमांटिसिज्म अतीत के दो महान युगों की उपज थे। उन्हें जिलाने के लिए चाहे कितना भी प्रयत्न किया जाय, वे अतीत की प्रेत-छायाएं ही बने रहेंगे, जिनके लिए आज की दुनिया में कोई जगह नहीं हो सकती। जिस प्रकार क्लासिसिज्म ने पुरातन दुनिया में जन्म लिया था, वैसे ही रोमांटिसिज्म मध्ययुग में जन्मा था। दोनों में कोई भी वर्तमान के अनुशासन का दावा नहीं कर सकता। यह इसलिए कि वर्तमान किसी अर्थ में भी, न तो पुरातन से मिलता है, न मध्ययुग से। पहली झलक में ही यह साफ देखा जा सकता है।...

पुरातन संसार बाह्य को अन्तर के समकक्ष रखता था, जैसा कि प्रकृति में होता है। किन्तु ऐसा सत्य में नहीं होता, जहां आत्मा प्रधान होती है और रूप गौण। यूनानियों ने समझा था कि मानवीय आत्मा में निहित प्रत्येक वस्तु को उनकी छेनी ने प्रस्तर की प्रतिमाओं में अंकित कर दिया है। किन्तु कुछ अव-चेतन तथा अभी तक अपरिपक्व वृत्तियां उनकी छेनी की पकड़ में नहीं आ सकी थीं। यूनानियों ने व्यक्तित्व को व्यापक (यूनीवर्सल) में, नागरिक को नगर में और मानव को नागरिक में लीन कर दिया था। किन्तु व्यक्तित्व के भी अपने निजी अधिकार थे जिन्हें मिटाया नहीं जा सकता था। अस्तु, इसका उन्हें भुगतान करना पड़ा; सम्राटों के व्यक्तिनिष्ठ आकस्मिक व्यक्तित्वों ने, अन्ततोगत्वा, नगरों के नागर को आत्मसात कर लिया। देवताओं की भांति सातवें आसमान पर बैठे नीरो और क्लॉडियस आदि की निरंकुशता ग्रीकत्व तथा यूनानियों के मुख्य सिद्धांतों की व्यंगपूर्ण अस्वीकृति थी। और तब, इसकी मृत्यु तथा एक नयी दुनिया के जन्म का समय आ पहुंचा। किन्तु यूनानी-रोमन जीवन ने जिन बीजों को बोया था, वे न तो मानव जाति के लिए नष्ट हो सकते थे, न उन्हें नष्ट होना चाहिए। पन्द्रह शतियों तक वे अंकुरित होते रहे और ट्यूटोनिक—जर्मन, स्कैण्डिनेवियन तथा डच—जातियों को अपने विचारों को पुष्ट करने तथा उन्हें व्यवहार में लाने की क्षमता प्राप्त करने का पर्याप्त अवसर मिला। इसी अन्तराल में रोमांटिसिज्म का उदय हुआ; वह पुष्पित हुआ और अपने महान सत्य तथा महान एकांगीपन के साथ मुरझा गया।

रोमांटिक विचार न तो सार्वभौम रूप में क्रिश्चियन थे, न विशुद्ध रूप में। वे लगभग एकमात्र कैथोलिसिज्म की सम्पत्ति थे। उनमें, और इसी प्रकार हर कैथोलिक वस्तु में, दो सिद्धांत गुंथे थे: एक इंजील से लिया हुआ, और दूसरा जनप्रिय, ऐहिक और मूलतः जर्मन तत्वों से लिया हुआ। ईसा मसीही धर्म को अपनाने, आत्मसात करने, और उसे जातीय रंग में रंगने के दौरान में अस्पष्ट, चिन्तनशील, और रहस्यवाद की ओर उन्मुख जर्मन कल्पना को अपना व्यापक चरित्र प्रकट करने का पूर्ण अवसर मिला। इसके अलावा मसीही धर्म उससे कहीं अधिक देता था जितना कि रोमांटिसिस्ट ग्रहण कर सकते थे। और जो कुछ उन्होंने लिया वह था एकांगी; और एकांगी रूप में ही उसका विकास किया। गोथिक मीनारों से स्वर्ग की ओर लपकनेवाली आत्मा, पुरातन दुनिया से सर्वथा भिन्न थी। रोमांटिसिज्म का आधार था आत्मवाद, पारलौकिकता। उसके लिए आत्मा और पदार्थ संगतिपूर्ण विकास की अवस्था में नहीं, वरन् परस्पर विरोधी और भिन्न-स्वरीय थे। प्रकृति उसके लिए मिथ्या थी। हर प्रकृत चीज उसके लिए निन्दनीय थी। मानव का आत्मा-तत्व "मानव शरीर की परछाईं से लज्जित होता था।" द्वंद्वता को स्वीकार करने के बाद जीवन

को आन्तरिक भिन्नता ने ग्रस लिया और द्वन्द्व सिद्धान्तों में से एक को रद्द करके उसने शान्ति-समाधान की खोज की। अपनी अनन्तता, प्रकृति पर अपनी श्रेष्ठता, को सिद्ध करने के बाद मानव प्रकृति को नजरन्दाज करने लगा। और व्यक्तित्व, जो प्राचीन जगत में निःशेष कर दिया गया था, अब अनन्त अधिकारों का स्वामी हो गया। उन आत्मिक मूल्यों को उसने उजागर किया जिनकी प्राचीन दुनिया में कल्पना तक नहीं की जा सकती थी। कला का लक्ष्य अब सुन्दरम् नहीं, वरन् पारलौकीकरण था। ओलम्पस के पदतल में कहकहों का समारोह अब लुप्त हो गया। दुनिया के अन्त की—जिसका चिरन्तन होना क्लासिक जगत का तकियाकलाम बन गया था—अब हर घड़ी प्रतीक्षा की जाने लगी। इस सब ने मानव के क्रिया-कलापों और चिन्तन को धर्म-प्रवणता और उदासी में रंग दिया। किन्तु यह उदासी अस्पष्ट, अवर्णनीय संगीतमय स्फुरणों और आकांक्षाओं की दुर्निवार मोहकता से मंडित थी और वह आत्मा के अन्तर्तम तारों को झंकृत कर देती थी। रोमांटिसिज्म गुलाब की एक अत्यन्त उत्कृष्ट बेल थी, जो उसी क्रास के पदतल में खिली थी जिस पर कि वह लिपटी थी। किन्तु उसकी जड़ें—अन्य सभी पौधों की भांति—धरती में जमी थीं। यही वह चीज थी जिसे रोमांटिसिज्म नहीं जानना चाहता था। इस भय से कि जड़ें कीचड़ और गंदगी में सनी होंगी, वह अपनी जड़ों का त्याग करने में जुट गया।

यह एक ऐसा जीवन था जो कुछ-कुछ विकारमय और तापग्रस्त था; इस अप्रकृत तथा तनाव-युक्त स्थिति में मानव-जाति अधिक दिनों तक नहीं रह सकती थी। उपेक्षा और घृणा के शिकार वास्तविक जीवन ने अपने दावों का भुगतान करना शुरू किया। लाख तिरस्कार करने और चिरन्तन पर अपनी दृष्टि जमाये रखने के बावजूद जीवन के स्वर प्रभुत्व और घनिष्ठता के साथ गूंजे। हृदय और मस्तिष्क दोनों ने उन्हें सुना। देखते न देखते, एक अन्य शक्तिशाली आवाज उनके साथ आ मिली: क्लासिकल दुनिया कब्र में से फिर उठ आयी। लेटिन लोग—रोमन भावना जिनमें वस्तुतः कभी नहीं मरी थी—उछाह के साथ प्राचीन विरासत की ओर लपके। मानवीय प्रयासों के प्रत्येक क्षेत्र में एक नयी प्रवृत्ति ने अपने अस्तित्व की घोषणा की; एक ऐसी प्रवृत्ति ने, जो मध्य युग की आत्मा से सर्वथा भिन्न थी। इस नयी प्रवृत्ति का मूलमंत्र था: अतीत को तिलांजलि दो, उससे कोई वास्ता न रखो। मुक्त होकर सांस लो, स्वच्छंदता से रहो। जर्मनी इस सुधार का अगुआ था। गर्व के साथ उसने अपने फरहरे पर लिखा: "अनुसन्धान हमारा अधिकार है!" यद्यपि इस अधिकार को मानना उसके लिए बहुत दूर की चीज थी। कैथोलिसिज्म के विरुद्ध संघर्ष में उसने अपनी समूची शक्ति लगा दी। किन्तु उसके इस संघर्ष

का कोई सचेत लक्ष्य नहीं था। लेटिन लोगों के क्लासिसिज्म को मात देने में उसने अपरिपक्वता का परिचय दिया। इसीलिए, आगे चलकर, उसे मात खानी पड़ी। कैथोलिसिज्म को रद्द करके जर्मनी ने इस दुनिया के साथ अपने आखिरी सूत्रों से भी नाता तोड़ लिया। कैथोलिक रीति-रिवाज, कम से कम स्वर्ग को धरती पर तो ले आते थे, जबकि प्रोटैस्टेंट चर्च, केवल शून्य आकाश की ओर इंगित करता था। सुधार युग का जर्मनों पर क्या प्रभाव पड़ा, यह बताने के लिए उनकी रहस्योन्मुखी प्रकृति का उल्लेख करना ही काफी होगा। सुधार-युग के बाद जर्मनी पण्डिताऊ रहस्यवाद में डूब गया। अब मानव का वास्तविकता से कोई वास्ता नहीं रहा। यह एक ऐसा रहस्यवाद था जो धर्म-सूत्रों की बीसियों प्रकार से कूट-व्याख्या करने पर आधारित था। यह एक आवेग-शून्य ठंडा उन्माद था जो कुछ में भयानक थिरता के साथ विकसित हुआ, और कुछ में कट्टर, अनियंत्रित तथा भयावनी फूत्कार बनकर फूट पड़ा। ...

नयी दुनिया नया आकार ग्रहण करने और अधिक उज्ज्वल रूप में अपने को मूर्त्त करने के लिए ललक रही थी, एक ऐसे रूप और आकार में जो न केवल आकांक्षाओं का ही पुतला हो, वरन् उपभोग की सामर्थ्य भी रखता हो, जो अपनी शान-व-शौकत से न केवल अभिभूत करने वाला ही हो, वरन् अपनी सुसंगति में मनोहर भी हो। लोग फिर प्राचीन दुनिया की ओर मुड़े। उसकी कला ने हृदय को छुआ। उसकी चिर-आकांक्षित स्थापत्य कला यौवन का निखार और स्वच्छता थी, संगीतपूर्ण, मानो प्रस्तर में संगीत मूर्त हो उठा हो। किन्तु रोम और यूनान के स्वर्ण युग के बाद बहुत कुछ बीत चुका था, अन्तरिम काल में प्राप्त अनुभव लोगों के मस्तिष्कों में दृढ़ता से घर किये थे, और इस बात को सूचित करते थे कि नये युग की भावना को न तो अब यूनानियों के चारों ओर स्तम्भों की गोलाकार पांतों से पूर्णतया व्यक्त किया जा सकता है, न रोमनों की गोल इमारतों से। ...

गिरजों में स्थापत्य की नयी शैली मध्ययुगीन कला और उसके दृष्टिबिन्दु के अन्त की द्योतक थी। सन्त पीतर के गिरजे के निर्माण के बाद गौथिक स्थापत्य कला का टिक सकना असम्भव हो गया; वह अतीत की, बीते जमाने की, चीज बनकर रह गयी।

ललित कलाएं भी, अपनी बारी आने पर, मुक्ति की ओर आगे बढ़ीं। गौथिक चर्च अपने कलाकारों से, सन्त पीतर के गिरजा के कलाकारों से भिन्न गुणों की मांग करता था। गौथिक चित्रकला के आवश्यक तत्वों में से एक की झलक बाइजेंटियम में देखी जा सकती है। उसकी अवास्तविक मुद्राएं और रंग, दुनिया से अलग और हर लौकिक चीज से शून्य उसकी आतंकप्रद महानता, सौन्दर्य और कमनीयता के प्रति उसका स्पष्ट दुराग्रह — ये सब लौकिक सौन्दर्य

के प्रति वैराग्य भावना की याद ताजा करती हैं। ईश्वर की छवि कोई छवि नहीं थी : वह अस्पष्ट-सा प्रतीक मात्र थी, सूक्ष्म आभास मात्र। किन्तु इतालवियों की कलात्मक प्रकृति प्रतीकात्मक कला की सीमाओं में बन्द नहीं रह सकती थी। उसका अधिकाधिक विकास करते हुए कलाकार लियो दसवें के काल में धार्मिक कला से विशुद्ध कला पर आ गये। उनकी अमर देव-प्रतिमाएं चरम लौकिक सौन्दर्य के चोले में दिव्यता का मूर्त रूप थीं। दिव्यीकृत मानव ही उनका आदर्श था, किन्तु वह होता मानव ही था। रैफील की मैडोनायें नारी सौन्दर्य का दिव्यीकरण मात्र थी। उन्होने सूक्ष्म पारलौकिक जीवों का रूप अभी नहीं धारण किया था; वे वास्तविक कुमारीत्व का दिव्य रूप थीं। आदर्श के उच्चतम शिखरों को छूते हुए भी. चित्रकला ने एक बार फिर दृढ़ता से धरती पर अपने पाव जमाये और निश्चय किया कि इसे वह अब नहीं छोड़ेगी। बाइजैन्टीन कलाकारों ने ऐहिक. मानवीय, सौन्दर्य के प्राचीन आदर्श को छोड़ दिया था। किन्तु इतालवी चित्रकला ने, बाइजैन्टीन को विकसित करते हुए, उसके उच्चतम स्तर पर पहुंचकर उसे त्याग दिया और, प्रत्यक्षतः, प्राचीन आदर्श की ओर फिर लौट पड़ी। वस्तुत: उसने एक महान डग भरा था; नये आदर्श की पुतलियों में एक नयी आभा आ गयी थी, उनमें नये और गहन विचारों का प्रतिबिम्ब था; वे ग्रीक प्रतिमाओं के विस्फारित किंतु अंधे नेत्रों से भिन्न थीं।...

काव्य में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहा था। शौर्यत्व का गुरु-गम्भीरता के साथ अपने दिवास्वप्नों में रमना और सामन्ती दम्भ का ढिंढोरा पीटा जाना काव्य में कम हुआ। विनोदप्रियता और मुसकानों सहित आरिओस्तो ने रोलैण्ड की कथा कही। कुटिल सर्वान्टीज ने व्यंग का बाण संभाला और मध्ययुगीन शौर्यत्व की असामयिकता तथा उसकी पंगुता को निरावरण करके रख दिया। बोकेशियो ने कैथोलिक पादरी के जीवन का चित्र खींचा; रैबेले तो अपनी विशिष्ट फ्रेंच उद्धत्तता के कारण और भी आगे बढ़ गया। प्रोटैस्टेण्ट दुनिया ने शेक्सपीयर को जन्म किया, जो दो लोकों की विभूति था। उसने कला के रोमांटिक युग का पट बंद किया और दूसरे युग का पट खोला। जिस प्रतिभा से उसने मानव के आन्तरिक जीवन का, उसकी समस्त गहराई, पीड़ा और असीमता का चित्र खींचा, जिस निर्भयता से उसने जीवन के अन्ततंम कोनों में प्रवेश किया और वहां प्राप्त भावनाओं को प्रकाश में लाया — वह रोमांटिसिज्म नहीं था, वरन उससे कहीं अधिक बड़ी चीज थी। रोमांटिसिज्म की मुख्य विशेषता यह थी कि वह सदा कहीं "उस पार" की चीज के लिए ललकता रहता था; और चूंकि "उस पार" की वह चीज सदा पहुंच के बाहर रहती इसलिए अनिवार्यतः उसमें निराशावाद आ जाता। वह सदा हृदय से दूर भागने का प्रयत्न करता, जहां उसे कोई शान्ति न मिलती। इसके प्रतिकूल, शेक्सपीयर के

लिए मानव हृदय ब्रह्माण्ड के समान था, जिसके विधि-विधान को उसकी सबल लेखनी ने सुस्पष्टता से चित्रित किया ...

इस बीच, कैथोलिसिज्म और प्रोटेस्टेन्टिज्म का संघर्ष जारी रहा। एक ने इस संघर्ष में नया यौवन प्राप्त किया, दूसरे ने परिपक्वता। किन्तु नयी दुनिया दोनों में से पूर्णतया एक की भी नहीं थी ... वह उस सन्तान के समान थी जिसके माता-पिता एक-दूसरे से कतयी मेल न खाते हों, किन्तु सन्तान में उन दोनों की मुखाकृति मौजूद हो। नयी दुनिया में कल्पनाशील रोमांटिसिज्म और स्थूल क्लासिसिज्म दोनों के ही लक्षण विद्यमान थे — अलग-अलग दिखायी पड़नेवाले रूप में नहीं, वरन एक-दूसरे में बिलकुल गुथे हुए।

किन्तु नयी दुनिया में क्लासिसिज्म और रोमांटिसिज्म के भाग्य में दफन होना बदा था, — और केवल दफन होना ही नहीं, वरन अमरत्व प्राप्त करना भी। नष्ट केवल वही होता है जो एकांगी होता है, मिथ्या होता है, क्षणिक होता है; किन्तु इन दोनों में सत्य वर्तमान था, — चिरन्तन, सार्वभौम तथा सर्व-मानवीय। ऐसी चीजें मर नहीं सकतीं। वे मानव-जाति के वयस्क सदस्यों को विरासत में सौंप दी जाती हैं। रोमांटिसिज्म और क्लासिसिज्म के चिरन्तन तत्व बिना किसी की जोर-जबर्दस्ती के आज भी जीवित हैं। काल विशेष में मानवीय आत्मा के विकास के दो सच्चे तथा अनिवार्य क्षणों से उनका सम्बंध है। वे दो अवस्थाओं के, विभिन्न युगों के दो दृष्टिकोणों के, मूर्त्त रूप हैं, और दोनों ही सापेक्ष रूप से सत्य हैं। चेतन अथवा अवचेतन रूप में प्रत्येक व्यक्ति क्लासिसिस्ट और रोमांटिसिस्ट होता है, या कभी न कभी रह चुका होता है। प्रथम प्रेम एवं अनुभवहीनता से पूर्ण यौवन काल में रोमांटिसिज्म की ओर झुकाव होता है। और इस अवस्था में ऐसा होना लाभप्रद भी है; इससे आत्मा स्वच्छ व निर्मल हो जाती है। पाशविकता और मैल इसकी पवित्र ज्वाला में स्वाहा हो जाते हैं। यह स्वच्छ आत्मा तुच्छता, अनित्यता और आकस्मिकता को नीचे — बहुत नीचे — छोड़कर सपनों की उजली और मासूम दुनिया में उड़ चलती है और शुभ्र ऊंचाइयों को छूने लगती है। वे लोग जो इतने भावुक नहीं होते जितने कि प्रखर-बुद्धि, वे — अपनी इस आन्तरिक दशा के कारण — क्लासिसिस्ट होते हैं; ठीक वैसे ही जैसे कि कठोर चिन्तक होने की जगह कल्पना-प्रिय, स्वप्निल और कोमल प्रकृति के लोग रोमांटिसिज्म की ओर जितनी जल्दी झुकते हैं उतनी जल्दी क्लासिसिज्म की ओर नहीं। लेकिन यह सब, परस्पर विरोधी, अपने-आपमें एकदम अलग, मतवादों या पंथों से सर्वथा भिन्न चीज है।

रोमांटिसिज्म और क्लासिसिज्म को हमारे युग में किस प्रकार ग्रहण करना चाहिए इसके ज्वलंत उदाहरण शिलर और गेटे हैं। शिलर का, निस्सन्देह, रोमांटिसिज्म की ओर जितना झुकाव था उतना गेटे का नहीं, किन्तु उसकी

सहानुभूति, अधिकांशतः, अपने युग के साथ थी, और उसकी अन्तिम तथा सर्वाधिक परिपक्व कृतियां शुद्ध मानवतावादी (अगर उन्हें ऐसी संज्ञा दी जा सके) थीं, रोमांटिक नहीं। शिलर के लिए — उस आदमी के लिए जिसने रेसीन, सोफोक्लीज़ और वर्जिल का अनुवाद किया — क्या क्लासिसिज्म को गैर कहा जा सकता है ? और फिर, रोमांटिसिज्म के अन्तर्तम की गहराइयों में क्या कोई ऐसा कोना था जहां गेटे न पहुंचा हो ? ये युग के महापुरुष थे। युद्धरत और परस्पर विरोधी वृत्तियों ने इनकी प्रतिभा की आग में गलकर इतना पूर्ण रूप धारण कर लिया कि देखकर चकित रह जाना पड़ता है। किन्तु युद्धरत विरोधी शिविरों के लोग, जहां थे वहीं अड़े रहे। मानव-जाति अब इतनी परिपक्व हो चुकी है कि उसे इस या उस शिविर में खींचने का प्रयास निरा हास्यप्रद मालूम होता है। फिर भी, नेपोलियन के बाद, एक नया रोमांटिक स्कूल जोरों के साथ उठ खड़ा हुआ। और इसका पर्याप्त कारण भी था। जर्मन विज्ञान और कला का झुकाव, अधिकाधिक परिमाण में, सार्वभौमता और विश्ववादिता की ओर होता जा रहा था। किन्तु यह सार्वभौमता जीवनशक्ति की बलि देकर प्राप्त की गयी थी। जर्मनों की जातीय भावना — नेपोलियन के आघातों से पहले तक — एक संदिग्ध तथा सुप्त चीज बनी हुई थी। किन्तु, नेपोलियन के आघातों ने उसे चौंका दिया। जातीयता के जोश में धधकते हुए जर्मन उठे। सर्व-मानवीयता में पगे गेटे के गीत रक्त के इस उफान के आगे मंद पड़ गये। जर्मनी में देशभक्ति की गर्मी ने जो किया, वही फ्रांस में उदासीनता ने, भावशून्यता ने, किया। और दोनों में से प्रत्येक ने रोमांटिसिज्म की बाढ़ के लिए रास्ता खोल दिया। जनप्रिय गौरव की भावना के उभार और उदासीनता के दमघोट वातावरण, — दोनों ने आत्मा में विश्वास तथा जातीय संवेदनशीलता से पूर्ण कला की हूक पैदा की। किन्तु जिन संवेदनों ने नये रोमांटिसिज्म को जन्म दिया था वे निरे अल्पकालीन थे, और उनके भाग्य की अन्तिम परिणति को सहज ही देखा जा सकता था। यह जानने के लिए कि रोमांटिसिज्म की मोहकता का स्थायी होना असम्भव था, उन्नीसवीं शती पर ध्यान में थोड़ी नजर डालना ही काफी होगा।

उन्नीसवीं शती का विशिष्ट चरित्र, निस्संदेह ठीक उसके प्रारम्भ से ही स्पष्ट होने लगा था। नेपोलियन युग के चरम उभार से इसका श्रीगणेश हुआ, गेटे और शिलर के गीतों तथा कैण्ट और फिख्ते के सशक्त विचारों ने उसका अभिनन्दन किया। पिछले दस वर्षों की स्मृतियां अभी शान्त नहीं हुई थीं, आशंकाएं और ज्वलंत प्रश्न सिर उठाये थे। पूर्वगामी शतियों की भांति प्रफुल्ल और प्रसन्नवदन होना उसके बस की बात नहीं थीं। उसके पालने को झुलाते और लोरियां गाते हुए शिलर ने उसके दुःखपूर्ण भाग्य की भी घोषणा की...

शतियों की जर्जर इमारतें, उनका समूचा ढांचा, भरभरा कर ढह गया। जेना और वाग्राम* के युद्धक्षेत्रों ने अतीत के स्थायित्व और वर्तमान की वास्तविकता तथा उसके टिकाऊपन में विश्वास की जड़ें हिला दीं। गेटे की एक फ्रेंच समाचार-पत्र पर नजर गयी। पढ़ा : जर्मन राज्यों का संघ निश्चिन्ह हो गया। उन मन्दिरों के खण्डहरों ने, जो अब तक चिरन्तन समझे जाते थे, नास्तिकता और आलोचना की लपटों को उकसाने में आहुति का काम दिया। क्या यह उथल-पुथल, इतिहास की यह होमाग्नि, रोमांटिसिज्म के पुनरोदय की सामग्री हो सकती थी? कतई नहीं! जो समझदार थे, वे एक युग से दूसरे में सन्तरण के इस महान नाटक के दर्शक बने रहे। यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि मानव जाति के समूचे ज्ञान के वृक्ष में अब तक लगे फल को, गहरे और गुरु गम्भीर विचारों की निधि को, चखने से उन्होंने इन्कार कर दिया।

नेपोलियन के साथ-साथ जिस व्यक्ति का नाम समूचे योरप में सबसे पहले सुनायी दिया, वह एक महान विचारक था। भयानक विवादों, रक्त-रंजित टक्करों, गहरी खाइयों के उस युग में इस अनुप्राणित विचारक ने विपरीत तत्वों की एकता को दर्शन का आधार घोषित किया। युद्धरत दलों से उसने अपने-आपको अलग नहीं किया, उसने खुद उस संघर्ष में ही जीवन की प्रक्रिया और उसके विकास को पहचाना। उसने देखा कि संघर्ष में ही वह सर्वोच्च अभिन्नता निहित है जो संघर्ष की काट करती है। और कवि-विचारक के मस्तिष्क में इस विचार के—जो हमारे युग के लिए गहरी सार्थकता से ओत-प्रोत था—आने और उच्चरित होने-भर की देर थी कि द्वन्द्वात्मक चिन्तक ने उसका सूत्र पकड़ा और उसे युक्तियुक्त, संगतिपूर्ण तथा वैज्ञानिक पद्धति से विकसित कर दिया। मई १८१२ में, उस समय जबकि ड्रैस्डन में नेपोलियन का स्वागत-कक्ष शाही मेहमानों से अटा था, नूरमबर्ग के एक बेनाम छापेखाने में हेगेल की 'लाजिक' छप रही थी। "पोलैण्ड के विरुद्ध दूसरे युद्ध की घोषणा के नगाड़ों की आवाज में" इस घटना की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। लेकिन बीज डाला जा चुका था : सुविस्तारित भाषा में और प्रत्यक्षत: पण्डितों के लिए लिखी गयी इन कृतियों में मानव-जाति के अब से पहले के समूचे विचार का बीज निहित था, एक ऐसा बीज जिसे शक्तिशाली बट-वृक्ष के रूप में विकसित होना था। उसके पनपने-विकसित होने की परिस्थितियां अनुकूल थीं। कारण यह कि इसके सिवा अन्यथा हो नहीं सकता था। जैसा कि गणितज्ञ कहते हैं, केवल बीज को

* जेना, साक्से-वेइमार का एक नगर जहां १८०६ में जर्मनों तथा फ्रांसीसियों के बीच युद्ध हुआ। जर्मन इस युद्ध में हारे। वाग्राम—वियना के निकट एक गांव जहां, १८०९ में, फ्रांसीसियों ने आस्ट्रियनों को परास्त किया था।

पाने-भर की देर थी, कि ज्ञान के वृक्ष के हरा-भरा होने, उसके पत्तों के सरसराने और शीतल छाया तथा पके हुए और पुष्ट फल प्रदान करने में देर नहीं लगी। वह जो शिलर के नाटकों के पात्रों के हृदयों में स्पन्दित हो रहा था, गेटे के गीतों में अपने-आपको व्यक्त करने के लिए कसमसा रहा था, अब स्पष्ट होकर सबकी आंखों के सामने आ गया। सत्य ने, सलज्ज दुलहिन की भांति, शास्त्रीय अलंकारों के आवरण में अपने-आपको छिपा लिया था, ज्ञान के शून्य क्षेत्र की चौखट लांघने का उसमें साहस नही था। लेकिन यह आवरण—मध्ययुग में ही जो तार-तार हो चला था—अब आवरण का काम नही दे सकता था। सत्य की जोत इतनी प्रखर और सशक्त होती है कि आवरण में पड़ी हल्की-सी छींट भी समूचे क्षेत्र को उजागर कर देती है।

युग के श्रेष्ठतम मस्तिष्कों ने विचार की इस नयी धारा के प्रति सहानुभूति प्रकट की, किन्तु अधिकांश उसे समझने मे असमर्थ रहे, और कृत्रिम-रोमांटिसिज्म की बाढ़ ने, जो फैलती जा रही थी, युवा पीढ़ी तथा नये रंगरूटों को अपने मोह-जाल मे समेट लिया। वृद्ध गेटे ने नयी पीढी के भटकावों पर आंसू बहाये। यह देखकर उसे दुःख हुआ कि उसकी कृतियों मे वास्तव में जो मूल्यवान है उसे नहीं, बल्कि दूसरी चीजों को उछाला जा रहा है और अर्थ का अनर्थ किया जा रहा है। नेपोलियन और हमारी समूची शती की भांति गेटे तत्वतः यथार्थवादी था, किन्तु रोमांटिसिस्टों का वास्तविकता से कोई वास्ता नहीं था। बायरन ने भी अपने तथाकथित मित्रों को कोसा। किन्तु बहुसंख्यक रोमांटिसिज्म पर न्योछावर थे। मध्ययुग की रूढ़ियों को, जो हमारे युग के गुणात्मक चरित्र और उसके तकाजों मे इतनी भिन्न थीं, वेश-भूषा और अलंकार में फिर खींच लाया गया। हर चीज, माफ्र को पहनने के गाउनों की आस्तीनों से लेकर पुरुषों के बाल संवारने की क्रिया तक, उसके रंग में रंग गयी। जिस प्रकार क्लासिसिस्ट उस ट्रैजेडी को नही मानते थे जिसके हीरो यूनानी या रोमन न हों और जिस प्रकार क्लासिसिस्ट घटिया होने पर भी फालेरियन मदिरा का गुण गाते नहीं अघाते थे—हालांकि वे पीते बढ़िया बराण्डी ही थे—उसी प्रकार रोमांटिक कविता में पुराने शूर-वीरों का होना जरूरी था। कोई भी कविता तब तक कविता नहीं होती थी जब तक कि रक्त की नदियां बहती नजर न आयें, अल्हड़ शहजादों और स्वप्निल राजकुमारियों, हड्डियों के क्रासों तथा लाशों, चरम उल्लासों और चरम विक्षिप्तताओं का उनमें उल्लेख न हो। फालेरियन मदिरा की जगह 'विशुद्ध' प्रेम ने ले ली। वे स्वयं खुद तो यथार्थवादी प्रेम में डूबे रहते थे लेकिन राग 'विशुद्ध' प्रेम के अलापते थे। मानव-जाति को रोमांटिक रचनाओं से पाटने में जर्मनी और फ्रांस में जैसे एक होड़-सी लग गयी : ह्यूगो और वर्नर—एक जो कवि था लेकिन पागल बना फिरता था,

दूसरा जो पागल था और कवि होने का दम भरता था ! अपनी धारा के ये दो सबसे सशक्त प्रतिनिधि ब्रोकन की चोटी पर पहुंच वहीं चिपक गये थे। इन दोनों के बीच अनेक सच्ची प्रतिभाओं का उदय हुआ — नोवालिस, टियेक, उहलान आदि — जिन्हें उनके अनुयायियों की बाढ़ ने — निश्चिन्ह कर दिया। इन लेखकों ने रोमांटिक कविता को इतना तोड़ा-मरोड़ा, अपने प्रेम और आत्मा की हूकों-कसकों का इतना राग अलापा कि अच्छे रोमांटिसिस्टों की रचनाओं को पढ़ना भी कठिन हो गया तथा उबा देनेवाला काम बन गया। और यह ध्यान देने की बात है कि रोमांटिसिज्म के मुख्य प्रवर्तकों में से नाम को भी कोई रोमांटिक नहीं था। हमारा तात्पर्य वाल्टर स्काट से है : अपने देश के सप्राण तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण का मूर्त्तरूप। किसी युग के जीवन को चित्रित करने का अर्थ उसे एकांगी रूप में ग्रहण करना नहीं है।

जो हो, रोमांटिसिज्म चारों ओर छाया था। वह समझता था कि कभी उसका अन्त न होगा !... इसी बीच गेटे का निधन हो गया, बायरन ने संसार से विदा ली, हेगेल ने भी स्वर्ग की राह ली, और शेलिंग को बुढ़ापे ने आ घेरा। लगता था रोमांटिसिज्म का अब एकछत्र राज्य स्थापित होगा। किन्तु जनता की सहज चेतना गलती नहीं करती। उसने दूसरा ही निर्णय दिया। वह पन्द्रह वर्ष पहले ही रोमांटिसिस्टों को अपनी सहानुभूति से वंचित कर चुकी थी। उनकी वही दशा हुई जो कि लियोनिदों और स्पार्टनों की हुई थी, — जिन्होंने वीरतापूर्ण किन्तु निराश युद्ध में जान देने का निश्चय किया था... कौन अब उनकी चिन्ता करता है, कौन उनकी ओर अब ध्यान देता है, कौन अब उन्हें जानता है ? सर्वव्यापी उपेक्षा से निःसत्व, पीतवर्ण और बुझे हुए, रोमांटिसिस्ट उस युग को लांछित करते हैं जिसमें कि वे जीते हैं। वे देखते हैं कि उनके सपनों के महल ढह रहे हैं, और नयी पीढ़ी उनके खण्डहरों को रौंदती हुई आगे बढ़ रही है, — रोमांटिसिस्टों और उनके आंसुओं की जरा भी चिन्ता किये बिना। आधुनिक जीवन का संगीत — वह संगीत जो उनका नहीं है — उन्हें कांटे-सा चुभता है !...

पुरातन और नवीन का संघर्ष

जर्जर और पराजित तुरन्त ही कब्र में नहीं पहुंच जाता। आत्म-रक्षा की सहज भावना, जो हर उस चीज में निहित है जिसका अस्तित्व है, विनाश के कगार पर खड़ी वस्तु के अधिकतम काल तक जीवित रहने के प्रयास से प्रेरित प्रतिरोध का आधार है। यही है वह सहज भावना, जो हर उस चीज की अन्त तक रक्षा करना चाहती है जो कभी जीवनमय थी। मितव्ययिता का सार्वभौम नियम किसी भी चीज को तब तक कब्र में नहीं जाने देता जब तक कि वह पूर्णतः निस्सत्व न हो जाय। ऐतिहासिक जगत में रूढ़िवाद जीवन का उतना ही सच्चा तत्व है जितना कि निरन्तर गतिशीलता और परिवर्तन। वह अस्तित्वपूर्ण प्रत्येक वस्तु का, उसके अधिकारों की मान्यता का, पूरे जोरों से समर्थन करता है। इसके प्रतिकूल प्रगति की भावना जो वर्तमान है उसके प्रति असन्तोष फैलाती है; बुद्धि के विकास की नयी अवस्था के अनुसार वह नये स्वरूप की खोज-बीन करती है। चीजों की मौजूदा व्यवस्था से उसका सांस घुटता है। उससे मुक्त होने के लिए वह छटपटाती है, विक्षोभ प्रकट करती है। और ऐतिहासिक विकास, इन दोनों शक्तियों के प्रभाव तथा अनुशासन में चलता है; उन्हें एक-दूसरे के विरुद्ध कांटे पर रखता है। इस प्रकार अपने-आपको वह एकांगी होने से बचाता है। स्मृति और आशा, यथास्थिति और प्रगति—ये इतिहास के दो विरोधी तत्व हैं, उसके दो कूल हैं। यथास्थिति इस बात की वास्तविक स्वीकृति पर आधारित है कि प्रत्येक रूप, जो उपलब्ध हो चुका है जीवन का सच्चा परिधान है, वह एक ऐसा सत्य है जिसे उसके अस्तित्व ने अकाट्य रूप में सिद्ध कर दिया है। यह इस उचित भावना पर आधारित है कि प्रत्येक ऐतिहासिक क्षण में मनुष्य उस सबका स्वामी होता है जो जीवन प्रदान करता है; और इसलिए वर्तमान अधिकारों का भोग करने के लिए उसे भविष्य की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं। किन्तु रूढ़िवादी भावना मनुष्यों में अतीत की तिरोपित व सुप्रिय स्मृतियों को जगाती है; उन्हें अपने पुर्वजों के उस घर में वापिस लौट चलने के लिए प्रेरित करती है, जहां जीवन निश्चिन्ततापूर्ण

त्र वसन्ती आभा मे मण्डित था। वह भूल जाती है कि वह घर टूट-फूट गया है, अंधकारमय हो गया है। यह भावना स्वर्ण युग से ही प्रेरणा लेती है। अब पूर्णता भी स्वर्ण युग की आकांक्षा करती है, और इस बात का प्रतिरोध करती है कि निश्चित को परमपूर्ण की मान्यता न दी जाय। वह अतीत और वर्तमान के सत्य को, सापेक्ष सत्य मानती है—जो चिरन्तन अस्तित्व का दावा नहीं कर सकता और जो अपनी नश्वरता द्वारा अपनी अपूर्णता को सिद्ध करता है। पुराने दिनों मे यह भावना भी प्रेम करती है, किन्तु उन्हें भविष्य की कल्पना तथा अपनी पवित्रतम आकांक्षाओं का लक्ष्य नहीं बनाना चाहती। बहु-देवताओं की उपासक दुनिया, सहज-स्फूर्त और अपनी जाति में पूर्णतया आबद्ध, सदा स्मृतियों के मोहनी जादू में डूबी रही। किन्तु, इसके प्रतिकूल, ईसाई धर्म ने आशा को अपना सम्बल बनाया। यद्यपि अनिवार्यतः स्मृति पर विजय सदा आशा की होती है, तो भी बहुधा दोनों में घनघोर तथा दीर्घकालीन संघर्ष होता है। पुरानी दुनिया भीषण प्रतिरोध उपस्थित करती है, जो कि स्वाभाविक है: क्या यह सम्भव है कि जीवन उन रूपों के दामन से न चिपके जो उसने प्राप्त किये हैं? नये रूपों से अभी तक उसकी जानकारी होती नहीं—वे रूप अभी सुनिहित होते हैं। किसी के लिए यह स्वीकार करना कि उसके दिन अब लद चुके हैं अपने अस्तित्व से इन्कार करना है, जो लगभग असम्भव है। पुराना निजाम, जिसे विदा होना है, पूर्णतया विकसित, अमल में लाया हुआ और लोगों के हृदयों में गहरी जड़े जमाये होता है। इसके प्रतिकूल नया अभी अव्यक्त और शून्य है। उसके पास न रंग-रूप है, न परिधान, जबकि पुराना समृद्ध और शक्तिशाली होता है। फिर, नये की रचना करने के लिए अभी माथे का पसीना बहाने की जरूरत होती है, जबकि पुराना पहले से मौजूद होता है, आदत की टेक लिए दृढ़ता से स्थित होता है। नये का अभी अनुसंधान करना होता है, उसके लिए अपने को साधने की आवश्यकता होती है, वह आत्म-त्याग की मांग करता है। इसके प्रतिकूल पुराने को बिना किसी खोदबीन के स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि वह सामने मौजूद है, वह ऐसा तथ्य होता है जिसकी प्रत्यक्ष सत्ता को लोग मानते हैं। नये को लोग सन्देह की दृष्टि से देखते हैं, उसका रूप-रंग अभी लडकपन में डूबा होता है, जबकि पुराने के नाक-नक्श और भंगियों से वे इतने परिचित होते है कि वे उन्हें चिरन्तन मालूम होते हैं। स्मृतियों का मोह और उनकी शक्ति कभी-कभी नये की ललक पर हावी हो जाती है,—अतीत का मोह लोगों पर इस तरह छा जाता है कि किसी भाव भी वे उसे नहीं छोड़ते। कारण यह कि उसी में उन्हें अपना भविष्य दिखाई देता है।

धर्म-विमुख जूलियन ऐसी ही विभूति था। उसके जीवन-काल में पुरानी दुनिया के जीवन-मरण का प्रश्न अपनी भयावह तीव्रता से सामने आया: उसे

टाल जाना असम्भव था। प्रश्न के तीन सम्भव समाधान दिखायी दिये : बहु-देवतावाद, अर्थात पुराने दिनों में लौट जाना; स्मृतियां और हताशा, अर्थात अनास्थावाद — न अतीत और न भविष्य; सबसे अन्त में ईसाई-धर्म-ग्रहण और इसके साथ आनेवाली दुनिया में प्रवेश — मरे हुओं को अपने मुर्दे दफनाने के लिए पीछे छोड़ देना। जूलियन अपनी धुन का धुनी द्रष्टा था; साहस और स्फूर्ति का पुंज। शुरू में, कोई व्यावहारिक कार्य न होने के कारण, उसने अपने-आपको यूनानी ज्ञान के अध्ययन में पूर्णतया निमग्न कर दिया। फिर, उसने सुदूर लुतेतिया की शरण ली। वहां पहुंचकर अपने यग के ज्वलन्त प्रश्न को उसने उठाया और अतीत के पक्ष में फैसला दिया ... जूलियन अत्यन्त सदाचारी और ऊंचे गुणों का आदमी था। ऐसा प्रतीत होता था मानो पुरानी दुनिया, पवित्र और शुभ्र होकर, उसमें दीप्त हो उठी है। ऐसा मालूम होता था मानो दिव्य और खरी मौत पाने के लिए, सचेत रूप में, उसने यह दिव्य निखार प्राप्त किया हो। उसकी दृढ़ता में कोई कमी नहीं थी, उत्कृष्टता की सीमा को वह छूता था, प्रखर प्रतिभा और बुद्धि का वह धनी था, — लेकिन सब बेकार। अतीत को फिर से जिलाना नितान्त असम्भव था। जूलियन जैसे शक्ति के हिमालय भी, उस समय जब अपने युग की गति के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ता है, राई बन कर रह जाते हैं ... अपार शक्ति का वह धनी था, फिर भी वह कोई प्रभाव पैदा नहीं कर सका, उसकी शक्ति कारगर सिद्ध नहीं हो सकी। इससे सहज ही समझ में आ सकता है कि अभी अंकुरित होते हुए भविष्य के विरुद्ध मृत, किन्तु अभी तक न दफनाये गये, अतीत के प्रयास कितने निष्फल होते हैं ...

प्रत्येक आकस्मिक परिवर्तन पराजित पक्ष के चिन्ह छोड़ जाता है ... नव-अफलातूनवादी भी इसी कोटि के जीव थे... वे अपने एक अलग दार्शनिक साहित्यिक ढंग से अतीत को फिर से जीवित करना चाहते थे। उन्होंने अन्य सबसे अधिक धोखा खाया। वे अतीत में अपने भविष्य का आदर्श देखते थे, लेकिन अतीत के ही बाने में। अगर उस समय जबकि नव-अफलातूनवाद अपने पूरे उभार पर था — क्षण भर के लिए ही सही — एक मुद्दत से दफन हुआ यह जीवन अपनी कब्र में से उठकर आ सकता तो उसके उपासक भी उसे देखकर स्तब्ध रह जाते। और यह इसलिए नहीं कि वह अपने समय में बुरा था, बल्कि इसलिए कि उसका समय बीत चुका था। ...जो हो, अतीत में बसनेवाले लोगों को गहरी वेदना का शिकार होना पड़ता है। अपने चारों ओर के वातावरण से वे उतने ही दूर होते हैं जितने कि वे लोग जो केवल भविष्य में ही विचरते हैं। प्रत्येक क्रान्ति अपने साथ इस तरह की वेदनाओं को लेकर आती है। जीवन के नये युग से पहले का काल बड़ा त्रासदायक और असहनीय मालूम होता है। प्रत्येक समस्या एक दुःखद करवट लेती है। लोग बेहूदा हलों की ओर, जिससे भी

उन्हें कुछ तसल्ली मिले, भूखों की तरह लपकते हैं। एक ओर अंध दुराग्रह, दूसरी ओर अंध अनास्था; एक ओर बेसिर-पैर की आशाएं, दूसरी ओर बेसिर-पैर की निराशा! दोनों एक साथ, हाथ में हाथ लिए, विचरण करती हैं। त्रासदायक उत्सुकता, अप्रत्याशित के घटने की बेचैन प्रतीक्षा, जबकि प्रकटतः कुछ भी नहीं घट रहा होता!... मध्यवर्ती पीढ़ियों का भाग्य, जो न इस दुनिया की होती हैं न उसकी, और भी दुःखद होता है... अतीत की कुदृष्टि भी उन पर सबसे अधिक पड़ती है, और भविष्य के सुखों से भी वे वंचित होती हैं!... प्राचीन संसार को, अपने जीवन की अन्तिम शतियों में, भरपूर मात्रा में, यह कड़वा प्याला पीना पड़ा। इतना निर्मम, इतना हिंस्र परिवर्तन इतिहास ने पहले कभी नहीं देखा था। केवल ईसाई धर्म उसे बचा सकता था। किन्तु बहु-देवोपासक दुनिया के वह इतना विरुद्ध था, पुराने विश्वासों और मान्यताओं को इतनी बेरहमी से उसने रद्द किया कि लोगों के लिए अपने अतीत से नाता तोड़ना असम्भव हो गया। इंजील के शब्दों में, उन्हें नया जन्म लेना था। इसके बिना वे तब तक प्राप्त तमाम सत्यों और नियमों के सारतत्व से अपने को मुक्त नहीं कर सकते थे। और ऐसा करना अत्यन्त कठिन था। व्यावहारिक बुद्धि जितनी गहरी जड़ें जमा लेती है, सकारात्मक कानूनी विधान भी उतनी गहरी जड़ें नहीं जमा सकता। किन्तु नयी दुनिया अतीत से इस सम्बंध-विच्छेद के बाद ही अपना सूत्रपात कर सकती थी। नव-अफलातूनवादी सुधारक थे। वे पुरानी इमारत की मरम्मत करके उस पर सफेदी पोतना चाहते थे। अतीत का त्याग किये बिना ही वे नये से लाभ उठाना चाहते थे। और वे विफल हुए। "वह जो मुझसे अधिक अपने माता-पिता को चाहता है, मुझे नहीं पा सकता!"...

प्रकृति का अन्तर

प्रत्येक पीढ़ी का लक्ष्य स्वयं वही पीढ़ी है। किसी भावी परिणाम की उपलब्धि के लिए उसे अपना साधन बनाना तो दूर, प्रकृति, सच पूछो तो, भविष्य की चिन्ता कभी करती ही नहीं। क्षण भर के सुख के लिए, यदि यह सम्भव हो तो, क्लियोपैत्रा की भांति, वह मदिरा में मोती तैराने को तैयार रहती है। प्रकृति का अन्तर इन्द्राणी का अन्तर है, जो अपने घुंघरुओं की झंकार को एक क्षण के लिए भी बन्द नहीं होने देना चाहती!

प्रकृति का अवगहन

प्राचीन दुनिया में विज्ञान के नाम पर जो कुछ था. सब दर्शन में केन्द्रित था। प्राचीन दुनिया का विज्ञान सही अर्थों में विज्ञान नहीं था। उसका उद्भव हुआ ज्ञान की शुभ भावना से, प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या करने की इच्छा से, प्राकृतिक वातावरण को समझने की आकांक्षा से। प्लिनी ने प्रकृति के प्रति अज्ञान को मूढ़ अकृतज्ञता की संज्ञा दी थी। फिर भी, प्राचीन वैज्ञानिक, अधिकांशतः बहुधा इस शुभ भावना और छिछले सिद्धान्तों तक अपने को सीमित रखते थे। प्राचीन दुनिया निरीक्षण करना नहीं जानती थी, घटनाओं की छान-बीन करना या उन्हें परखना नहीं जानती थी... विज्ञान अभी ऐन्द्रजालिक था, केवल सौन्दर्य की भावना को तुष्ट करता था, सत्य की खोज के लिए तीव्र तृषा का रूप उसने नहीं धारण किया था। यही कारण है कि प्लिनी और लुक्रेतियस ने प्रकृति के साथ संवेदन का नाता जोड़ने और उसके काव्यात्मक चिन्तन-मनन तक ही अपने को सीमित कर लिया। प्लिनी के '**प्रकृति के इतिवृत्त**' के हर पन्ने में इसके उदाहरण मिलते हैं: वह आकाश की ओर देखता है और मुग्ध हो उठता है। सूर्य के प्रति इतालवियों का प्रेम उसकी वाणी से व्यक्त होता है। सूर्य देवता है, जो सब कुछ देखता और सब कुछ सुनता है। वह सर्व-जीवनदायी और शोक-संतापहारी है। फिर प्लिनी धरती की ओर उन्मुख होता है और भावोन्मेष से भर उठता है (हालांकि कुछ आडम्बर के साथ)। "मां" कहकर वह उसका सम्बोधन करता है। धरती माता कोमल और ममतामयी, हमारी पोषक, संरक्षक और हमारे जीवन की आधार है! मृत्यु के बाद हमारे भौतिक अवशेषों को अपने हृदय में छिपा लेती है! "वायु गरजती-दहाड़ती है, बादलों में केन्द्रित होती है, पानी बरसता है, जमकर ओले बन जाता है, नदियों में उमड़ता और घुमड़ता है .. धरती मानव की हर आवश्यकता को पूरा करती है। वह विषैले पौधों तक को उपजाती है ताकि मनुष्य जीवन से ऊब उठने पर आसानी से उसका अन्त कर सके, और इसके लिए उसे ऊंची पहाड़ियों से नीचे कूदने की जरूरत न पड़े।"

अध्ययन नहीं, वरन प्रकृति का काव्यात्मक अवगहन पुराने वैज्ञानिकों को तुष्ट कर देता था। फिर भी, अतीत को देखने पर, इसका एक महान अपवाद आंखों के सामने मूर्त हो उठता है। यह महान अपवाद है अरस्तू; मानवों में उत्तुंग हिमालय, सभी चीजों में पुरानी दुनिया का एक गौरवशाली प्रतिनिधि। प्रकृति सम्बंधी उसके सामान्य विचारों से हम परिचित हैं। किन्तु एक महान निरीक्षक, एक अनुसंधानकर्ता, के रूप में भी वह उतना ही महान था। वह हमारे लिए उत्कृष्ट प्रबंधों की विरासत छोड़ गया है। सभी जानते है कि अलेक्जेंडर महान अपने अभियानों के दौरान में कभी-कभी अपनी समूची टुकड़ियों को भिन्न-भिन्न पशुओं को पकड़ने में लगाता और उन्हें अरस्तू के पास भेज देता। अरस्तू पहला व्यक्ति था जिसने शरीर रचना का तुलनात्मक अध्ययन आरम्भ किया। पशु जगत के संगति पूर्ण विकास के विचार की स्थापना वह पहले ही कर चुका था और उसका वर्गीकरण, जैसा कि हम जानते हैं, आज भी माना जाता है। पदार्थ-विज्ञान सम्बंधी अरस्तू के विचार भी, उसकी अन्य सब चीजों की भांति, तात्विक और अत्यन्त वास्तविक हैं। प्रकृति को वह प्रक्रिया के रूप में, एक क्रियाकलाप के रूप में, ग्रहण करता है, जिसका उद्देश्य अपने भीतर निहित भावनाओं को चरितार्थ करना है। इस तरह अरस्तू अफलातून के भाववाद से जितना दूर था, उतना ही एपीक्यूरस के वस्तुवाद से भी, यद्यपि दोनों के तत्व उसमें मौजूद थे ... प्रकृति से, पदार्थ जगत से, बाहर वह अन्य किसी भी आदि-भौतिक कारण को स्वीकार नहीं करता था ... संवेदनों का जगत भी उसकी नजर में शरीर-रचना द्वारा निर्धारित पदार्थ-जगत की सत्ता की एक विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति था। इसके भौतिक तत्व, मूलतः किसी उद्देश्य से, एक-दूसरे से मिलते थे और तज्जन्य अवसरों से लाभ उठाते हुए ... विकास करते थे। सीमाओं के आ जाने पर विकास रुक जाता था और शरीर प्रजनन और जाति के संरक्षण की एक मशीन बनकर रह जाता था ...

लुक्रेतियस और प्लिनी जूनियर को उस सामान्य धारणा का सबसे अधिक पूर्ण प्रतिनिधि कहा जा सकता है जिसे सभी पुराने पदार्थ-शास्त्रियों ने अन्ततः स्वीकार किया। रोम की भूमि पर रोपे जाने के बाद यूनानी चिन्तन ने, कुछ क्षेत्रों में, अधिक स्पष्टता और अधिक व्यापकता प्राप्त की। अपनी सुप्रसिद्ध काव्य-रचना **दे रेरम नेचुरा** में यूनानी दार्शनिकों की अस्पष्टता का उसी व्यंग के साथ उल्लेख किया गया है जिस व्यंग के साथ फ्रासीसी आजकल जर्मन दर्शन का उल्लेख करते हैं। लुक्रेतियस, निस्संदेह, अधिक स्पष्ट और रोचक है। एपीक्यूरस के विचार, कवि के अग्निमय रक्त की उष्णता से, लहलहा उठे। पहली नजर में एपीक्यूरस के वस्तुवाद के साथ काव्य का मेल कुछ अजीब मालूम होता है। लेकिन जरा उस स्थिति की कल्पना कीजिए। कवि का व्यग्र हृदय, ऐहिक भावों

और अनुरागों में हुमकता हुआ, किस चीज को चुनता ? पतनशील बहु-देवोपासना-वाद को, नव-अफलातूनवादियों के रहस्यमय सन्यासवाद को, अपने समय के वस्तुवाद के मुक्त विचारों को ? देव-दानवों और परियों की पौराणिक कहानियां बड़ी मोहक और मुग्धकर मालूम होती है — खासकर हमें जो यह जानते हैं कि वे केवल परी-लोक की कहानियां हैं। किन्तु लुक्रेतियस के दिनों में वे घिनौनी बनती जा रही थी। बहु-देवोपासना का विरोध उन दिनों एक फैशन था। सिसेरो ने, अपने वाक-चातुर्य के सहारे, दर्शन और बहु-देवोपासनावाद के रूप में परिवर्तन का प्रयास किया। उनमें मेल कराना चाहा। उन्हें असम्भव गठबन्धन के सूत्र में बाधना चाहा, किन्तु बेकार !...

लुक्रेतियस ने, हेगेल के अन्दाज में, होने और न होने का सूत्र पकड़ा। ये उसके प्रथम सक्रिय सिद्धान्त थे, जो समकक्ष रहते और एक दूसरे पर असर डालते थे। इन तर्क-निरूपित तत्वों को व्यक्त करने के लिए उसने अणुवादियों की भाषा का सहारा लिया : अणु और शून्य ध्रुव है, संतुलन के लिए उद्विग्न दो सीमाएं। अणु अनन्त शून्य मे दौड़ते है; एक-दूसरे से टकराते और साथ-साथ बढते हैं; एक-दूसरे में प्रवेश करते है और मिलकर अन्य शरीरों की रचना करते हैं, जब कि अन्य अनन्त शून्य मे विलीन हो जाते हैं। रचना और विलय का यह क्रम चलता रहता है। समूची दुनियाओं का उदय होता है — वहां जहां उनके बनने की परिस्थितियां अनुकूल होती हैं; समूची दुनियाओं का विलय होता है, — वहां जहां ये परिस्थितियां उपस्थिति नहीं होती। किन्तु बनने और विलय होने का यह क्रम, केवल अंशों को ही प्रभावित करता है, जबकि उन तमाम चीजों का जिनका अस्तित्व है, कुल सार चिरन्तन और अनन्त होता है ... इन रूपान्तरों मे ही विश्व जीता है। ये ही उसका जीवन, उसका विकास, और उसका लक्ष्य हैं। कभी-कभी अपने काव्य में लुक्रेतियस भौतिक जीवन के प्रति इतने मुग्धकर अज्ञान का परिचय देता है कि होठों पर बरबस मुसकान दौड़ जाती है। आंशिक सत्य और आंशिक मिथ्या। फिर भी, ज्वलन्त रागात्मकता के जिस प्रवाह से उसकी कविताएं ओतप्रोत है, वे पाठक को मंत्रमुग्ध कर लेती हैं। बीच की उस अवधि में, जो लुक्रेतियस को गेटे से अलग करती है, अन्य किसी ने जीवन के प्रति इतनी और ऐसी सवेदनशीलता का परिचय नहीं दिया। और केवल प्राचीन विश्व ही भौतिक-शास्त्र तथा विश्व की क्रमबद्धता को काव्य में, पद्यों में, मूर्त करने का विचार कर सकता था और इस विचार को चरितार्थ कर सकता था। यह इसलिए कि वह हर चीज को, विशेषकर प्रकृति को, मूर्त रूप में देखता था। जीवन और आनन्द के प्रति प्रेम,— एक मर्यादा में रहते हुए; मृत्यु के प्रति घृणा, और प्रत्येक जीवित वस्तु के प्रति एक प्रकार के भाईचारे और स्नेह की भावना — लुक्रेतियस का दर्शन इन्हीं सबका

प्रतिपादन करता है। उसने भौतिक शास्त्र का इसलिए सहारा लिया कि नियति-वाद और संदिग्ध चरित्रवाले ओलम्पिक देवताओं से मुक्त बहु-देवोपासना उसे सन्तुष्ट नहीं कर सकी। पूरी गम्भीरता के साथ उसने बार-बार घोषणा की कि एपीक्यूरस यूनानियों में सबसे महान था, कि नैतिकता, सचेत और मानवीय नैतिकता — समस्त बहु-देवोपासक धर्म जिसके विरुद्ध है—उससे शुरू हुई; और यह कि सबसे स्वयं मानव ही नैतिकता का मानदण्ड है। यह उसका तोड़ था। यहां से उसने अपना अलग रास्ता पकड़ा। माना कि अपने अग्निमय हृदय के प्रवाह में अति की सीमाओं का उसे ध्यान नहीं रहता है; किन्तु इससे क्या! राह में उसने समूची दुनिया को, सुन्दर चीजों से भरपूर दुनिया को, देखा और उनका वर्णन किया। उसकी कविता के श्रेष्ठतम अंश वे हैं जिनमें भू-रचना का वर्णन है। तत्वों के संघर्ष के बाद ग्रहलोक के विकास और स्थिरता की उस स्थिति तक का, जब वनस्पति का उदय शुरू होता है, उसने वर्णन किया। फिर विशेष रूप से विकसित पौधों की बारी आती है, जिन्हें धरती से बंधे रहना नहीं सुहाता और जो अपने तने से विलग होने के लिए छटपटाते हैं; इस प्रकार पशु-जगत का उदय होता है, और अन्त में मानव का, जो सीधे धरती के गर्भ में से, पौधे की डाल से लगा हुआ, प्रकट होता है, उदय होता है। यह सब बड़ा रोचक है। किन्तु सचमुच, इस तथ्य को कि फूल अपनी डाल से विच्छिन्न होकर, तितली के रूप में उड़ जाता है, काव्यात्मक रूप से व्यक्त करने का इससे अच्छा और ढंग क्या हो सकता था। फिर, जीव-जगत के उद्गम के लिए, उष्णता और नमी को आवश्यक बताया है; यह ध्यान देने की बात है। आत्मा की अमरता को वह नहीं मानता। फिर भी, एक तरह के वायवीय पदार्थ को वह स्वीकार करता है, जो इतना हल्का और वाष्पीय है कि उड़ते ही शून्य में विलीन हो जाता है। और वे अवयव जिनसे वह बना है, भिन्न दशाओं में भिन्न-भिन्न होते हैं; उदाहरण के लिए सिंह की आत्मा अपना अंश अग्नि से और हिरन की आत्मा शीतल वायु से ग्रहण करती है। किन्तु अब धरती बुढ़ाती जा रही है, कुछ नया पैदा करने की उसमें शक्ति नहीं। जो मौजूद है उसी से वह अपने मन को ढारस बंधाती है। जब यौवन था, रगों में रवानी, स्फूर्ति और शक्ति थी, उसने इनकी रचना की। इस प्रकार कुछ विकृत जीवों ने भी जन्म लिया जिनसे, प्रकृति ने बाद में, जीवित रहने का अधिकार वापिस ले लिया (इस रूप में लुक्रेतियस जीवावशेषों का वर्णन करता है)।...

प्लिनी का दृष्टिकोण भी उन्हीं सिद्धान्तों से उद्भूत हुआ था जिनसे लुक्रेतियस का। किन्तु उसकी जानकारी का भण्डार कहीं अधिक सम्पन्न और युक्तिपूर्ण था। उसने स्वयं विस्तार के साथ अपने विचारों की समीक्षा की है। उसका कहना है कि विश्व और यह आकाश, जो उसे घेरे है, एक चिरंतन असीम

इकाई है; न इसका कोई ग्रादि है ग्रौर न ग्रन्त। विश्व से बाहर किसी चीज की खोज करना बेकार है। वह मानवीय पहुंच से बाहर है। विश्व पवित्र, चिरन्तन, ग्रसीम, हर चीज में कुल का समावेश किये ग्रौर कुल में खुद को ग्रहण किये है। यह परिमित है, किन्तु ग्रपरिमितता को समोये हुए; यह ग्रपने सभी रूपों में नियमित है किन्तु ग्रनियमितता समोये हुए (ग्रनिवार्य किन्तु ग्राकस्मिक)। हर चीज को यह प्रकाश ग्रौर ग्रंधकार से ग्रावेष्टित करता है। यह पदार्थों के सारतत्व की देन है। साथ ही, यह खुद भी पदार्थों का सार है। किन्तु इसका ग्रर्थ यह नही कि प्लिनी, उन चीजों को जिन्हें वह इतनी काव्यात्मकता से कहता है, गहराई के साथ समझता भी था। वह ग्ररस्तू से बहुत पीछे था। चिन्तन की ताजगी ग्रौर स्पष्टता उससे विदा हो चुकी थी। उस पर शब्दों का लबादा लद गया था ग्रौर उथलेपन ने उसे तोप लिया था। उदाहरण के लिए, पाइथागोरियनों ग्रौर ग्ररस्तू ने जिस सार्वभौम ग्राकर्षण-शक्ति का उल्लेख किया था, उसे प्लिनी नहीं समझ सका। वह इसी बात पर बल देता रहा कि हल्के ग्रणु ऊपर की ग्रोर प्रयाण करते हैं; भारी नीचे की ग्रोर। इस प्रकार वे एक-दूसरे के बाधक बनते हैं ग्रौर ग्रपने इस परस्पर विरोध के कारण जहा-के-तहां स्थिर रहते हैं। यही कारण है कि धरती नीचे गिरती है, किन्तु वायु-मण्डल उसे स्थिर रखता है। इसी प्रकार, जीव-जगत के उसके वर्णन में, सही बातों के साथ तरह-तरह की ग्रलौकिक कथाएं भी मिलती हैं। उदाहरण के लिए एहिनेस नाम की एक मछली है जो ग्रपने पुट्ठों की हरकत से जहाजों को रोक सकती है, एण्ड्रोजीन्स हैं जो ग्रपना लिंग-परिवर्तन कर सकती है, स्त्रियां हैं जो हाथियों को जन्म देती हैं, ग्रस्तोमोई हैं जो केवल हवा खाकर जीते हैं। पुराने लोग ग्रनुभव ग्रौर परम्परा को बाल-विश्वास के साथ ग्रहण करते थे। तथ्यों की दुनिया भी उनके लिए उतनी ही वास्तविक थी जितनी विचारों ग्रौर परम्पराग्रों की। दन्त-कथाग्रों को वे सत्य समझते थे। सच पूछो तो सत्ता ग्रौर विचार जगत के बीच, कल्पना ग्रौर तथ्य के बीच, एकता ही उनका सहज स्फूर्त धर्म था जो मनन ग्रौर विश्लेषण के मार्ग में बाधक था, ग्रौर सच्चे विज्ञान के उदय को ग्रवरुद्ध करता था ग्रौर उनकी स्थूल कलात्मकता के सर्वथा ग्रनुरूप था।... ◆◆

प्रतीकवाद और बोहमे

आत्म-ज्ञान या आत्म-बोध का एकमात्र साधन विज्ञान ही है, यह कहना सच नहीं है। तर्कगत रूप ही उसका अन्तिम रूप है, जिसमें वह अपने-आपको चरितार्थ करता है। इससे आगे वह, जिसे हम ज्ञान कहते हैं, नहीं बढ़ता। अस्तु आत्म-बोध का एकमात्र इजारेदार बनना विज्ञान के लिए अभी दूर की बात है। इतना ही नहीं। काफी लम्बे अर्से तक, आत्म-बोध का वह अपर्याप्त, अनगढ़ और स्थूल साधन रहेगा। यों, निरपेक्ष अर्थों में विज्ञान सत्य-प्राप्ति का एक चिरन्तन साधन है। किन्तु अच्छा हो कि इसके साथ-साथ हम यह भी स्वीकार कर लें कि वस्तुतः, अर्थात काल और इतिहास में, प्रत्येक चीज सापेक्ष होती है और इसलिए, जब हम वास्तविक विकास का जिक्र करते हैं, तो केवल इतिहास-गत सापेक्ष विज्ञान से ही हमारा तात्पर्य होता है। तर्क शास्त्र में प्रत्येक चीज परमपूर्ण होकर निकलती है, काल और इतिहास की सीमाओं से मुक्त। यही कारण है कि उसमें नित्य का अनित्य के साथ कोई मेल नहीं होता। सत्य और बुद्धि जब तक एक-दूसरे से अलग रहेंगे, रूप और विषय, शरीर और आत्मा, जब तक एक-दूसरे के विरुद्ध रहेंगे, तब तक विज्ञान पूर्ण सत्य के ज्ञान-लाभ को या ज्ञान लाभ के पूर्ण सत्य को, जो कि एक ही चीज है, प्राप्त करने की स्थिति में नहीं हो सकता। इस प्रकार विज्ञान एक ओर जहां ज्ञान-प्राप्ति के अधिकाधिक ऊंचे रूपों का विकास कर रहा है, वहां दूसरी ओर गतिविधि के अन्य क्षेत्रों में, मानव अपने अनुभवों द्वारा — घटनाओं और वातावरण के साथ अपने अन्तर्सबंधों द्वारा — भविष्य द्रष्टा कवियों की अनुप्राणित रचनाओं के द्वारा, अधिकाधिक मात्रा में आत्म-बोध प्राप्त कर रहा है।

शुरू-शुरू में मानव के आत्म-बोध का साधन उसकी अन्तःवृत्ति थी। उसमें और पशु में कोई अन्तर नहीं था। दोनों अस्पष्ट, दुर्निवार, क्षुधाओं से प्रेरित होते थे। इन क्षुधाओं की पूर्ति जहां मानव के पशु-पक्ष को तोष देती, वहां उसके मानवीय पक्ष को भी उभारती थी। मानव का नवांकुरित मस्तिष्क दो दिशाओं में अपना सारतत्व व्यक्त करता था। एक व्यावहारिक क्षेत्र की दिशा में, जहां

वह सामाजिक, समष्टिगत, जीवन का निर्माण कर रहा था, आये दिन के काम-काज और आचरण की चेतना की दिशा में; श्रम और वातावरण के बीच एक लचकीला, बहुमुखी, नाता जोड़ने की दिशा में, और दूसरे, नैतिक मनोबल का विकास करने की दिशा में। व्यावहारिक क्षेत्र में बुद्धि का यह विकास गोचर और प्रत्यक्ष जगत की समूची प्रचुरता और सप्राणता से सम्पन्न था; शून्य और सूक्ष्म शब्दावली से उसका कोई वास्ता नहीं था। प्रत्येक व्यावहारिक चीज को अपने एक अलग, आकस्मिक रूप में, देह या मन की तात्कालिक इच्छापूर्ति के रूप में—वह अपने-आपको व्यक्त करती थी। इससे आगे भी उसकी रचनात्मक समग्रता का रूप हो सकता है, यह मानव नहीं देख पाता था। धन की चोटों, धूल-धक्कड़, और जीवन की असम्बद्धता के कारण उसे सिर तक उठाने का मौका नहीं मिलता था। लेकिन बसने-बसाने के कठिन श्रम से जैसे ही उसे अपनी कमर सीधी करने और माथे का पसीना पोंछने का अवसर मिला, एक नयी हूक का उसने अनुभव किया। उसके बाल-सुलभ मस्तिष्क ने, जो ऐन्द्रिक बोध को अभी अपने से अलग नहीं कर पाया था और अपनी क्षमताओं से अनजान था, बाल-कल्पना के उज्वल रंगों में अपने विचारों और प्रकृति को रंगना शुरू किया। शुरू में निर्बाध, उसकी कल्पनाएं जैसे-जैसे सन्तुलित होती गयीं, वैसे-वैसे एक अत्यन्त उत्कृष्ट तथा संगतिपूर्ण कलाकृति जैसा रूप धारण करती गयीं। इस कलाकृति का अन्तर और बाह्य, उसकी विषय वस्तु और उसका आवरण, दोनों में, वस्तुतः साम्य था। उसका भाव सहज-स्फूर्त था। सहज स्फूर्तता ने दिव्यता प्राप्त की थी। प्रस्तर की प्रतिमा के रूप में मानव ने अपने से अलग, बाहर, उस एकात्मता के दर्शन किये जिसका वह आकांक्षी था। इसलिए, उसने उसके सन्मुख माथा नवाया और उसे सूर्य देवता अपोलो या पालस की संज्ञा से अभिभूत किया। किन्तु यह अधिक दिनों के लिए नहीं हुआ। बेचैन विचार ने प्रतिमा को रेत डाला, उसके स्वरूप को अपने चंगुल में किया और उसे एकमात्र प्रतीक का रूप देकर स्वयं भावोन्मेषपूर्ण रहस्यमय चिन्तन के व्योम मंडल में रमने लगा। इस प्रतीक के रूप में आत्म-बोध ने एक छवि प्राप्त की; एक ऐसी भाषा प्राप्त की जिससे अमिट, किन्तु चेतना में सदा व्याप्त, सत्य को पहचानना सहज हो गया। यह छवि पहले की कला-कृति की भांति, भाव या विचार का जीवित और सुसम्बद्ध शरीर नहीं थी। यह छवि, मानो मानव को अपने अर्थ का बोध कराने के लिए ही अवतरित होती, और सत्य की एक झलक दिखाकर तुरत तिरोहित हो जाती—भाव-रूपी स्वयं-प्रकाशित ज्ञान के आलोक में विलीन हो जाती। इस छवि की अन्तिम विलीन होती हुई झलक मानव को प्रतिबिम्बित करती—किन्तु अधिक शुभ्र रूप में। इस प्रतिबिम्ब में मानव स्वयं को पहचानता, किन्तु ऐसा करते उसे भय लगता।

यह प्रतीकात्मक छवि, प्रतीकवाद, रहस्यमय आत्म-बोध का एक साधन थी; यह चित्रों और संकेतों की दिव्य भाषा थी। पाइथागोरस, प्रोक्लस और याकोव बोहमे इस भाषा का प्रयोग करते थे। वे जिन छवियों से काम लेते थे, उनकी अनेकों भिन्न अर्थों में व्याख्या की जा सकती है। वे बुद्धि के लिए बुद्धि के दर्पण हैं, ऐन्द्रिक बोध के लिए ऐन्द्रिक बोध के दर्पण हैं; ये हल्के-फुल्के और दिव्य प्रतीक, संकेत और चित्र, सौंदर्योपासक रहस्यवादियों के औघड़ हाथों में पहुंचकर विचित्र प्रेत-छायाओं का रूप धारण कर लेते हैं। उनकी वह आत्मा, धर्म की वह भावना जो उनमें व्याप्त थी, विलीन हो जाती है। विकृत होकर वे भौतिक रूप धारण कर लेते हैं। क्षण-भर का वह झीना अवगुंठन जिसकी झिलमिल में से शास्वत सत्य का चन्द्र-मुख अपनी झलक दिखाता था, फटे कफन का रूप धारण कर लेता है, और भावोन्मेष की ज्योति जो दिव्य तल्लीनता की आखों में चमकती थी, ओझे-सयानों की उन्मादग्रस्त टकटकी का रूप धारण कर लेती है।

आवश्यक भूमिका के रूप में इतना सब कुछ कहने के बाद, अब हम विचित्र व्यक्तित्व याकोव बोहमे का उल्लेख करेंगे।

बोहमे की भाषा अटपटी और अस्पष्ट है, किन्तु उसके कहने का ढंग बहुत ही पैना, मौलिक और तेजस्वी है; अग्निमय कवित्व से पूर्ण है। पदार्थ जगत से सम्बंधित उसके कुछ प्रमुख सिद्धान्तों की झांकी देखिए :

"है और नहीं हर चीज के जीवन का स्रोत है। नहीं से अलग है का अर्थ है चिर शान्ति, सब कुछ और कुछ भी नहीं; चिर निस्तब्धता, न सुख, न दुख; अटूट सन्नाटा। किन्तु है नहीं के बिना नहीं टिक सकता। अटूट सन्नाटे से संक्रमण के लिए नहीं है के लिए अनिवार्य है। नहीं अपने आप में कुछ नहीं है। और कुछ न होना, कुछ होने की वाछा है। है और नहीं एक-दूसरे से भिन्न नहीं, वरन विशिष्ट है। बिना विशिष्टता के न कोई छवि हो सकती है, न चेतना; जीवन चिर अनुरागशून्य, उदासीन स्राव, बन जाता है। वांछा का अर्थ है उस कुछ की आकांक्षा जो नहीं है। नहीं सकारात्मक के अनन्त स्वयं-प्रकाशन में बाधक होती है, और उस विन्दु पर जहां दोनों मिलते हैं, जीवन पल्लवित हो उठता है। यह संक्रमण ससीम नियमता के असीम विकास का मंत्र है। विविधता में प्रवेशकर एकता अपने को विभाजित करती है और इस विभाजन द्वारा चेतना में एक नयी नैसर्गिक एकता को प्राप्त होती है। यदि अंधकार न होता तो प्रकाश कहां से होता : यदि प्रकाश होता भी तो — उसका अवरोध करने के लिए कुछ न होने पर वह आलोकित किस चीज को करता ? किन्तु प्रकाश खुद अंधकार को जन्म देता है, — उदासीनता और ऊब को जन्म देता है, जो विशिष्टता के लिए छटपटाती है... प्रकृति में हर चीज अपने को

उद्घाटित करती है; प्रकृति हर चीज को व्यक्त करती है; आत्म-प्रकाश एक माध्यम है जिससे पदार्थ अपने अन्तर को प्रकट करता है। किन्तु अकेला अन्तर असह्य हो उठता है; बाह्य के लिए वह छटपटाने लगता है ... !"

इसी अनिवार्य विभाजन के अपने सिद्धान्त के सहारे, बोहमे ने बदी और सभी बुराइयों का विवेचन किया। बदी जीवन की एक अनिवार्य शर्त है। बदी और नेकी एक ही वस्तु हैं: एक ऐसा गुण जो अपनी वर्तमान सीमाओं के कारण, परम तत्व से अपने अहंकारपूर्ण अलगाव के कारण, अन्य सभी गुणों से वंचित होने के कारण, दुर्गुण बन गया है। बोहमे काव्यात्मक ढंग से (हालांकि काव्य की सृष्टि में व्याकरण की हत्या की गयी है) लेटिन शब्द क्वालिटास का मूलोद्भव जर्मन शब्दों से सिद्ध करता है; क्वाल, पीडा; और क्वेलेन, अपने उद्गम से बहना; पीड़ा सहने का गुण; मुक्ति के लिए, विश्वात्मा में लय होने के लिए, वह अपनी सीमाओं का अनुभव करता है,—मांसलता का; लालसा और स्वार्थपरता का। वह छटपटाता है, त्रास पाता है, अपने-आपको नोचता-कचोटता है, भय तथा आशंका मे कांप उठता है। दिव्यालोक फिर इस विलगाव का शमन करता है। और अंधेरे में यह पीड़ा-सहन आनन्द और आलोक बनकर फूट पड़ता है ... बदी जीवन का एक अनिवार्य तत्व है, और धर्म तत्व में उसका विलय होना भी उतना ही अनिवार्य है ... ! बदी के बिना जीवन उतना ही बेरंग है जितना कि रागात्मकता से शून्य मानव ...

बस इतना ही यथेष्ट है। आप चाहें तो बोहमे के अटपटे शब्दों के पीछे तथा उसकी कृतियों में हर कहीं बिखरे उसके व्यापक भावों को उपरोक्त क्षीण उद्धहरणों में देख सकते हैं। किन्तु यदि उसके शब्द आपको केवल प्रलाप मात्र मालूम होते हैं (जैसा कि आपसे पहले औरों को भी मालूम पड़ा), तो मैं आपको कायल करने का प्रयास नहीं करूंगा।

ह्यूम और भौतिकवाद

अठारहवीं शती के समूचे दौरान में, रह-रहकर और बार-बार, शिशु और वन्य मानव को मंच पर खड़ा किया गया। भविष्य के मानव का परिचय देने के लिए रूसो को प्राचीन प्रागैतिहासिक मानव से अधिक उपयुक्त नमूना दूसरा कोई नहीं मिला। चाहे शिशु हो, चाहे कल्पनाप्रसूत एकदम शून्य दिमाग हो, चाहे कोई मानव-भक्षी मानव हो — स्पर्श-बोध से युक्त गुड़िया तो और भी दूर की बात है — इनमें से किसी को भी सहज-स्वस्थ मानव के समकक्ष नहीं रखा जा सकता।...जीव-शास्त्र और वनस्पति-शास्त्र अपने अनुसंधान-कार्य के लिए सहज-स्वस्थ तथा पूरी तरह विकसित नमूनों को चुनते हैं। तब नृवंश-शास्त्र ही बर्बर नमूनों को क्यों चुने? निश्चय ही इसलिए नहीं कि वह पशु के अधिक निकट है, या यूं कहिए कि मानव से अधिक दूर है... और इसीलिए अधिक अप्रकृत है... किन्तु उन दिनों के विचारकों के दिमाग में यह बात मुश्किल से ही धंसती थी...। हम अतीत में जितना ही पीछे जायेंगे, जितना ही मानव को आदिम अवस्था के निकट ढूंढेंगे उतना ही उसे अप्रकृत पायेंगे।...

जब एकांगी चिन्तन अति पर पहुंच जाता है, तभी उसे अपनी सीमाओं से उबरने का मौका मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि बेकन और लॉक की धारा की पहली भौतिकवादी प्रतिभा के लिए सिवा इसके और कोई चारा नहीं था कि या तो वह इस स्थिति को प्राप्त करे, या भौतिकवाद को त्याग दे।

डेविड ह्यूम ऐसी ही प्रतिभा था।

ह्यूम उन इने-गिने विचारकों में से है जो बीच में नहीं ठिठके; जो आखिरी छोर तक पहुंचे। एक बार अपने प्रथम सिद्धांतों को स्थापित करने के बाद, बिना किसी शंका के, निडर होकर, उसने उन सिद्धान्तों का अनुसरण किया, उनके परिणामों को ओटा, भलाई और बुराई दोनों को वीरता से अपनाया, और अपने आदि-बिन्दु के प्रति, पूर्णतया सच्चा रहा।...

ह्यूम असाधारण बुद्धि और द्वन्द्वात्मक तर्क की असामान्य प्रतिभा का धनी था। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है। उसने अपने प्रथम सिद्धान्तों को चुना नहीं,

वे उसे अपनी समसामयिक दुनिया में — उसके अपने देश में — पहले से प्रस्तुत मिल गये। एक व्यावहारिक आदमी होने के नाते, अंग्रेज होने के नाते, उसका उनके साथ लगाव था। ... वह एक कूटनीतिज्ञ था, इतिहासकार था, और बावजूद इसके कि अभिजात वर्ग में उसने जन्म लिया था, वह सर्वाधिक व्यापारी था। बेकन के प्रथम सिद्धान्त उसे स्पिनोजा और लीबनेज से अधिक प्रिय थे। किन्तु इन सिद्धान्तों से उसने — सशक्त चिन्तक ने — दुर्निवार निष्कर्ष प्राप्त किये। उसने वह काम किया जिसे उसके पूर्वगामी छूने तक का साहस नहीं कर सके थे। वे जहां कन्नी काटते, शब्दों को चबाते और हथियार डालते नजर आते हैं, वहां ह्यूम शिष्टता और सौम्यता के साथ, असीम दृढ़ता के साथ, सीधे आगे की ओर डग बढाता है। वह शान्त था — इसलिए कि वह सही था। उसकी आत्मा आईने की तरह साफ थी — इसलिए कि जो काम वह करना चाहता था, उसे पूर्णता तक उसने पहुंचाया। क्या आपने ह्यूम का चित्र देखा है? उसकी मुख-मुद्रा और भाव-भंगिमा कितनी अविचल, कितनी शान्त और कितनी कोमल दीखती है! अपने फ्रेंच फ्राक-कोट में वह कितना चुस्त और प्रफुल्ल लगता है। मांसल चेहरा, आंखें बुद्धि की ज्योति से चमकती हुई। होठों पर हल्की सी मुस्कराहट, नाक-नक्शा चेतनता और शुभ्रता की दमक लिये हुए। उसे देखकर जी को बड़ा सुख मिलता है। लगता है जैसे जीवन में अभी भी बहुत अच्छी चीजें मौजूद हैं। अब जरा उसके समय के दूसरे दार्शनिकों पर नजर डालिए; उनके चित्रों पर। आपको कुछ और ही नजर आयेगा। लॉक के शुष्क स्वाभिमानी चेहरे पर एंग्लिकन पादरी की मुखमुद्रा के साथ ही भौतिकवादी न्यायाधीश की कठोरता भी है। वाल्तेयर का मुख कटुतापूर्ण व्यंग्य से आच्छादित है। महान विचारक की गम्भीरता के साथ ही उसमें — न जाने कैसे! — वानर की आकृति भी घुली-मिली दीखती है। और काण्ट? अपने आवश्यकता से अधिक छोटे सिर, किन्तु उसी अनुपात में भारी मस्तक, के कारण बेहद बोझिल लगता है; उसके चेहरे पर रुग्णता की कुछ ऐसी छाया है जो बरबस रोबस्पियेर की याद दिलाती है। लगता है, कठिन और अनवरत श्रम में ही इस व्यक्ति ने तिल-तिलकर अपना शरीर घुला दिया है।... गेटे की ही तरह, लीबनेज का चेहरा सम्राटों जैसा है। लगता है, वह अभी हमसे कुछ कहने ही वाला है। इनके विपरीत, ह्यूम हमें और आपको अपने निकट बुलाता मालूम होता है। मनुष्यों में वह न केवल विचारक है, वरन जिंदादिल इन्सान भी है। ऐसा था ह्यूम। उच्च नैतिक आदर्शों तथा गहन चिन्तनशीलता के साथ-साथ उसमें निकट आये लोगों को अपनी ओर खींच लेने की क्षमता का अद्भुत सामंजस्य था। मित्रों के अपने छोटे से दल का वही मन और मस्तिष्क था। इन मित्रों में महान एडम स्मिथ और एक समय जां जैक्युये रूसो भी था — जो

इस मनमौजी मित्र-मंडली से अपने चिड़चिड़े स्वभाव और पेट की पीड़ा के कारण भाग खड़ा हुआ। ह्यूम अन्त तक अपने प्रति सच्चा रहा। मृत्यु के समय उसने एक भोज का आयोजन किया और खुशी-खुशी जीवन से विदा ली; बारी-बारी से उसने मजबूती से मित्रों से हाथ मिलाया और विदायी का जाम पीते हुए मित्रों के प्रशंसापूर्ण शब्दों को सुनता हुआ मुस्कराता रहा। फिर विदा हो गया। सचमुच, बड़ा जिन्दादिल आदमी था ह्यूम। ◇◇

वेदना और पीड़ावाद

सत्य का भय, बजाय विश्लेषण के, बहुतों को कष्ट-सहन की ओर धकेल देता है। कष्ट, जो चेतना को अपने में लपेट और डुबा लेता है मीठे मरहमी दर्द का संचार करता है... हां, दर्द दवा और मरहम बन जाता है, और सबसे महत्वपूर्ण यह कि, प्रत्येक व्यस्तता की भांति, वह मानव को अपनी आत्मा के कोनों की छानबीन और जीवन का अध्ययन करने की जहमत से बचाता है। पास्कल का कहना था कि लोग ताश खेलते हैं अपने-आपको झंझटों से मुक्त रखने के लिए। हम भी इसी तरह दावों की निरन्तर टोह में रहते हैं। दाव हारना भी हमें बुरा नहीं मालूम होता बशर्ते कि वास्तविकता को भुलाने का मौका मिल सके। हमारा जीवन खुद अपने में एक अन्तहीन पलायन है, मानो हमारी आत्मा, काली छाया की भांति, हमारा पीछा कर रही हो और हम, आतंकित और भयभीत, उससे पीछा छुड़ाने के लिए भागे जा रहे हों!

◇ ◇ ◇

सत्य का अवगहन

सत्य को जानना आसान नहीं है; किन्तु जानने के बाद उसे व्यक्त करने से ज्यादा आसान है, उस समय जब कि सार्वभौम मान्यताओं से वह मेल न खाता हो। मूढ़ विक्षोभ और भोंड़ी फबतियों से बचने के लिए बेकन और हेगेल जैसे श्रेष्ठतम मस्तिष्कों को भी सीधे-सरल ढंग से अपनी बात न बताकर कितने पेंच खाने पड़े, कितने घुमाव-फिरावों तथा शब्दाडम्बर का सहारा लेना पड़ा! इसीलिए दर्शन को समझना इतना कठिन है — गलत ढंग में व्यक्त सत्य को टोहना पड़ता है।

बेकन और दकार्ते

बेकन और दकार्ते में एक-दूसरे से ओर-छोर की भिन्नता थी। दकार्ते ने चिन्तन और सत्ता की समस्या को सूक्ष्म, इन्द्रिय बोध और तर्क से हल करना चाहा। बेकन ने अनुभव और निरीक्षण के जीवित क्षेत्र को पकड़ा ... एक ने चिन्तन को छोड़ अन्य सभी पदार्थों को खत्म किया, हर चीज को रद्दी की टोकरी में फेंका और एकमात्र चिन्तन में आस्था को विज्ञान का आधार बनाया। दूसरे ने इन्द्रिय बोध पर, तथ्यों में अपनी आस्था पर, अपने को आधारित किया ... एक शुरू से ही स्वर्ग और धरती दोनों से वंचित था, दूसरे के पांव दृढ़ता से धरती पर जमे थे ... एक ने भौतिक विज्ञान को गणित का दास बनाया, दूसरे ने गणित को भौतिक विज्ञान का चाकर घोषित किया। एक ने पदार्थ को केवल परिमाण-गत देखा; दूसरे ने उसे केवल गुण-गत देखा, यद्यपि परिमाण के अस्तित्व से वह बेखबर नहीं था। किन्तु अन्ततः, शास्त्रवाद के विरुद्ध घृणा ने दोनों को संयुक्त कर दिया ... उन्होंने अपने सम-सामयिकों को, जिनके मस्तिष्क अतीत में आबद्ध थे, आगे की ओर देखने के लिए बाध्य किया। शास्त्रवाद अतीत की ओर भागा, बेकन ने भविष्य का आवाहन किया। ...

बेकन में पहले के सुधारकों जैसा जोश और तेजी नहीं थी। वह निरावेग और निस्संग था। उसकी प्रकृति न तो गिओर्दानो की भांति बेचैन और उद्वेग-मय थी, न कार्डन की भांति प्रचंड। वह उन राहियों में से नहीं था जो अन्तर में अपनी कल्पना की जोत जगाये अनन्त पथ पर निकल पड़ते हैं। न ही वह उन मशक्कियों में से था जो त्रस्त और दमित, आन्तरिक विच्छिन्नता और बाह्य पीड़ा से दुखी, राह में ही गिर जाते हैं। नहीं, वह संतुलित मस्तिष्क का आदमी था — एक चान्सलर जो राजकीय मामलों को निबटाने में अभ्यस्त था, एक नवाब जो अब खाली हाथ था क्योंकि नवाबों की सूची में से उसका नाम खारिज कर दिया गया था ...

बेकन दुनिया का आदमी था। सार्वजनिक जीवन में योग देकर, लोगों के सम्पर्क में आकर, उसने सोचना सीखा, उसने अपने मस्तिष्क को विकसित

किया। दकार्ते लोगों से घबराता था ... वे उसे अपने काम में बाधक मालूम होते थे। इसीलिए दकार्ते ने शुद्ध चिन्तन में प्रवेश किया और बेकन ने भौतिक विज्ञान में। ... बेकन की मान्यता भी वही थी जो दकार्ते की — वर्तमान के, रामबाण सूत्रों और नुस्खों का खण्डन। किन्तु उसके लिए यह खण्डन एक तार्किक पैंतरा नहीं, वरन एक व्यावहारिक संशोधन था। बेकन की विनम्र नजर में अनुभववाद ज्ञान की एक प्राथमिक अवस्था था। वह ऐसा साधन था जो तथ्यों के द्वारा उस सर्वव्यापी परम तत्व तक पहुंचता था जिससे कि दकार्ते समूची प्रकृति को उद्भूत सिद्ध करने का प्रयास करता था। दोनों डाल-डाल और पात-पात चले, और अगर इस पर भी वे तथा उनके अनुगामी नहीं मिल सके तो इसका कारण यह नहीं था कि वे कभी न मिलनेवाले तत्वों से बने थे, बल्कि यह कि भाववाद और अनुभववाद — दोनों में से एक भी — सच्ची पद्धति का रूप न धारण कर सका था, न सच्ची विषय वस्तु का अपने में समावेश कर सका था। ...

इस प्रकार बेकन और दकार्ते, विज्ञान के क्षेत्र में, मध्ययुगीन जीवन के दो विरोधी सिद्धान्तों के प्रतिनिधि थे। द्वैतवाद की विरोधात्मकता उनमें—और उनके द्वारा—अत्यन्त स्पष्टता तथा पैनेपन के साथ प्रकट हुई। दकार्ते और बेकन के अनुयायियों ने दोनों धाराओं को — भाववाद और अनुभववाद की धारा को — खींचकर अतिवाद की उस सीमा पर पहुंचा दिया जहां, अपने पारस्परिक विरोध, द्वन्द्वात्मक अनिवार्यता, के परिणाम स्वरूप, वे आपस में अपनी केंचुल बदलते और एक पक्ष, अपनी मान्यताओं के घेरे में पूर्णतया बन्द, विपक्षी के द्वारा अपनी बोली सुनाता नजर आता ... द्वैतवाद ने अब एक नयी भाषा प्राप्त की, लेकिन यह भाषा ऐसी थी जो, अदबदाकर, भाववाद और भौतिक-वाद को अति के छोरों पर ले जाती और, इसके साथ-साथ दोनों को रद्दकर खुद मुक्ति-लाभ करती। द्वैत की समस्या को हल किया गया, जीवन में नहीं ... बल्कि सूक्ष्म चिन्तन के सैद्धान्तिक लोक में ! मध्ययुगीन चिन्तन का इसके सिवा और कोई हश्र हो भी नहीं सकता था, — यदि होता तो वह अपने ऐतिहासिक मूल के प्रति सच्चा न होता !

बेकन का प्रभाव प्रचंड था ... कोलम्बस की भांति विज्ञान के क्षेत्र में उसने एक नयी दुनिया की खोज की — उस दुनिया की जिससे हम चिरकाल से परिचित थे, किन्तु शास्त्रवाद के ऊंचे हितों ने हमें इतना उलझा दिया था कि वह हमारी आंखों से ओझल हो गयी थी। बेकन ने अंध-सूत्रवाद की जड़ हिला दीं; पुराने अधिभूतवाद के लिए अब इज्जत के साथ सिर उठाना सम्भव न रहा। बेकन के बाद, हर कहीं, ज्ञान के सभी क्षेत्रों में, शास्त्रवादियों के इन्द्रिय-बोधातीत सिद्धान्तों के विरुद्ध प्रतिक्रिया की बाढ़ सी उमड़ पड़ी ... लेकिन बेकन

अपने अनुयायियों को उस सार्वभौमता से सज्जित नहीं कर सका जो कि उसकी विशेषता थी।...

बेकन की सामान्यानुमान (इन्डक्शन) पद्धति के अनुयायियों की संख्या तेजी से बढ़ी। औषधि विज्ञान, भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान के क्षेत्र में एक के बाद एक सफलताओं ने अधिकाधिक मस्तिष्कों को पदार्थ विज्ञान के, निरीक्षण और अनुसंधान के, क्षेत्र में आकर्षित किया। किन्तु अनुभववाद, तथ्यों के सहज विश्लेषण, और निष्कर्षों की प्रत्यक्ष स्पष्टता से मुग्ध बेकन के अनुयायियों ने अनुभव और सामान्यानुमान को न केवल स्रोत ही, बल्कि सम्पूर्ण ज्ञान की अन्तिम परिणति, उसकी परम चरितार्थता, समझ लिया। प्रत्यक्ष बोध द्वारा प्राप्त, उपमानों द्वारा निरूपित, और तर्क-गत कोटियों द्वारा विश्लेषित कच्ची तथा अपरिपक्व सामग्री को ही वे अगर अत्यन्त पूर्ण नहीं, तो एकमात्र सम्भव, सत्य समझने लगे ... अनुभववाद में भी अब अपने एक अधिभूतवाद का आविष्कार करने की इच्छा बढ़ी। इस इच्छा ने लॉक को जन्म दिया।

लॉक के अनुसार मानव को अपने ज्ञान का विश्लेषण चिन्तन के प्रसाधनों की जांच से करना चाहिए। सर्वप्रथम उसे इस समस्या को हल करना है कि क्या मस्तिष्क में सत्य को जानने की क्षमता है। यदि है तो किस हद तक और किन साधनों द्वारा? ... इसके लिए लॉक कहता है, हमें एक ऐसे आदमी की कल्पना करनी होगी जिसने अब तक एक भी विचार धारण नहीं किया। इसके बाद यह मालूम करना होगा कि किस प्रकार विचारों का (विचारों से उसका मतलब लगभग सभी कुछ से होता था: कल्पना, परमतत्व, चिन्तन बिम्ब, रूप और यहां तक कि प्रभाव भी उनमें शामिल था) एक ओर तो उसकी इन्द्रियों के अन्तर्सम्बध और उसकी बुद्धि तथा दूसरी ओर बाह्य जगत द्वारा उद्गम होता है। इसके लिए हम एक शिशु को लेकर, जिसने अभी बोलना नहीं सीखा हो, या मानव को उसकी प्रकृति अवस्था में लेकर, अपनी जांच शुरू कर सकते हैं। कौण्डिलैक, इस दिशा में और भी अडिगता का परिचय देते हुए, प्रस्तर-प्रतिमा से अपने निरीक्षण की शुरूआत करता है, और उसे गन्ध-चेतना से, फिर श्रवण-चेतना से सज्जित करते हुए, कदम-ब-कदम, प्रतिमा के भीतर चिन्तन या विचार के नियमों का आविष्कार करता है। इसे वे, बेकन के अनुयायी, निरीक्षण और विश्लेषण कहते थे और बेकन से इतना भी नहीं हुआ कि कब्र में से उनकी ओर शिकायत भरी उंगली तक उठाये।...

शैलिंग और नैपोलियन

कुछ याद नहीं कि कब और कहां, जर्मन दर्शन पर मैंने एडगर किनेट का एक लेख पढ़ा था। लेख बहुत अच्छा न था; लेकिन उसमें जर्मन दर्शन और फ्रांसीसी क्रान्ति की मजेदार तुलना जरूर थी। कैण्ट की मीराबो से, फिख्ते की रोबर्सपियरे से, और शैलिंग की नैपोलियन से तुलना की गयी थी। कुल मिलाकर, यह तुलना किसी हद तक सही थी। मैं खुद भी शैलिंग की नैपोलियन से तुलना करने के पक्ष में हूं— किन्तु एडगर ने जिस रूप में तुलना की है, ठीक उसके विपरीत रूप में। न तो नैपोलियन का साम्राज्य और न शैलिंग का दर्शन अपने को कायम रख सका। सो भी एक ही कारण से : शैलिंग और नैपोलियन में से कोई भी पूर्ण रूप से सगठित न था; दोनों में से किसी में भी अतीत के एकांगीपन को रद्द करने की सामर्थ्य न थी; न ही आखिरी परिणामों तक पहुंचने की। नैपोलियन और शैलिंग दोनों ने ही दुनिया के सामने विरोधी तत्वों के सामंजस्य और एक नयी व्यवस्था द्वारा उनके विघटन की घोषणा की। इसी नयी व्यवस्था के नाम पर नैपोलियन के सिर पर चक्रवर्ती सम्राट का मुकुट रखा गया। किन्तु, अन्ततः, तोपों की गर्जन और उनका धुंवा इस तथ्य को नहीं छिपा सके कि नैपोलियन, अपने अन्तरतम में, अतीत का ही मानव था। शार्लमेन के अनुकरण में ऐतिहासिक प्रदर्शन के लिए नैपोलियन ने जो भोंड़ी पोशाक धारण की और ड्यूक-सैनिकों को अपने इर्द-गिर्द बटोरा वह केवल धोखे की टट्टी थी। वाटरलू में उसका सारा शीराजा बिखर गया; कारण कि एक असली ड्यूक ने युद्ध की बागडोर अपने हाथों में संभाली थी। शैलिंग ने भी, अपने क्षेत्र में, नैपोलियन के पदचिन्हों का अनुसरण किया। उसने विचार और सत्ता के बीच सामंजस्य स्थापित करने का आश्वासन दिया; किन्तु विरोधी तत्वों के परम ऐक्य के अन्तर्गत विरोधी तत्वों का सामंजस्य घोषित करने के बाद वह उस समय भी भाववादी बना रहा जब ओकेन ने अपने पत्र आइसिस में— जिसे पदार्थ विज्ञान का क्रान्तिदूत कहा जाता था— नगाड़े की चोट प्रकृति के समूचे जगत पर शैलिंग का आधिपत्य घोषित किया। याकूब बोहमे के छद्मवेश में

शैलिंग ने स्वयं ही अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध प्रतिक्रिया का सूत्रपात किया—अंशतः, यह स्वीकार करने से बचने के लिए कि वह औरों से पिछड़ गया है। शैलिंग सिर के बल उल्टा खड़ा हुआ बोहमे था—ठीक वैसे ही जैसे कि नैपोलियन सिर के बल उल्टा खड़ा हुआ शार्लमेन था। इससे अधिक बुरा, अधिक हास्यास्पद, और कुछ नहीं हो सकता था। रहस्यात्मक भावनाओं में पगे याकूब बोहमे ने जिस चीज को भी छुआ, गहरी दार्शनिकता का परिचय दिया। यदि उसकी भाषा दुरूह है, रहस्यवादी शास्त्रीय शब्दावली में जकड़ी है, तो यह उसकी प्रतिभा के लिए और भी श्रेयस्कर है, कारण कि इतनी पिछड़ी हुई भाषा में वह अपने विचारों की समस्त गहनता को व्यक्त कर सकता था। यद्यपि वह सोलहवीं शती के प्रारम्भ का दार्शनिक था, तो भी, रूढ़-बन्धनों और रीतियों से आगे बढ़ने की उसमें दृढ़ता थी। साथ ही, उसमें इतना साहस था कि इन बन्धनों को तोड़ने के परिणामों को भुगत सके और उस शती में देश की स्थिति देखते हुए यह आसान काम नहीं था। रहस्यवाद ने उसकी सशक्त बौद्धिकता को कुचलना तो दूर, उसकी रगों में और भी अधिक स्फूर्ति का संचार किया। शैलिंग ने, इसके प्रतिकूल, गहरे वैज्ञानिक चिन्तन के शिखर से गिरकर रहस्यवादी तन्द्रा की, विचारों को और भी अधिक दुरूह भाषा में व्यक्त करने की, स्थिति अपनायी। इसके बड़े भयानक परिणाम हुए—जितने कि हो सकते थे : उन लोगों ने भी जो सच्चे धार्मिक थे और उन्होंने भी जो अधार्मिक थे, दोनों ने ही, उसे त्याग दिया और बर्लिन के विश्वविद्यादल में उसे एक लघु 'एल्बा' समर्पित कर उससे पीछा छुड़ाया...

●●

फरिश्ते और जल्लाद

धर्म अन्तिम रूप से समाज और व्यक्ति के विभाजन पर, तथा उनके बीच काल्पनिक वैमनस्य पर, आधारित है। एक ओर जब तक आर्कंजली फरिश्तों का समाज और दूसरी ओर लूसीफरी अहंवादियों का समाज कायम है, तब तक राज्य अपनी नकेल हाथ में लिए सदा प्रस्तुत रहेगा। न्यायाधीश दण्ड की घोषणा करते रहेंगे, जल्लाद फांसी की डोरी खींचते रहेंगे, चर्च आत्मा की शान्ति और मुक्ति के लिए प्रार्थना करते रहेंगे, पाप को भगाने के लिए ईश्वर का भय दिखाते रहेंगे तथा पुलिस कमिश्नर अपने मुजरिमों को जेलों में बंद करते रहेंगे।

यूनानी दर्शन

यूनान में दार्शनिकों की गति-विधि उनके अपने पंथ तक ही सीमित नहीं थी। वे उन दार्शनिकों में से नहीं थे जो शतियों तक अपने पंथ की दीवारों के भीतर बन्द रहकर अपने विवादों में व्यस्त रहते थे और आम लोगों के कानों में उनकी भनक तक न पड़ती थी। यूनानी सही अर्थों में लोगों के शिक्षक और सलाहकार थे। एम्पेदोक्लीज और हेराक्लिटस को राजमुकुट भेंट किया गया था। ज़ेनो ने एक युद्ध में वीरगति प्राप्त की थी। पाइथागोरस के प्रति लोगों के प्रेम और सम्मान ने उपासना का रूप धारण कर लिया था। पेरीक्लीज ने अपनी पत्नी के साथ एथेन्स के चौक में घूम-घूमकर अनेक्सागोरस को क्षमा-दान दिलाने के लिए गुहार की थी। मैसेडोनिया का फिलिप इस बात को अपना सौभाग्य समझता था कि उसने अरस्तू के समय में जन्म लिया। प्लेटो को लोग देव-पुरुष मानते थे। वे केवल तभी सार्वजनिक जीवन से विलग हुए जब प्राचीन दार्शनिकों ने, खिन्न हृदय और व्यथित होकर, उस पातक रोग को देखा जो प्राचीन व्यवस्था को घुन की तरह खाता जा रहा था। सुकरात उतना ही बड़ा राजनेता भी था जितना बड़ा विचारक और प्रभावशाली व्यक्ति। एथेन्स के जीवन के अनुल्लंघनीय मानदंडों की उपेक्षा करने के कारण ही उस पर मुकदमा चलाया गया था। खोज और अनुसंधान के अधिकार के लिए वह लड़ा और गिरफ्तार हुआ। उसके भाग्य की विडंबना भी ठीक यही थी (वह खुद भी इससे पूर्णतया परिचित था, जैसा कि जेल में दिये गये उसके प्रवचनों से पता चलता है और जेल से उसने कभी भागना नहीं चाहा) कि वह मानव जाति की नजरों में सही और एथेन्स की नजरों में अपराधी था। यह विरोध इतना ज्वलंत और तीव्र था कि यूनानी जीवन का एकांगीपन स्पष्ट हो जाता है। और इस एकांगीपन के कारण ही वह ह्रासग्रस्त हुआ। जातीय अभिमत का बुद्धि के सर्वथा विरुद्ध होना जातीयता के रूढ़ होने का लक्षण है। इसीलिए, सुकरात की जान लेकर भी एथेन्स को नहीं बचाया जा सका। नहीं, इससे केवल यही सिद्ध हुआ कि सुकरात सही था।

एथेन्स-वासियों को भी इसका पता चलने बहुत समय नहीं लगा। जल्लादों को दूसरे दिन ही पता चल जाता है कि व्यर्थ ही किसी व्यक्ति को सूली पर चढ़ाया गया है।

सुकरात ने चिन्तन के क्षेत्र मे क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। उसने विचार को स्वतंत्र सत्ता प्रदान की। चिन्तन अब अपने-आप मे ही एक लक्ष्य बन गया। इस धारणा का सूत्रपात कि **सत्य केवल अपने-आप में सत्य नहीं है, वरन चेतना में सत्य होने पर ही सत्य है, बोधगत है**—सुकरात के समय से ही हुआ। सुकरात के बाद चिन्तन अपने-आपको अपने पर केन्द्रित करता है, अपने भीतर अधिकाधिक गहरे प्रवेश करता है ताकि सचेत रूप मे स्वयं अपने और अपने पात्र के बीच एकता को विकसित कर सके। प्रकृति अब चिन्तन मे स्वतंत्र चीज नही रह जाती। किन्तु, यहां यह कहना चाहिए कि सुकरात के विचार इतनी दूर तक नही जाते। उसकी विचार-धारा एकांगी थी और इस एकांगीपन का एक मुख्य तत्व, जो यूनानी दुनिया में खासतौर से उभरा, यह था कि वह दर्शन से बाहर की हर चीज की, खास तौर से पदार्थ-विज्ञान की, उपेक्षा करती थी। सुकरात बहुधा दोहराता था, यहां तक कि उसका यह कथन एक कहावत बन गया, कि उसका समूचा ज्ञान इस सूत्र मे निहित है कि उसे रंचमात्र ज्ञान नहीं है। और उसका ऐसा कहना ठीक था। अपनी सशक्त द्वन्द्वात्मकता मे उसने परम्परा से चली आयी और ज्ञान का दावा करनेवाली मान्यताओं के एक अच्छे-खासे पहाड़ को खत्म कर दिया था। यह चिन्तन की उसके असली सार से नकारात्मक मुक्ति थी, उसका सच्चा सार नही था। इसने चिन्तन और चेतना में सत्य का एक सजीव स्वरूप स्वीकार किया, किन्तु अभी इनमे वस्तुतः वास्तविक विषय-वस्तु का समावेश नही हुआ था। इसने अतीत पर तो विजय प्राप्त कर ली, किन्तु अतीत की ताजा समाधि पर नवीन को अंकुरित होने का अवसर नहीं मिला। इसीलिए सुकरात मे एक अनबूझ प्रेत-छाया का उद्भव होता है; सुकरात के सिद्धान्त की अपूर्णता उसका दामन पकड़ती है। यदि उसके चिन्तन की विषय-वस्तु वास्तव मे पूर्ण होती तो उसे किसी प्रेत-छाया की आवश्यकता न होती; वस्तुतः, शून्य में ही प्रेत-छाया प्रवेश करती है।

सुकरात की विचारधारा के एकांगीपन को उसके प्रारम्भिक अनुयायी पूर्ण नहीं कर सके... इसे पूर्ण किया प्लेटो के सुन्दर तथा आलोकमय व्यक्तित्व ने, जो अन्ततोगत्वा उस इमारत को पूर्ण करने के लिए प्रकट हुआ था, जिसकी आधार-शिला सुकरात ने स्थापित की थी।

सुकरात ने स्वतंत्र चिन्तन के अधिकार की घोषणा की; उसी को बोध-प्राप्ति का सार तथा लक्ष्य माना। किन्तु प्लेटो ने, एकदम शुरू से ही, चिन्तन

की, विश्व के सार-तत्व के रूप में स्थापना की और उसे व्यापक बनाया — शायद आवश्यकता से भी अधिक — यहां तक कि समूचा गोचर जगत उसमें सिमट आया ... वह जिसे हम **रोमांटिक तत्व** कहते हैं, सबसे पहले उसमें प्रकट हुआ। वह विज्ञान के आध्यात्मिक जगत को ही एकमात्र सच्चा जगत — माया जगत से भिन्न — मानता था। यह सच्चा जगत मानव के मनोलोक में अपने को प्रकाशित करता है। यह चिन्तन के द्वारा उद्घाटित होता है, जो स्मृतियों के आवरणों को उलटते हुए भौतिक सत्ता के चंगुल में फंसी आत्मा में खोये तथा तंद्रा में डूबे सत्य को जागृत और मूर्त करता है। चेतना में इस प्रकार मूर्त होने के बाद भावों का यह लोक वास्तविक जगत के सत्य का, उसकी पूर्ति का, रूप धारण कर लेता है। तभी चरम शान्ति की प्राप्ति होती है — नश्वर सत्ता की तुच्छताओं से मुक्त, और उस दुनिया को अपने में समेटे हुए जिससे कि उसने मुक्ति प्राप्त की है! ... प्लेटो भौतिक सत्ता को परम ज्ञान के मार्ग में एक बाधा समझता है। और ऐसा करते समय यह तथ्य मानो उसकी आंखों से ओझल हो जाता है कि भौतिक सत्ता ज्ञान की पहली शर्त है। किन्तु, इसका तात्पर्य यह नहीं कि यह रोमांटिक तत्व, या कहिए कि वह तत्व जिसमें रोमांटिकता का कुछ पुट मिला हुआ है, प्लेटो के चिन्तन की पूर्ण व्याख्या कर देता है। नहीं, ऐसा कतई नहीं है। यहां यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि प्राचीन लोग उसे द्वन्द्वात्मक पद्धति का प्रणेता कहते थे। इसी में उसकी शक्ति और स्फूर्ति का स्रोत निहित है, इसीसे उसका वह गहरा तात्विक चिन्तन उद्भूत हुआ जिसमें भाववाद का पुट मिला था, एक ऐसा पुट जिस पर उसके व्यक्तित्व और नये युग की छाप थी। किन्तु इस छाप ने उसके मुक्त चिन्तन को अवरुद्ध नहीं किया। प्लेटो की बहुधा शैलिंग से तुलना की जाती है। स्वयं हमने भी ऐसा किया है। और सचमुच, पौराणिक दृष्टान्तों और उपमाओं के सोलह-सिंगारों से समृद्ध प्लेटो का काव्यात्मक चिन्तन आधुनिक दुनिया में सबसे अधिक शैलिंग के काव्यात्मक सत्य-दर्शन और सत्य-शोध की उत्कट आकांक्षा के निकट मालूम होता है। किन्तु अपनी दुर्निवार द्वन्द्वात्मक प्रतिभा और इससे भी अधिक द्वन्द्वात्मक पद्धति तथा तर्क-गति सम्बंधी सुस्पष्ट धारणा के कारण प्लेटो शैलिंग से कहीं अधिक आगे है। शैलिंग अपने चिन्तन की बनी-बनायी विषय-वस्तु को शास्त्रवादी चोले में पेश करके रह जाता है, जबकि प्लेटो द्वन्द्वात्मकता का सूत्र पकड़कर सत्य का उद्घाटन करता है। उसके लिए सत्य और उस तक पहुंचने की उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति एक-दूसरे से अभिन्न हैं।

शास्त्रवाद का उदय

ईसा की सीखों तथा प्राचीनों के विधि-विधानों और मान्यताओं में कतई कोई साम्य नहीं था। बहुदेवोपासक संसार के गुण ईसा के अनुयायियों की दृष्टि में भीषण पाप थे। सौन्दर्य की उस प्रतिमा में, जो यूनानियों की उपासना का केन्द्र थी, नग्न कामुकता के सिवा और कुछ नजर नहीं आता था। ...गर्व के स्थान पर दीनता को, ऐश्वर्य के स्थान पर स्वेच्छित दरिद्रता को और रागात्मक विलास के स्थान पर अभावों को उसने अपने गले लगाया ...।

ईसा का मत प्राचीन संसार से इतना विपरीप था कि उसके लिए सुधार की नहीं, वरन् पूर्ण कायापलट की आवश्यकता थी। रागात्मक और कलापूर्ण प्राचीन संसार यौवन की मुसकान के साथ, सहज भाव से, हर चीज को भेंटता था। हर चीज के तत्व तक—उसमें निहित भाव तक—वह पहुंचता था। किन्तु अपनी सहज स्फूर्ति को कभी तिलांजलि नहीं देता था, निष्कर्षों के ओर-छोरों को नहीं नापता था। उसका विज्ञान एक कविता थी। उसकी कला उपासना की वस्तु थी। मानव की उसकी धारणा नागरिक की धारणा से विच्छिन्न नहीं हुई थी। वह गणतंत्र बेहद उत्पीड़ित दास-प्रथा की नींव पर टिका था। नैतिकता कानून की धाराओं में निहित थी। अपने नागरिक में वह उसके मत-प्रदत्त अधिकारों और उसकी हैसियत तथा शान-शौकत का मान करता था, किन्तु उसकी मानवीय आत्मा का नहीं। यौवन से हुमकता वह संसार सुन्दर था—अत्यंत सुन्दर और मुग्धकर, और साथ ही अक्षम्य रूप से निश्चित। दर्शन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण से महत्वपूर्ण समस्याओं को वह ताक पर रखता—इसलिए कि कौन उनमें सिर खपाये, कौन छिछले हलों से अपने को भरमाये। वह ऐश्वर्य और रास-रंग में डूबा था। उन दासों की ओर उसका ध्यान तक नहीं जाता था, जो खेतों से लौटने के बाद तहखानों में बन्द अपनी जंजीरों को खड़काते थे। किन्तु, एकदम अचानक, प्राचीन संसार का यह अत्यंत मोहक रंगमंच, जो उसकी दृष्टि को सीमित किये था, विलीन हो गया। अनन्त क्षितिजों का विस्तार हुआ उन क्षितिजों का जिनके संतुलित अनुपातों की उस

संसार में कल्पना तक नहीं की जा सकती थी। इस अनन्तता के सामने उस संसार की हर चीज, उसकी प्रत्येक आधार-शिला तुच्छ दीखने लगी और मानव का चेहरा, जो अब तक नागरिकता के भंवर में खोया हुआ था, प्रभु की वाणी के तेज से दीप्त ऊपर उठा और अगम ऊंचाइयों को छूने लगा। आये दिन के और नागरिक जीवन के मूल्यों का मान जाता रहा। ईसा के व्यक्तित्व ने नगर के सामूहिक व्यक्तित्व को आच्छादित कर लिया। इंजील ने, गुरु-गम्भीरता के साथ, मानवीय अधिकारों की घोषणा की। मानव ने पहली बार जाना कि वह क्या है? हर चीज को बदलना था। देश-प्रेम की पुरानी भावना सुन्दर और दिव्य थी। किन्तु वह अन्याय पर आधारित थी, सीमित थी। उसका स्थान अब पड़ोसी के प्रति प्रेम ने लिया। संकुचित राष्ट्रीयता का स्थान धर्म की एकता ने ग्रहण किया। रोम की नागरिकता का अधिकार केवल चुने हुए लोगों को प्राप्त था। किन्तु ईसाई धर्म की बपतिस्मा का द्वार सभी के लिए खुला था। ...

इंजील ने मानव के अन्तर को तो बदला, किन्तु राज्य का पुराना ढांचा, जिसका अस्तित्व धर्म के सूत्रों का खण्डन करता था, कायम रहा। ईसा के अनुयायियों ने रोमन राज्य और रोमन विधान को गले लगाये रखा। पराजितों और क्षय-प्राप्त लोगों ने विजेताओं के खेमे में प्रवेश किया ... ऐहिक और धार्मिक शक्तियों में कभी न शान्त होनेवाले संघर्ष का सूत्रपात हुआ ... धीरे-धीरे, किन्तु निश्चित रूप में, कैथोलिसिज्म ने प्रभुत्व और विजय प्राप्त की। लियो दशम के रूप में, जो सन्त पीतर के शिष्य से अधिक रोमन सम्राट का उत्तराधिकारी मालूम होता था, उसने अपनी विजय के फलों का उपभोग शुरू किया। संघर्ष ने जीवन के किसी पक्ष को नहीं छोड़ा। एक ही व्यक्ति में विकटतम विरोध नजर आते थे। कोई घड़ी ऐसी नहीं होती थी जब वह अपने इन अन्तर्विरोधों का परिचय न देता हो। गुएल्फों और घिबेल्लिनों का यह द्वन्द जो अनेक रूपों में अपने को प्रकट करता था, दान्ते द्वारा वर्णित सांप और मानव के द्वन्द के समान था जिसमें, अनेक बार, मानव सांप का और सांप मानव का रूप धारण कर लेता है। और इस द्वन्द की विशेषता यह थी कि अहम् के पोषण और उदासीनता के लिए इसमें कोई स्थान नहीं था, मानो कोई भंवर था जिसमें प्रत्येक वस्तु बरबस खिंची चली आती हो। प्रत्येक वस्तु में मानो एक तरह के उन्माद और चिरन्तनता का पुट मिला हो।

विज्ञान की सारी दिलचस्पियां, उसकी समूची गतिविधि, इन दिनों शास्त्रवाद में (स्कौलैस्टिसिज्म में) सिमटकर रह गयी थी ... शास्त्रवाद एक विचित्र प्रकार का दो-मुंहा जीव था ... न तो वह पूर्णतया धार्मिक था, न पूर्णतया वैज्ञानिक। आस्था में जब ढुलमुलाहट होती तो वह सूत्रों की शरण लेता, और जब तर्क में कमजोर पड़ता तब आस्था का दामन पकड़ता ...

स्वतंत्र चिन्तन से वह उतना ही डरता था जितना प्लेग से। अरस्तू या अन्य किसी अधिकारी के उद्धरणों का सहारा लिये बिना वह एक डग भी नहीं चल सकता था। प्रकृति विज्ञान का तो प्रश्न ही नहीं उठता। प्रकृति से वह इतनी घृणा करता था मानो उससे कोई सम्बंध ही नहीं रखना चाहता हो... नक्षत्र-विज्ञान, कीमियागिरी और जादू-टोनों ने सिर उभारा... उस चीज को, जो प्रकृत और भौतिक थी, पर्दे के पीछे छिपा दिया गया। शरीर एक ऐसी चीज थी जिससे सम्बंध रखना लज्जाजनक मालूम होता था; मानो वह ऐसी चीज हो जो आत्मा को पाप-पंक में फंसाती हो।... शास्त्रवादी उस हर चीज को, जो नश्वर थी, कुचल डालना चाहते थे; वे उसे देखना तक नहीं चाहते थे, मानो उसका कोई अस्तित्व ही न हो।...

शास्त्रवादी दुनिया बड़ी अभागी दुनिया थी, सन्ताप की मारी हुई। इसमें हर उस चीज को, जो सहज-स्फूर्त थी, नष्ट कर दिया गया था। बोझिल औपचारिकता का पालन होता था। वह निष्प्राण जीवन-दर्शन में डूबी हुई थी। चिन्तन, अरस्तू के शब्दों में, अपने शुभ लक्ष्य से भ्रष्ट हो गया था। मध्ययुगीन मानव को उसने बुरी तरह झंझोड़ और छार-छार कर डाला था। विभाजन के तेज खांडे से लैस उसने हृदय को मस्तिष्क से, साधक को साध्य से, मन को वस्तु से, अलग कर दिया था। अन्तर्निहित को उछालना और बाह्य को ठोकर मारना ही उसका काम था। चिन्तन और सत्ता की (गोचर जगत की) एकता का प्राचीनों में प्राधान्य था; शास्त्रवादियों ने उनके अन्तर्विरोध को अति पर पहुंचा दिया... ज्ञान की खोज में वे जीवन और प्रकृति से मुंह मोड़ लेते थे और पुस्तकों में डूब जाते थे — अतीत के पृष्ठों में ही उन्हें सत्य दृष्टिगोचर होता; वे सदा पीछे की ओर देखते।...

अब लोगों के मस्तिष्कों को शास्त्रवाद ने इतना विकृत कर दिया था कि वे किसी भी चीज को सहज-सरल ढंग से समझने में असमर्थ हो गये। उनकी संवेदनशीलता को जैसे काठ मार गया। सुस्पष्ट चिन्तन से वे घृणा करते, पुरानों के शाब्दिक उद्धरणों से पुष्ट और सार-तत्व से शून्य तर्क-जाल को सत्य समझते। सजावट, रोबदाब और दुरूहता के बाहुल्य के अनुसार लेखक के पांडित्य की माप की जाती। अरस्तू को लेकर टीका-पर-टीका और टिप्पणी-पर-टिप्पणी के तूमार बांधे गये। प्रतिभा, शक्ति, जीवन — अत्यन्त निरर्थक वाद-विवादों में खप गये। किन्तु, अन्त में, शास्त्रवाद का दमघोट अंधेरा छंटा और नये क्षितिजों का विस्तार हुआ। टीका-टिप्पणियों का स्थान प्राचीन लेखकों की मूल रचनाओं के अध्ययन ने लिया और नयी, सुस्पष्ट, ताजी, भावनाओं का संचार हुआ।

नये दर्शन की परिणति

नये दर्शन की परिणति और उसका भाग्य सुधारवादी काल के आन्दोलनों से भिन्न नहीं था : न तो पुरानी कोई चीज शान्ति से रह पायी, न नये का उदय हुआ। पुरानी ईंटों से नयी इमारतें खड़ी करने का काम किया गया। फलतः न तो इमारतें नयी रहीं, न पुरानी। सुधारवादी काल के आन्दोलनों ने बहुत कुछ किया; भारी डग भरे। सभी कुछ आवश्यक और अनिवार्य था; और सब कुछ बीच में ही रुक गया। सचमुच, बड़ी आश्चर्यजनक बात होती यदि इस युग का — महान प्रयागों के इस युग का — विज्ञान अपना सम्पूर्ण कार्य कर लेता। विज्ञान ऐतिहासिक युग के अन्य तत्वों से अपने-आपको अलग नही रख सकता था। उसमें अभी इतनी सामर्थ्य नहीं थी। वह अपने युग का सचेत, विकसित, चिन्तन है। अपने चारों ओर की अन्य चीजों की भांति वह भी उसी भाग्य का भोगी होता है। शुद्ध शास्त्रवाद के (स्कोलैस्टिसिज्म के) विरुद्ध उसने जोरों से आवाज ऊंची की। किन्तु शुद्ध शास्त्रवाद स्वयं उसके रक्त में भी व्याप गया ... सामन्तवाद सुधारवाद से अधिक बलिष्ठ सिद्ध हुआ। नये योरपीय जीवन के किसी पहलू को उसने नहीं छोड़ा। सभी में वह पूरी तरह व्यापा। उसने उनमें भी अपनी जड़ें जमायी जो उसके विरुद्ध विद्रोह का झंडा ऊंचा उठाये थे। माना कि इसका अब वही पहलेवाला रूप नहीं था; उसे संशोधित कर लिया गया था—और इससे भी अधिक यह कि इसके साथ-साथ कुछ ऐसा भी था जो वास्तव में नया और सप्राण था। किन्तु यह नया तत्व, इससे पहले कि वह परिपक्व हो, बहुसख्यक लोगों तक पहुंच सके, अभी सामन्तवाद की उंगली पकड़कर चलना सीख रहा था, उसका शरणागत बना हुआ था। ...

सुधार आन्दोलनों ने शुद्ध शास्त्रवादियों के बिलगाव को, द्वैतवाद को, नष्ट नहीं किया। वे केवल उसके सड़े-गले, रहस्यवादी-गूढ़ता के जामे को उतार फेंकने में सफल हुए और शुद्ध चिन्तन, भाववाद और युक्ति-संगत सार-मंचय के स्तर पर उसे पहुंचा दिया। यह भी एक भारी डग था। इस प्रकार, द्वैतवाद को चिन्तन के सामान्य स्तर पर पहुंचाकर, दर्शन ने उसे खांडे की धार पर रख

दिया, और हमारे लिए, खुद उसको बींधते हुए बाहर निकलने की सम्भावना प्रस्तुत कर दी। आधुनिक विज्ञान वहीं से आरम्भ होता है, जहां से प्राचीन विज्ञान ने उसे छोड़ा था, उस बिन्दु से जहा तक प्राचीन दुनिया ने चिन्तन को पहुंचा दिया था। प्राचीन जगत की समस्या को उसने उठाया तो, किन्तु उसे हल नहीं किया ; उसके हल के बिन्दु तक पहुंचकर वह रुक गया। उसे यह आभास हो गया था कि वह एक ऐसा हल है जो उसकी मौत की घंटी भी होगा; दूसरे शब्दों में यह कि उसका वास्तविक तथा सक्रिय अधिकार इतिहास की चीज बन जायेगा। ..

पुराना दर्शन और आधुनिक दर्शन—ये वे दो महान स्तम्भ हैं जिन पर भविष्य का विज्ञान अपनी स्थापना करेगा। दोनों अपूर्ण हैं, दोनों में अवैज्ञानिक तत्व मौजूद हैं। किन्तु दोनों ने ऐसी जमीन तैयार करने में योग दिया है जिसके बिना सच्चा, पूर्ण विज्ञान विकसित नहीं हो सकता था। दोनों अतीत से सम्बंध रखते हैं। पुराना दर्शन, आपको याद होगा, सहज स्फूर्तता का पुट लिए होता था। मानो वह एक ऐसा तथ्य हो, ऐसी घटना हो. जो छप्पर फाड़कर आकाश मे आ गिरी हो—मानो लोगों ने अपनी आस्था के कारण जीवन में, दुनिया में, सहज सत्य के रूप में उसे स्वीकार कर लिया हो। यही वह रूप था जिसमें पुराना दर्शन सत्ता और चिन्तन की एकता या अभिन्नता को स्वीकार करता था। अभिन्नता स्वीकार करना मूलतः सही था। किन्तु इसका ढंग गलत था। वह आस्था का, महज वृत्ति का, या आप कहना चाहें तो, सत्य की अनुभूति का ढंग था, सचेत चिन्तन का नही। इस प्रकार का सहज-स्फूर्त तत्व सर्वथा विज्ञान-विरोधी था। मध्ययुग में इसकी प्रतिक्रिया हुई। ऐसे विचारों का उदय हुआ जो इस सहज-स्फूर्ति की प्रतिक्रिया थे। किन्तु इससे, उसी तरह की एक अन्य त्रुटि से, वे भी अपने को मुक्त नहीं रख सके। उन्होंने उस आदि-वृन्त को तो काट डाला जो मानव को प्रकृति से जोड़े था। मानव पूर्णतया चिन्तन के अन्तर्लोक की ओर उन्मुख हो गया। उसने अकेले उसी में अपनी समस्याओं का हल खोजने का प्रयास किया। किन्तु भावों का मनोलोक, शुद्ध रूप में, आत्मगत था। उसके पास कोई पदार्थ नहीं था। "सत्ता की वास्तविकता," गिओर्दानो ब्रूनो ने कितने सुन्दर ढंग से कहा है, "वास्तविक पदार्थ से निर्धारित होती है।" मध्य युग के मानव का पदार्थ वह स्वयं था जिसका, एक शून्य इकाई के रूप में, वह अवगहन करता था। सहज-स्फूर्ति से इन्कार करना भी उतना ही अवैज्ञानिक है जितना कि बिना किसी विवेक के उसे स्वीकार कर लेना। स्वयं अपने ही अन्तर में केन्द्रित एक मात्र अपने में ही व्यस्त मस्तिष्क ने, बेकन के शब्दों में, "शुष्क, शोकपूर्ण शास्त्रवाद का रूप धारण कर लिया और अपने-आप को एक बहुत ही कोमल, बेलबूटेदार, किन्तु नितान्त फालतू जाल

से घेर लिया।" बुद्धि में मानव की आस्था ने शास्त्रवाद को एक ऐसी स्थिति में डाल दिया जिसमें हर बेहूदगी ने — बशर्ते कि वह तर्कजाल से ठीक सिद्ध होती हो — वास्तविकता का रूप धारण कर लिया। और चूंकि विषय-वस्तु से मानव कतई शून्य थे, इसलिए उसकी क्षतिपूर्ति वे कल्पना और मानसिक सहज-स्फूर्ति के क्षेत्र में करते थे। वे उसकी ओर वैसे ही लपकते थे जैसे अनुभववादी अनुभव की ओर। इस प्रकार एक ओर तो जड़ पत्थर था और दूसरी ओर प्रेत-छायाओं से आबाद भयावह शून्य था। क्रान्तिकारी युग के लोगों ने देखा कि शास्त्रवाद उनकी नौका को पार नहीं लगा सकता, और वे उससे घृणा करने लगे। किन्तु शास्त्रवाद का खण्डन आधुनिक विज्ञान का स्थापन नहीं था।... कोई परम आवश्यक कार्य था तो यह कि चिन्तन स्वयं ही सत्ता से, पदार्थ से, सामान्य सत्य से, सम्बंध स्थापित करे, और, सचमुच, इन प्रश्नों के साथ आधुनिक विज्ञान ने कर्मभूमि में पदार्पण किया। दकार्ते, असंदिग्ध रूप से, आधुनिक विज्ञान का पिता था। बेकन का महत्व भिन्न है।...

विज्ञान का अध्ययन

सूक्ष्मताओं की दुनिया में निवास करनेवाले रूपवादियों के लिए व्यक्तित्व कोई महत्व नहीं रखता, और इसीलिए उसके दान का भी कोई महत्व नहीं होता। वे जीवन से भी बेगाना होते हैं और क्रिया-शीलता से भी। उनकी काव्यानुभूति, और उनकी रागात्मकता, सूक्ष्म बोध से — बोध के आभास मात्र से — तुष्ट हो जाती है। इसके लिए उन्हें न एक सींक तोड़नी पड़ती है, न कष्ट उठाना पड़ता है, न ही वेदना सहनी पड़ती है जो कि, विज्ञान की वेदी पर, तिल-तिल करके अपनी भेंट चढ़ाने के समय उत्पन्न होती है। वे विज्ञान का अध्ययन औपचारिक ढंच से करते हैं, केवल सतही ढंग से ... किन्तु विज्ञान का अध्ययन करने के लिए, उसी का जीना जीने के लिए, न केवल उसके स्वरूप को बल्कि उसकी आत्मा को भी आत्मसात करना पड़ता है।

युग की प्रतिभा गेटे

परमबोध प्राप्त करने की असम्भावना ने मानव और सत्य के बीच एक अगम खाई खोद दी थी। यह ऐसी स्थिति थी जिसमें मानव अपने होश-हवास खो सकता था। इससे निस्तार पाना दूभर था। आखिर एक मानव का उदय हुआ जिसका वक्ष वज्र के समान दृढ़ था और जो अपनी गहरी वास्तविकता मे इस खाई को पाटने की सामर्थ्य रखता था। वह आदमी था गेटे। वह वस्तुओं के तात्कालिक बोध की असाधारण प्रतिभा का धनी था। अपनी इस प्रतिभा से वह अवगत था और हर चीज का स्वतंत्र निरीक्षण करता था। वह किसी कालेज का आचार्य नहीं था, न किसी विषय विशेष का पंडित ही। वह एक चिन्तन-मग्न कलाकार था। वह पहला आदमी था जिसने मानव का अपने चारों ओर की दुनिया से पुनः सम्बंध जोड़ा।...

गेटे के लिए प्रकृति ही जीवन थी— ठीक वैसा ही जीवन जो उसके भीतर भी हिलोरें ले रहा था और जिसे, ठीक इसीलिए, वह इतनी घनिष्ठता के साथ समझता था। इतना ही नहीं। ऐसा मालूम होता था मानो स्वयं प्रकृति उसके होंठों से अपने-आपको व्यक्त कर रही हो, अपने रहस्यों मे हमें दीक्षित कर रही हो... बड़ा शानदार दृश्य था वह। ऐसा मालूम होता था मानो मानव जाति, अपने अन्तरतम रहस्य के रूप में, कवि-विचारक और विचारक-कवि का चोला धारणकर, धरती माता की गोद में लौट आयी हो।...

निस्संदेह, प्रतिभा का प्रत्येक पुष्प हजारों तन्तुओं और रेशों से अपने पौधे से जुड़ा होता है। बिना तने के उसका अस्तित्व कभी सम्भव नहीं। फिर भी, न तो वह तना है, न पत्तियां। वह पुष्प है। और उसका जीवन, पौधे के अन्य भागों से जुड़ा होने पर भी, एक भिन्नता लिये होता है। किसी भी जाड़े-पाले की सुबह वह नष्ट हो सकता है; किन्तु उसका तना फिर भी बना रहता है। पुष्प, आप कहना चाहें तो, पौधे का लक्ष्य और उसके जीवन की चरितार्थता है; फिर भी वह सम्पूर्ण पौधा नहीं होता। इसी प्रकार प्रत्येक युग, जैसा

कि कहते हैं, अपने केन्द्र मे (यदि उन्हें विकसित होने का मौका मिले) अपने श्रेष्ठतम और पूर्णतम प्रतिनिधियों को धारण करता है। न केवल यह कि वे समूह में से आते है, वरन उसके **भीतर से** प्रकट होते है। गेटे को लीजिए : वह जर्मनी के घनीकृत, केन्द्रित, निर्मल और **मंगल** तत्व को व्यक्त करता है। वह उसमें से उदित हुआ। अपनी जनता के इतिहास की अनुपस्थिति मे उसका अस्तित्व सम्भव नहीं हो सकता था। किन्तु वह देशवासियों मे इतना ऊंचा उठ गया था कि वे उसे साफ तौर से नहीं समझ सके, और, अन्ततोगत्वा, वह स्वयं भी उन्हें साफ तौर से नहीं समझ सका। वह हर उस चीज का मूर्त रूप था जो प्रोटेस्टैंट दुनिया के हृदय को विह्वल और विचलित करती थी, और उसने अपने पंखों को इतनी दूर-दूर तक फैलाया कि, सागर के जल पर छायी ईश्वरीय आत्मा की भाति, अपने समय की दुनिया पर छा गया। नीचे सभी कुछ बिखरा हुआ और अस्तव्यस्त था; भ्रान्तियों का बवण्डर और शास्त्रवाद था; चीजों को समझने की निष्फल छटपटाहट थी। वह स्वयं चेतना का उज्वल आलोक था, प्रशान्त और नैसर्गिक — अपने सम-सामयिकों से कहीं अधिक ऊंचाई पर स्थित... सबसे अलग, अपने आलोक की गरिमा से सन्तुष्ट ! ... इस अर्थ में वह अपवाद था। शिलर और फिख्ते, रूसो और बायरन, और उन सभी लोगों से वह भिन्न था जो जन-समुदाय को अपने स्तर तक लाने के लिए छटपटाते थे, व्यथित होते थे। ...

◊◊

उन्मुक्त कर्म

बिना ज्ञान के, बिना पूर्ण आत्मबोध के, वास्तव में उन्मुक्त कर्म नही हो सकता। और, मानव-जाति के अतीत में, अब से पहले तक, ऐसा कोई पूर्ण आत्मबोध नजर नहीं आता। विज्ञान जो उसकी दिशा में बढ़ रहा है, इतिहास को सही ठहराता है, और साथ ही उसे तिलांजलि भी देता है। कारण, वास्तविक कर्म को अपने पोषण के लिए किसी उदाहरण की, किसी पुरानी टेक की, आवश्यकता नहीं होती : इतिहास उसकी जमीन, उसकी तात्कालिक अनिवार्यता, प्रस्तुत करता है।

बेलिंस्की

बेलिंस्की, जो सर्वाधिक सक्रिय, आवेग-उद्वेगपूर्ण, द्वन्द्वात्मकता के गहरे अनुराग में पगा हुआ जुझारू प्रकृति का व्यक्ति था, उन दिनों संघर्ष के बजाय सैद्धांतिक अध्ययन और भारतीयों जैसे विघ्न-बाधामुक्त प्रशान्त चिन्तन का हिमायती था। वह इस विचार-प्रणाली मे विश्वास करता था और इसके हर परिणाम को ओटने के लिए तैयार था। कोई चीज ऐसी नहीं थी जो उसे उसके इस विश्वास से जरा भी हटा सके और इसके आगे वह दूसरे के मत-मतान्तरों, नीति-अनीति की मर्यादाओं को, जिनके आगे अच्छे-अच्छे घुटने टेक देते हैं, नहीं स्वीकार करता था। वह निडर था। उसमें अपना स्वतंत्र मत रखने का साहस था। वह दृढ़ चरित्र था और सचाई में पगा था। उसकी आत्मा निश्छल थी।

"क्या तुम जानते हो कि अपने इस दृष्टिकोण से," अपने शब्दों में क्रान्तिकारी चुनौती का पुट भरते हुए मैंने उससे कहा, "तुम सिद्ध कर सकते हो कि यह भयानक निरंकुशशाही जो हमें जकड़े है, न्यायपूर्ण है और उसे अपना अस्तित्व बनाये रखने का अधिकार है!"

"बेशक!" बेलिंस्की ने उत्तर दिया, और इसके बाद पुश्किन कृत **बोरोदिनो की वर्षगांठ** की पंक्तियां सुनानी शुरू कर दीं!

इसे मैं नहीं सह सका। इसने हम दोनों के बीच गहरे द्वन्द की चिनगारियां भड़का दीं। द्वन्द की लपटों ने औरों को भी लपेटा। हम लोग दो पक्षों में बट गये। बाकुनिन ने दोनों में मेल-मिलाप कराना चाहा, समझाया-बुझाया, सब-कुछ बातचीत में उड़ाना चाहा। किन्तु, वास्तविक शान्ति प्राप्त नहीं हुई। विक्षुब्ध और असंतुष्ट बेलिंस्की मास्को से पीतर्सबुर्ग चला गया। वहां से, "बोरोदिनो की वर्षगांठ" शीर्षक एक लेख लिखा। यह लेख क्या था, मेरे ऊपर भयानक गोलाबारी थी।

इसका परिणाम यह कि बेलिंस्की से मैंने सम्बंध तोड़ लिये...

आपसी द्वन्द और गोलाबारी के इस वातावरण में, जी-जान से, मैंने हेगेल का अध्ययन शुरू किया... उसकी भाषा और पद्धति पर अधिकार करने

के बाद मैंने देखा कि अपने भक्तों की तुलना में वह हमारे दृष्टिकोण के अधिक निकट है — अपनी शुरू की कृतियों में और हर उस जगह जहां उसकी अद्भुत प्रतिभा तीव्रता से आगे की ओर अग्रसर होती है।...

१८४० में, बेलिंस्की के पीतर्सबुर्ग जाने के कुछ ही महीने बाद, मैं भी वहां पहुंचा। लेकिन मैं उससे मिलने नहीं गया। ओगार्योव बेलिंस्की के साथ मेरे इस झगड़े से बहुत व्यथित था। वह जानता था कि बेलिंस्की की बेतुकी विचार-धारा केवल क्षणिक कमजोरी है। मैं खुद भी यह जानता था। किन्तु ओगार्योव नरम दिलवाला था। अन्त में, अपने पत्रों के द्वारा, उसने हमारी मुलाकात कराने में सफलता प्राप्त की। हमारी मुलाकात शुरू में खिंची-खिंची, सर्द और असुखकर थी। किन्तु न तो बेलिंस्की कूटनीतिज्ञ था, और न मैं। फलतः इधर-उधर की दो-चार बातों के बाद ही मैंने उसके लेख "बोरोदिनो की वर्षगांठ" का जिक्र किया। बेलिंस्की अपनी जगह से उछलकर खड़ा हो गया। उसके गाल सुर्ख हो गये और अद्भुत सरलता से वह बोला : "चलो, अच्छा हुआ जो तुमने उसका जिक्र कर दिया। खुदा जाने, किस खुराफात में फंसकर मैंने वह सब किया... तुम जीते, भाई, तुम जीते...। पीतर्सबर्ग के तीन-चार महीनों ने मुझे जितना कायल कर दिया है उतना दुनिया भर के तर्क-वितर्क भी न कर सकते। छोड़ो उस खुराफात को।..."

और उस दिन से बेलिंस्की के जीवन की अन्तिम घड़ी तक हम दोनों एक प्राण दो शरीर की तरह रहे। जैसी कि आशा थी, बेलिंस्की ने, अपनी भाषा की पूरी प्रचंडता और तीखेपन के साथ अपनी पुरानी मान्यताओं की धज्जियां उड़ायीं। उसके पुराने साथियों में से कितने ही बड़ी दबसट में पड़े . . जिनमें जरा भी समझ और सप्राणता थी, वे सब बेलिंस्की की ओर चले आये। केवल ला-इलाज रूपवादी और पोथी-पंडित दूर रहे। उनमें से बहुतों को शून्य सिद्धान्तों ने शून्य बना दिया। निर्जीव जर्मन सूत्रों को रटते-रटते वे स्वयं भी निर्जीव हो गये। बाकी, अंध-राष्ट्रवाद और रूढ़िवाद के दलदल में जा फंसे।...

हेगेल के दर्शन के एकांगी निरूपण को तिलांजलि देने का अर्थ उसके दर्शन को तिलांजलि देना कतई नही था। बेलिंस्की ने ऐसा नहीं किया। उल्टे, उसके दार्शनिक विचारों ने अब सजीव, चुस्त और मौलिक ढंग से क्रान्तिकारी विचारों के साथ एकात्म करना शुरू किया।... जिस चीज को भी वह छूता — और कौन चीज ऐसी थी जिसे उसने न छुआ हो — सत्ताधारियों के प्रति उसकी घृणा फूट पड़ती और बहुधा काव्यात्मक ऊंचाइयों का वह स्पर्श करने लगता।... पुश्किन की काव्य-कृति की एक पंक्ति "ये ही हैं हमारे सगे-सम्बंधी" का सूत्र पकड़कर उसने समूचे पारिवारिक जीवन को न्याय के कठघरे में ला

खड़ा किया और पारिवारिक सम्बंधों के प्रत्येक सूत्र को, उसकी अन्तर्तम परिणति तक को, खोल कर रख दिया। **तारन्तास**, तुर्गनेव के **पराशा**, देरज्हाविन मोचालोव और **हैमलेट** पर उसके लेखों को क्या कभी भूला जा सकता है? ... और साहित्य के कुलीनों की ... साहित्य के उन मठाधीशों की जो अपने विपक्षी का मुंह बन्द करने के लिए पुलिस में मुखबिरी तक करने में नहीं चूकते थे, कितनी निर्ममता के साथ वह चिन्दियां बिखेरता था ... और इसके लिए कितनी बुरी तरह वे उससे घृणा करते थे। ...

पीतर्सबुर्ग और मास्को की युवा पीढ़ी बड़ी अधीरता से बेलिंस्की के लेखों की प्रतीक्षा करती थी। हर महीने की पच्चीस तारीख से ही यह प्रतीक्षा शुरू हो जाती थी। छात्रों के दल बार-बार कॉफी हाउस में आकर पूछते कि **ओतेचेस्तवेन्नोए जापिस्की** अभी आया या नहीं। आ जाने पर उसे पाने के लिए वे झपटते। "बेलिंस्की का लेख तो है न?" अगर लेख होता तो सरगर्म दिलचस्पी, हंसी और विवादों के साथ उसे उदरस्थ किया जाता ... और दो या चार पंथों या प्रतिभाओं के ताजिये वहीं ठंडे हो जाते। ..

बेलिस्की बहुत ही संकोची जीव थे। अपरिचित लोगों की मंडली में या किसी बड़ी मंडली में पहुंच जाने पर उनकी समझ में न आता कि क्या करें। वह उसमें एकदम खो जाते। बेलिस्की इस बात को जानते थे और इससे बचने तथा इसे छिपाने के लिए कभी-कभी बहुत ही बेतुकी हरकतें कर बैठते थे। एक बार 'के' ने किसी महिला के यहां जाने के लिए उन्हें तैयार किया। दोनों चल पड़े। अब जैसे-जैसे उस महिला का घर निकट आता बेलिस्की का हृदय बैठता जाता। कभी वह सिरदर्द का बहाना करते, कभी किसी और दिन आने की बात कहते। किन्तु 'के' बेलिस्की के स्वभाव से परिचित था। वह नहीं माना। घर के सामने पहुचने पर जैसे ही दोनों बर्फ-गाड़ी से उतरे, बेलिस्की ने हाथ छुड़ाकर भाग खड़े होने की कोशिश की। लेकिन 'के' ने उनका ओवरकोट पकड़ लिया और उन्हें महिला के सामने ले जाकर खड़ा कर दिया।

कभी-कभी बेलिंस्की को प्रिन्स ओदोयेव्स्की के साहित्यिक तथा कूटनीतिक संध्या आयोजनों में भी जाना पड़ता। इन आयोजनों में ऐसे लोगों की भीड़ जमा होती जो सिवा इसके कि वे एक-दूसरे को एक तरह की आशंका तथा हेय दृष्टि से देखते रहें, उनमें परस्पर कोई साम्य नहीं था। इनमें दूतावासों के अफसर और पुरातत्वविद साखारोव, चित्रकार और अर्थशास्त्री मेयेनदोर्फ, सांस्कृतिक सलाहकार, पीकिंग के बिचुरिन और ऐसे ही लोग होते जिनमें आधे पुलिसवाले और आधे साहित्यिक थे और कुछ तो पूर्णतया पुलिसवाले थे, साहित्यिक नाम को भी नहीं। ...

बेलिंस्की इन पार्टियों में पूर्णतया खो जाते थे। इन सभाओं में ऐसे लोग भी मिलते जो रूसी भाषा का एक शब्द नहीं समझ पाते थे, और ऐसे भी जो अनुच्चारित शब्दों को भी समझने का दावा करते। इस तरह की पार्टियों के बाद दो या तीन दिन तक बेलिंस्की उद्विग्न रहते, और उस आदमी को कोसते रहते जो उन्हें पार्टी में खींच ले गया था।

ऐसी ही एक पार्टी का जिक्र है। शनिवार की एक सांझ, नये वर्ष की पार्टी में प्रमुख अतिथियों के विदा हो जाने पर ओदोयेव्स्की को जी भर मदिरा पीने-पिलाने की धुन सवार हुई। बेलिंस्की जरूर ही खिसक गये होते। लेकिन रास्ते में मेज-कुर्सियों का एक बैरिकेड-सा था। बेचारे बेलिंस्की एक कोने में ही फंसे रह गये। उनके सामने एक छोटी सी मेज थी, जिस पर जरी की गोटवाली सफेद पतलून पहने ज्हुकोव्स्की बैठा था। मेज पर मदिरा के गिलास सजे थे। बेलिंस्की काफी देर तक मन ही मन कसमसाते रहे। बचाव का कोई चारा न देख वह उठे और चुपचाप मेज को खिसकाना शुरू किया। मेज थोड़ी हिली, एक ओर को झुकी, फिर झन्नाटे के साथ फर्श पर लुढ़क गयी। मदिरा की बोतल भी मानो इसी अवसर की प्रतीक्षा में थी। वह फूटी; सारी शराब ज्हुकोव्स्की के कपड़ों पर फैल गयी। ज्हुकोव्स्की उछलकर खड़ा हो गया। मदिरा उसकी पतलून पर बह रही थी। एक नौकर रूमाल लिए दौड़ा — मदिरा को पोंछने के लिए; दूसरा नौकर दौड़ा — टूटे हुए कांच के टुकड़ों को बीनने के लिए। ... और इसी हलचल में बेलिंस्की नौ-दो ग्यारह हो गये!

ओह, प्यारे बेलिंस्की! कितने लम्बे अर्से तक इस तरह की घटनाएं उन्हें परेशान करती रहीं। अपने कमरे के फर्श को इधर-से-उधर नापते और रह-रहकर अपने सिर को झटकते हुए कितने भय के साथ वह इन घटनाओं को याद किया करते थे।

किन्तु बेलिंस्की, संकोच के पुतले और क्षीण तथा रुग्णकाय बेलिंस्की, अपने भीतर सशक्त आत्मा छिपाये थे। हां, वह एक सशक्त सेनानी थे। उपदेश अथवा भाषण झाड़ने के लिए नहीं, वरन बहस में कूदने के लिए वह ललकते रहते थे। जब तक उनकी बात की कोई काट न करता, तब तक उनकी वाणी में मानो जान ही न आती। किन्तु जैसे ही उनके हृदय के तारों को कोई झनझना देता, प्राणों से भी अधिक प्रिय उनके विश्वासों को जैसे ही कोई चुनौती देता, उनके गालों के स्नायु तन जाते। उनका गला भर आता। उन्हें देखते ही बनता। वह चीते की भांति अपने प्रतिद्वन्दी पर टूट पड़ते। उसकी एक भी चिन्दी साबित न छोड़ते। उसे कहीं मुंह दिखाने लायक न छोड़ते। और ऐसा करते समय, अनायास ही, वह अपने मौलिक चिन्तन को असाधारण शक्ति के साथ, काव्य की ऊंचाइयों को छूते हुए, विकसित करते रहते। ...

साहित्य के दलालों की नोचा-खसोटी और धोखा-धड़ी से पैसे-पैसे को मोहताज, दमघोट सैन्सर से परेशान, पीतर्सबुर्ग के सम्वेदन-शून्य वातावरण और यक्ष्मा रोग से पीड़ित ... वह किसी से न मिलना चाहते, हर बाहरी आदमी से छिपते, और लगातार कई-कई सप्ताह तक गहरी उदासी में डूबे बैठे रहते। ... प्रकाशकों के तगादे-पर-तगादे आते। और तब, हर ओर से जकड़ा लेखक, दांतों को भींचकर, अपनी कलम उठाता और विक्षोभ से विदग्ध उसका रक्त उसके तीखे लेखों में प्रवाहित होने लगता। ...

बहुधा, पूर्णतया निःशक्त वह हमारे यहां विश्राम की टोह में आते। फर्श पर लेटकर कई-कई घंटों तक हमारे दो वर्षीय बालक से खेलते रहते। जब हम तीनों के सिवा वहां और कोई न होता तो ऐसा मालूम होता मानो स्वर्ग कहीं है तो यहीं। किन्तु जैसे ही किसी के दरवाजा खटखटाने की आवाज आती, उनके चेहरे का रंग उतरने लगता। बेचैनी के साथ वह इधर-उधर देखने लगते; एकाएक कहीं लुप्त हो जाने के लिए कसमसा उठते। ... और इसके बाद अगर कोई ऐसा एक इशारा, कोई ऐसी एक बात या टीका-टिप्पणी होती जो उनके हृदय को झनझना दे, तो ... तो अत्यन्त विकट दृश्यों और टक्करों का सूत्रपात हो जाता। ...

प्रदोप और व्रत-उपवासों के दिन थे। बेलिंस्की एक लेखक के यहां खाना खाने गये थे। फलाहारी भोजन परसा गया। "भला यह कब से?" बेलिंस्की ने पूछा : "भला तुम इतने धार्मिक कब से बन गये?" "हम फलाहारी भोजन करते हैं," लेखक ने उत्तर दिया, "केवल अपने नौकरों की खातिर ..." "नौकरों की खातिर!" बेलिंस्की के मुंह से निकला और उनका चेहरा विवर्ण हो चला। "नौकरों की खातिर?" उन्होंने फिर दोहराया। "कहां हैं तुम्हारे वे नौकर? मैं उन्हें बताना चाहता हूं कि तुम्हें धोखा दिया जा रहा है! खुलेआम दुराचार करो तो फिर भी गनीमत है। लेकिन दुराचार धर्म की चादर ओढ़ कर? ... मूढ़ता और अज्ञान का यह शोषण! ... नौकरों की खातिर? . और तुम खुद क्या कम नौकर हो? ... दुनिया भर के जारों, मठाधीशों और मालिकों के चाटुकार! ... नहीं, मैं नहीं रुक सकता! ... दूसरों की मुक्ति के लिए मैं फलाहारों का आदी नहीं, न ही मेरे यहां नौकर हैं!"

उन रूसियों में जो सिर से पांव तक **पक्के जर्मन** बन गये थे, हमारे विश्वविद्यालय का एक प्राध्यापक भी था। वह हाल ही में बर्लिन से लौटा था : आंखों पर नीला चश्मा चढ़ाये, अपनी साज-सज्जा तथा अन्दाज में 'मैं भी कुछ हूं' का भाव लिए हुए। यों हृदय का अच्छा था। लेकिन दर्शन और शब्द-विज्ञान ने उसके मस्तिष्क के पुर्जों को ढीला और अस्तव्यस्त कर दिया था। कोरा सूत्रवादी विद्याधर! ऊंचे सिंहासन पर बैठकर उच्च शैली में वह

प्रवचन करता। एक बार, उसी उपन्यासकार के यहां, जो अपने नौकरों की खातिर फलाहार करता था, साहित्यक गोष्ठी में प्राध्यापक महोदय ने अपना प्रवचन आरम्भ किया। बेलिंस्की एक कोने में कोच पर लेटे थे। जैसे ही मैं बेलिंस्की के पास से गुजरा, मेरे कोट का छोर खींचते हुए उन्होंने कहा : "सुन रहे हो उस ऊदबिलाव की बातें ? मेरी ज़ुबान उसका मुंह बंद करने के लिए खुजला रही है ! लेकिन मेरे सीने में दर्द है। फिर इतने सारे लोग वहां मौजूद हैं। यार तुम्हीं जरा कुछ करो ! उसे उल्लू बनाओ। उमेठो, कचरो, बेवकूफ बनाओ ! ... सच, तुम यह खूब कर सकते हो। करोगे न ? कितने अच्छे हो तुम, हर्जेन !"

मैं हंसा। बेलिंस्की से मैंने कहा—यह तो चूहा मारने के लिए शिकारी कुत्ता छोड़ना होगा। मैं इन हजरत को जानता तक नहीं था, न ही मैंने उनकी खुराफात सुनी थी।

लेकिन, उस समय जब गोष्ठी खत्म होने को थी, प्राध्यापक महोदय ने कोल्तसोव को कोसने के बाद प्रवचन समाप्त किया। उन्होंने कहा कि उसने जातीय पोशाक पहननी छोड़ दी थी। उन्होने चादायेव के सुप्रसिद्ध पत्र का जिक्र किया और अन्त में, अत्यन्त शास्त्रीय अन्दाज में बाजारू टिप्पणियां जड़ने के बाद, ऐलान किया : "जो हो, उसके इस काम को मैं नीच और घिनौना समझता हूं। ऐसे आदमी की मैं कोई इज्जत नहीं कर सकता !"

कमरे में चादायेव से घनिष्ठ सम्पर्क रखनेवाला एक ही आदमी था और वह था मैं ... मुझे बहुत बुरा लगा। रूखे स्वर में मैंने पूछा कि क्या उनकी समझ में चादायेव ने यह पत्र सच्चे हृदय से नहीं लिखा था। क्या इसे किसी अन्य स्वार्थ से लिखा था ?

"कतई नहीं !" उन महाशय ने उत्तर दिया।

इसके बाद अप्रिय बातों का सूत्रपात हुआ। मैंने कहा कि 'नीच और घिनौने' शब्दों का प्रयोग स्वयं अपने-आप में नीचता तथा घिनौनेपन का सूचक है— खास तौर से उस समय जब ऐसे आदमी के विरुद्ध उनका प्रयोग किया जाय जो साहस के साथ अपने विचारों को व्यक्त करता है और साहस के साथ दण्ड भुगतने को तैयार रहता है। इसके उत्तर में उन महाशय ने जाति की मर्यादा, देश की एकता को नष्ट करने की जघन्यता, और ऐसी ही अनेक अनुल्लंघनीयताओं की मातमपुरसी शुरू की।

तभी, एकदम अचानक, बेलिंस्की बहस में कूदे। बेलिंस्की का चेहरा धुली हुई चादर जैसा सफेद था। वह सोफे से उछलकर खड़े हो गये, मेरे निकट आये, मेरे कंधे को थपकाते हुए बोले : "देखा तुमने... यह मुंह और मसूर की दाल ... उल्टा चोर कोतवाल को डांटे ... सैन्सर और खुफिया पुलिस का गुर्गा ..."

बेलिंस्की का रोम-रोम रोष से तमतमा रहा था, विष से बुझे बाण उनके तरकश से निकल रहे थे :

"जाति और राष्ट्र की मर्यादा ! वाह ! लोगों को कोड़ों से पीटा जाता है, तब हम व्यथित नहीं होते ! उन्हें साइबेरिया भेजा जाता है, तब हमारा हृदय नही रोता ! लेकिन चादायेव ?... देखो न, जातीयता की मर्यादा डांवाडोल हो उठी है ! धृष्टता की भी एक हद होती है ! ... अगर कोई अन्य सभ्य देश होता तो ..."

"अजी सभ्य देशों में तो," नीले चश्मधारी महाशय ने अनन्य आत्म-तोष के साथ कहा, "जेलखाने मौजूद हैं जिनमें ऐसे पागल जीवों को बन्द किया जाता है । समझे ? समूची जनता जिस चीज का मान करती है, उसका अपमान करनेवालों को छुट्टा नहीं छोड़ा जा सकता । और यह एक अच्छी चीज है ।"

बेलिंस्की, एक ऊंचे शिखर की भांति, हम सबके बीच खड़े थे—भयप्रद; विशाल रुग्ण वक्ष पर अपनी बांहों को दोहरा किये हुए । उनकी आंखें सामने बैठे विपक्षी पर जमी थीं । मानो कहीं दूर से आती आवाज में उन्होंने उत्तर दिया : "आप ठीक कहते है किन्तु और भी अधिक सभ्य देशों में उन लोगों की जो इस काम को अच्छा समझते हैं गिलोटीन से खातिर की जाती है !"

पूर्णतया निःशक्त बेलिंस्की अब अपनी कुर्सी पर ढह गये और बोलना बन्द कर दिया । 'गिलोटीन' का शब्द सुनते ही हमारे मेजवान का चेहरा विवर्ण हो गया । मेहमानों ने बड़ा अटपटापन अनुभव किया । कमरे में निस्तब्धता छा गयी ! प्राध्यापक महोदय अंटा-चित्त थे । लेकिन ऐसे ही क्षणों में अहंकार काबू से बाहर भी हो जाता है । तुर्गनेव ने कहा है कि जब मानव तर्क की उस अति पर पहुच जाता है जो खुद उसे भयभीत करने लगती है तब —इससे पहले कि आगे कोई और शब्द मुंह से निकाला जाय— उसे अपनी जुबान को कम से कम दस बार अपने मुंह में घुमा लेना चाहिए ।

किन्तु हमारे विपक्षी ने, जो तुर्गनेव की इस घरेलू सलाह से बेखबर था, क्षीण आवाज में अपनी मूर्खतापूर्ण बातों की लड़ी जारी रखी, मानो बेलिंस्की को नहीं, वरन् समूची मंडली को सम्बोधित कर रहा हो :

"अपनी इस कट्टरता के बावजूद," अन्त में उसने कहा, "मेरा विश्वास है कि आप मुझसे सहमत होंगे ।"

"जी नही ! मैं आपकी किसी बात से सहमत नहीं हो सकता !" बेलिंस्की ने उत्तर दिया ।

हंसी का एक ठहाका उमड़ा और सब लोग भोजन के कमरे की ओर बढ़ चले । प्राध्यापक महोदय ने चुपचाप अपनी टोपी उठायी और बाहर का रास्ता लिया ।

देखते-देखते, दुःख और अभावों ने बेलिंस्की के रुग्ण शरीर को पूर्णतया अपने चंगुल में जकड़ लिया। उनका चेहरा, उनके होठों के इर्द-गिर्द के स्नायु, और उनकी आंखों की उदास स्थिर दृष्टि — उनकी आत्मा की क्रियाशीलता और उनके शरीर की द्रुत विच्छिन्नता दोनों का एक साथ परिचय देती थीं।

बेलिंस्की से मेरी अन्तिम मुलाकात १८४७ के शरद में, पेरिस में, हुई। उनकी हालत बहुत खराब थी। वह जोर से बोल तक नहीं पाते थे। उनकी पुरानी शक्ति केवल जब-तब ही अपने उज्वल अलोक में दमक उठती थी।

गोगोल के नाम पत्र उन्होंने इन्हीं दिनों लिखा था।

फरवरी की फ्रांसीसी क्रांति का समाचार पहुंचने के समय वह जीवित थे। और उसके आलोक को, नये सूर्योदय की आभा के रूप में ग्रहण करते हुए, वह इस संसार से विदा हुए।

निकोलाई गाव्रिलोविच चर्नीशेव्स्की

[१८२८–१८८९]



[जन्म : २४ जुलाई, १८२८]

[मृत्यु : १७ अक्तूबर, १८८९]

जीवन-वृत्त

महानदी वोल्गा के तटवर्ती प्रमुख नगरों में से एक का नाम सारातोव है। सारातोव में ही २४ जुलाई, १८२८ को एक गरीब पादरी के घर बालक निकोलाई गाव्रिलोविच का जन्म हुआ।

बाल्यकाल से ही निकोलाई गाव्रिलोविच चर्नीशेव्स्की के मन पर आतंक, क्रूरता और अमानवीय यातनाओं की छाप पड़ी। जिधर भी वह दृष्टि डालता अर्ध-गुलाम किसानों को शोषण-उत्पीड़न की चक्की में पिसता देखता।

तरुण चर्नीशेव्स्की ने १८४६ से १८५० तक संत पीतर्सबर्ग विश्वविद्यालय में अध्ययन किया। इस काल में ही उसके विचारों ने जनवादी क्रान्तिकारी रूप धारण किया। इन दिनों की अपनी डायरी में उसने लिखा : "... अपनी मान्यताओं के लिए मुझे प्राण भी देने पड़ें तो मैं नहीं हिचकूंगा ...!" किन्तु उसे यह अनुभव करते देर न लगी कि रूस में विज्ञान के विकास में ज़ारशाही और दास प्रथा दो प्रमुख बाधाएं हैं। इनके विरुद्ध संघर्ष को ही उसने जीवन का लक्ष्य बनाया।

१८५१ से १८५३ तक सारातोव के एक स्कूल में अध्यापन करने के बाद चर्नीशेव्स्की पीतर्सबर्ग चले आये और नियमित रूप से *ओतेचेस्तवेन्नीए ज़ापिस्की* तथा *सोव्रेमेन्निक* पत्रिकाओं में लिखने लगे। कुछ ही दिनों बाद वह *सोव्रेमेन्निक* के सम्पादक बन गये। *सोव्रेमेन्निक* के पृष्ठों से उन्होंने शिक्षा के प्रसार, अधिक रेलवे लाइनें बनाने तथा "आर्थिक शक्तियों के अधिक उचित वितरण" की मांग उठायी।

सोव्रेमेन्निक पत्रिका के सम्पादन-काल में ही उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध साहित्यिक निबंध "रूसी साहित्य का गोगोल युग", "लेसिंग और उसका युग" तथा "पुश्किन" लिखे। दर्शन-साहित्य की दृष्टि से उनका

लेख ' दर्शन में नृतत्व सिद्धान्त " विशेष महत्वपूर्ण है। उनके आर्थिक निबंध "मिल के अनुसार अर्थ-शास्त्र की रूप-रेखा" की मार्क्स ने प्रशंसा की है और चर्नीशेव्स्की को "महान रूसी विद्वान तथा आलोचक" कहा है। किन्तु साहित्यालोचन के विद्यार्थियों के लिए उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण लेख सौन्दर्य-शास्त्र सम्बंधी है जिसमें उन्होंने कला का जीवन से घनिष्ट सम्बंध स्थापित किया है। यह लेख है : "कला का वास्तविकता से सौन्दर्य-शास्त्रीय सम्बंध !"

अपने क्रान्तिकारी क्रिया-कलापों से पुरस्कार-स्वरूप १८६२ में चर्नीशेव्स्की गिरफ्तार कर लिये गये और संत पीतर और पॉल के किले में कैद कर दिये गये। इसी काल में उन्होंने अपना प्रसिद्ध उपन्यास "क्या करें ?" लिखा। रूस की कई पीढ़ियों के क्रान्तिकारियों को दीक्षित करने में इस उपन्यास ने पाठ्य-पुस्तक का काम किया।

गिरफ्तारी के कुछ ही दिनों बाद चर्नीशेव्स्की पर मुकदमा चलाया गया और उन्हें साइबेरिया में निर्वासित कर दिया गया।

१८८३ में साइबेरिया से उन्हें अस्त्राखान भेज दिया गया। अस्त्राखान में ही उन्होंने वेबर के "विश्व-इतिहास" का अनुवाद शुरू किया।

१८८९ में उन्हें सारातोव लौट आने दिया गया।

१८ अक्तूबर, १८८९ को वोल्गा-तट की अपनी प्रिय जन्म-भूमि सारातोव में ही उनके जीवन का अन्त हुआ।

उद्बोधन

सत्य बुद्धि की उपज नहीं है। वह जीवन की, वास्तविकता की देन है। अपनी बोधेन्द्रियों द्वारा हम उसे प्राप्त करते हैं।

◇ ◇ ◇

सिद्धान्त के क्षेत्र में विवाद से जो नहीं सुलझ पाता, वास्तविक जीवन में व्यवहार उसे निर्विवाद सुलझा देता है।

◇ ◇ ◇

केवल वे आकांक्षाएं ही वास्तव में महत्वपूर्ण हैं जो वास्तविकता पर आधारित होती हैं, केवल वे आशाएं ही फलवती होती हैं जिन्हें वास्तविकता जन्म देती है और केवल तभी जब उनकी पूर्ति के लिए उन शक्तियों और परिस्थितियों का सहारा लिया जाता है जिन्हें वास्तविकता प्रस्तुत करती है।

◇ ◇ ◇

पूर्णता यदि प्रकृति तथा जीवित मानव में नहीं है, तो कला और मानव की कृतियों में उसकी टोह करना बहुत दूर की चीज है। जो कर्ता (मानव) में नहीं है वह उसकी कृति में कैसे हो सकता है ?

◇ ◇ ◇

व्यक्तिगत रूप से हम लोग, जो अपने व्यक्तित्व की सीमाएं नहीं लांघ सकते, सौन्दर्य के अत्यधिक प्रेमी होते हैं, जो अपने व्यक्तित्व की सीमाएं नहीं लांघ सकता।

◇ ◇ ◇

मानव के क्रिया-कलाप परम-पूर्ण के आकांक्षी नहीं होते, न ही उसके बारे में कुछ जानते हैं, मानव का लक्ष्य केवल मानवीय क्रिया-कलाप ही होते हैं।

वास्तविक जीवन से हमारा तात्पर्य केवल बाह्य जगत के तत्वों और जीवों से ही मानव का सम्बंध नहीं, वरन् उसके आन्तरिक जीवन से सम्बंध भी है। कभी-कभी मानव स्वप्न में भी विचरता है और तब उसके लिए स्वप्न का महत्व (किसी हद तक और किसी समय तक) बाह्य वस्तु जैसा ही हो जाता है। इससे भी अधिक, मानव बहुधा अनुभूति जगत में विचरता है; इन अवस्थाओं को भी, यदि वे रोचक हैं, कला चित्रित करती है।

◇ ◇ ◇

केवल अपने क्षणिक गौरव के लिए नहीं, वरन् अपने देश के अनन्त गौरव तथा समस्त मानवता के कल्याण के लिए कार्यरत रहना — इससे अधिक श्रेष्ठ और महान कार्य और क्या हो सकता है!

◇ ◇ ◇

इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि मानव ने यातनाएं केवल भाग्यवश सही हैं अथवा कारणवश और मृत्यु को प्राप्त हुआ है। यातनाएं तथा मृत्यु भयानक हैं — उनके पीछे कारण कोई भी हो। हमसे कहा जाता है "दुखान्त नाटकों में आकस्मिक मृत्यु घृणास्पद लगती है।" लेखकों के लिखे दुखान्त नाटकों में वह भले ही घृणास्पद लगती हो; किन्तु वास्तविक जीवन में वह अत्यंत भयानक तथा दुखद लगती है।

सौन्दर्य क्या है ?

"वास्तविक पदार्थ ठीक इसीलिए सुन्दर नहीं हो सकता कि वह एक सजीव पदार्थ है जिसे जीवन की वास्तविक प्रक्रिया की समूची कुरूपता और दुनिया भर के सौन्दर्यनाशक तत्वों का शिकार होना पड़ता है।" यह भाववाद का विकटतम रूप है। इससे अधिक विकट रूप की कल्पना करना कठिन है। क्या चित्रकार द्वारा चित्रित या फोटो की प्लेट पर उतारा हुआ चेहरा सुन्दर होता है, और सजीव चेहरा सुन्दर नहीं ? क्यों ? क्या इसलिए कि सजीव चेहरा सदा जीवन की भौतिक प्रक्रिया के चिन्ह लिये होता है, अणुवीक्षण यंत्र से देखने पर वह सदा धूल-पसीने के कणों से भरा नजर आता है ?... यह एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसका खण्डन करना भी बेकार है... ऐसा न करके यह कहीं अच्छा होगा कि प्रचलित सौन्दर्य-शास्त्र की उस आधारभूत मान्यता पर एक दृष्टि डाली जाय जो इस तरह के विचित्र विचारों की जननी है। वह मान्यता यह है : "सुन्दर स्वयं पदार्थ नही, वरन पदार्थ का केवल वाह्य स्वरूप, उसकी सतह मात्र होता है।" इस मान्यता का कच्चापन उसी समय प्रकट हो जाता है जब हम इसके स्रोत पर नजर डालते हैं। बहुधा हम सुन्दर को अपनी आंखों से देखते हैं। हमारी आंखें बहुतकर केवल खोल को, आकार-प्रकार तथा बाह्य को ही देखती है, उसके अन्तर की बनावट को नही देख पातीं। इसी से यह निष्कर्ष निकाला गया कि सुन्दर स्वयं पदार्थ नहीं, वरन उसका सतही रूप है। किन्तु, सर्वप्रथम, आंखों से देखे जानेवाले सौन्दर्य के अलावा एक कानों से सुना जानेवाला सौन्दर्य भी होता है (जैसे गायन और वाद्य), जिसकी कोई सतह नही होती। दूसरे, हम अपनी आंखों से सदा केवल सतह को ही नहीं देखते। पारदर्शी पदार्थों में हम समूचे पदार्थ को, उसकी भीतरी बनावट को भी देखते हैं; अर्थात् बेशकीमती पत्थरों का सौन्दर्य उनकी पारदर्शिता में होता है। सबसे अन्त में, मानवीय देह — धरती पर सबसे सुन्दर पदार्थ — अर्ध-पारदर्शी होता है। मानव में हम केवल उसकी सतह को ही नहीं देखते, वरन खाल के पीछे झिलमिलाती उसकी आभा को भी देखते हैं, और यही वह चीज है जो मानवीय सौन्दर्य को इतना मनोहर बनाती है। तीसरे, पूर्णतया अपारदर्शी पदार्थों तक के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि हम केवल उनकी सतह को देखते हैं,

स्वयं उन्हें नहीं देखते। किन्तु 'देखना' एकमात्र आंखों का ही गुण नहीं है; उत्सुक और पैना मस्तिष्क भी इसमें सदा योग देता है। कल्पना भी पीछे नहीं रहती। आंखों के सामने प्रस्तुत आकार के रिक्त भाग को वह अपने रंगों से भर लेती है। "सुन्दर निरी सतह है"—इस विचार का एक अन्य आधार यह धारणा है कि पदार्थ के साथ हमारे भौतिक हित सम्बद्ध होते हैं, और भौतिक हित तथा सौन्दर्योल्लास एक साथ नहीं रह सकते। यहां हम यह सिद्ध करने का प्रयास नहीं करेंगे कि भौतिक हितों और सौन्दर्योल्लास के बीच कोई विरोध नहीं है, कि वे एक-दूसरे को काट नहीं करते। यहां इतना कहना ही काफी होगा कि वास्तविक पदार्थ, भौतिक हितों की भावना को जगाये बिना भी, सुन्दर लगते है।... तारे, समुद्र, वन, पत्तों की सरसराहट या बुलबुल का गीत... भला इनके साथ हमारा क्या भौतिक हित सम्बद्ध हो सकता है? फिर, हम बहुधा बिना किसी स्वार्थ के दूसरों को प्यार करते हैं। ऐसा करते समय हम अपने को एकदम भूल जाते हैं, हमें अपने 'मैं' का नाम मात्र को भी ध्यान नहीं रहता।... और सबसे अन्त में, यह विचार कि सुन्दर निरी सतह है सीधे सौन्दर्य की इस धारणा की देन है कि सुन्दर निरी छलना या माया है।...

सौन्दर्य और कलाकार

यह सच है कि कवि अपनी ओर से "कुछ उठा नहीं रखता।" किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसकी समूची इच्छा-शक्ति और कल्पना एकमात्र, या प्रमुख रूप से भी, अपनी कृति के कलात्मक अथवा सौन्दर्यात्मक गुणों की वृद्धि पर केन्द्रित रहती है। जिस प्रकार प्रकृति में विभिन्न परस्पर विरोधी प्रयास दिखायी देते हैं और उनकी टक्कर सौन्दर्य को बिगाड़ने या नष्ट करने में सहायक होती है, उसी प्रकार कलाकारों तथा कवियों को भी अनेक संघर्षों में से गुज़रना पड़ता है, जो सुन्दर के लिए उनके प्रयासों को प्रभावित करते हैं और उनकी कृतियों के सौन्दर्य को आघात भी पहुंचाते हैं। इनमें सर्वप्रथम आये दिन के उन तकाजों का स्थान है जो उसके कलाकार, विशुद्ध रूप में कलाकार, बनने में बाधक होते हैं। फिर उसकी बौद्धिक तथा नैतिक धारणाएं हैं जो एकमात्र सौन्दर्य की उपासना करने में आड़े आती हैं। तीसरे, सबसे अन्त में, यह कि कलात्मक सृष्टि का विचार, आम तौर से, एकमात्र सुन्दर की रचना करने की आकांक्षा से कलाकार के मस्तिष्क में उदय नहीं होता। कलाकार,

यदि वह वास्तव में कलाकार है, तो अपनी कृतियों के द्वारा आमतौर से अपने विचारों, मतों और भावनाओं को हम तक पहुंचाना चाहता है, केवल सुन्दर की अपनी भावना को व्यक्त करने तक ही वह अपने को सीमित नहीं रखता। संक्षेप में यह कि जिस प्रकार वास्तविक जीवन के क्षेत्र मे सुन्दर प्रकृति के अन्य तत्वों के साथ द्वन्द में विकसित होता है, उसी प्रकार कला के क्षेत्र में भी सुन्दर का विकास कलाकार के कतिपय संघर्षों और तकाजों के साथ द्वन्द में होता है। जिस प्रकार यह द्वन्द वास्तविक जीवन में सौन्दर्य को बिगाड़ने या नष्ट करने का कारण बन सकता है, उसी प्रकार कला-कृतियों के सौन्दर्य के बिगड़ने या नष्ट होने की सम्भावना भी कुछ कम नहीं रहती। जिस प्रकार वास्तविक जगत में सुन्दर ऐसे प्रभावों के अन्तर्गत विकसित होना है जो बाह्य होते हैं और उसे एकमात्र सुन्दर नहीं बनने देते, वैसे ही कलाकार अथवा कवि की कृति भी विभिन्न प्रभाओं के अन्तर्गत विकसित होती है। इन प्रभावों का परिणाम भी वैसा ही होना है जैसा कि वास्तविक जगत के प्रभावों का।....सच तो यह है कि कलाकार अपने मन से सुन्दर की अवतारणा करने में कोई कसर नहीं उठा रखता है, किन्तु परिणाम बहुधा विपरीत निकलता है। केवल सुन्दर की आकांक्षा करना ही यथेष्ट नही है, उसे समझना भी आवश्यक है। किन्तु कलाकार सुन्दर की अपनी कल्पना में बहुधा गलत सिद्ध होते हैं; उनकी कलात्मक अन्तःवृत्ति अनेकों बार उन्हें धोखा दे जाती है!

हमारी इच्छाएं

मानव की सभी आशा-आकांक्षाएं, उसकी इच्छाएं और आवश्यकताएं, "वास्तविक, सच्ची, आन्तरिक" नही होती। उनमें "काल्पनिक, वैचारिक और और निठल्ली" इच्छाएं भी होती हैं जिनके बारे में मानव अनुभव करता है, या कल्पना करता है कि उनका अस्तित्व है, किन्तु वास्तव में वे उसके लिए कोई महत्व नहीं रखतीं। उदाहरण के लिए **युगनेता** के नायक ग्रूनित्स्की को लीजिए। वह उन जीवों में से है जिनमें काल्पनिक, वैचारिक इच्छाएं— ऐसी इच्छाएं जो वास्तव में उनके लिए एकदम गैर हैं— बड़ी प्रबलता के साथ सिर उठाती हैं। यह दिलचस्प जीव अपनी समूची शक्ति से उस चीज को अनुभव करना चाहता है जिसे वह अनुभव नहीं करता, उस चीज को पाना चाहता है जिसकी उसे तत्वतः कतई आवश्यकता नहीं होती। वह घायल होना चाहता

है, वह साधारण सैनिक बनना चाहता है, वह प्रेम की आग मे जलना और निराशा में गलना चाहता है। इनके बिना वह जी नही सकता। उसके जीवन का सारा सम्मोहन, सारी न्यामतें, जैसे इन्हीं में छिपी हों। गनीमत यही है कि विधाता उसकी इन इच्छाओं को पूरा करने की भूल नहीं करता। कलाकार सदा के लिए प्रेम से किनारा काट ले, यदि उसे यह आभास हो जाय कि अमुक युवती उसके प्रेम को जरा भी महत्व नहीं देती। वह बुरी तरह बेचैन होता है—यह सोचकर कि वह अभी तक अफसर नहीं बना। वह बेहद खुश होता है जब इच्छित तरक्की का समाचार उसके पास पहुंचता है। किन्तु जब वस्तुतः अफसर बनने का अवसर आता है तब, घृणा के साथ, वह अफसरी की वर्दी को उतार फेंकता है, उसी वर्दी को जिसके लिए वह इतना उतावला था। हम सभी में, किसी न किसी अंश में ग्रूनित्स्की निवास करता है। सामान्यतः, कृत्रिम वातावरण मानव में कृत्रिम इच्छाओं का जन्मदाता है। पहले इस महत्वपूर्ण परिस्थिति की ओर विशेष ध्यान नही दिया जाता था। परिणाम यह कि मानव के स्वप्न-विहार को—बिना इस बात की जांच-पड़ताल किये कि वे कैसे और क्या हैं, कही वे विकार-ग्रस्त और निठल्ले खयाली-पुलाव तो नही हैं—मानव प्रवृत्ति का एक आधारभूत और अनिवार्य गुण घोषित कर दिया गया ... और गुण भी कैसा ?... मानव की सभी आशा-आकांक्षाएं और इच्छाएं सीमाहीन और कभी न तुष्ट होनेवाली लालसाओं की पांत मे बैठा दी गयीं। किन्तु आज हम कुछ अधिक सावधानी से, जांच-पड़ताल से, काम लेते हैं। आज हम उन परिस्थितियों को भी जांचते हैं जिसके अंतर्गत कतिपय इच्छाएं जन्म लेती, उमड़ती-घुमड़ती और शान्त होती हैं। और इस जांच-पड़ताल का एक बहुत ही विनम्र और सन्तोषप्रद निष्कर्ष प्रकट हुआ : यह कि मानव स्वभाव की मांगें, उसकी इच्छाएं, तत्वतः बहुत ही सरल होती है। केवल अतिवाद के परिणाम-स्वरूप ही, केवल तभी जब प्रतिकूल परिस्थितियां विकृतियों को जन्म देती है, केवल तभी जब सहज-साधारण तुष्टि जैसी चीज सम्भव नही रहती,—हां, केवल तभी मानव की इच्छाएं कल्पनातीत विकट रूप धारण करती है। मानव की रागात्मक वृत्तियां केवल तभी बवंडर बनती और उबलती-उफनती हैं जब उन्हें आवश्यकता से अधिक बाधाओं का सामना करना पड़ता है... यह मत कि मानव "सीमाहीन लालसाओं का पुतला है" और यह कि कोई भी "वास्तविकता उसे संतुष्ट नहीं कर सकती," गलत है।... सत्य तो यह है कि मानव न केवल उस वस्तु से ही जो जगत में श्रेष्ठतम है, वरन् उससे भी जो साधारण है, सन्तुष्ट हो जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि उन इच्छाओं में जिन्हें हम वस्तुतः अनुभव करते हैं, और उन इच्छाओं में जो केवल कहने भर की होती हैं, भेद किया जाय।... केवल अप्रकृत परिस्थितियां ही अप्रकृत इच्छाओं

को जन्म देती हैं ... कल्पना तभी हवाई महल बनाती है जब पास, अच्छे घर की बात छोड़िए, एक टूटी-फूटी झोपड़ी तक नहीं होती। वह केवल तभी बेलगाम दौड़ती है जब भावनाओं को कोई खूराक नहीं मिलती। वास्तविक जीवन में सन्तोषप्रद परिस्थितियों का अभाव कल्पना का स्रोत है। वास्तविकता के तनिक भी सह्य होते ही कल्पना के सारे सपने बेरंग और बेरस हो जाते हैं। सपने चाहे कितने भी भरे-पूरे और समृद्ध क्यों न हों, वास्तविक जीवन में लौटते ही हम उन्हें भूल जाते हैं। यह एक अकाट्य तथ्य है, जो सिद्ध करता है कि कल्पना के सपने वास्तविक जगत के सौन्दर्य और आकर्षण के सामने टिक नहीं सकते। इसी में वह आधारभूत भेद निहित है जो आज के विज्ञान को पुरानी, गयी-बीती, इन्द्रियबोधातीत, आधिभौतिक, प्रणालियों और जीवन तथा प्रकृति के बारे में उनकी मान्यताओं, से अलग करता है। आज का विज्ञान वास्तविकता को सपनों से ऊंचा स्थान देता है। वह जानता है कि काल्पनिक सपनों में रमने-वाला जीवन कितना थोथा और असन्तोषप्रद होता है। पहले, बिना किसी दुविधा के, काल्पनिक सपनों को वास्तविक जीवन से अधिक श्रेष्ठ तथा आकर्षक माना जाता था। सपनों के प्रति इस रुझान ने ही, साहित्य के क्षेत्र में, रोमांटिसिज्म को जन्म दिया था।

वास्तविकता

एक जमाना था जब कल्पना के सपनों को वास्तविकता से ऊंचा समझा जाता था, और कल्पना की शक्ति को अनन्त। किन्तु हमारे समसामयिक विचारकों ने पुराने विचारकों की अपेक्षा, इस समस्या का अधिक सावधानी से अध्ययन किया, और ऐसे निष्कर्षों पर पहुंचे जो पुरानी मान्यताओं से एकदम भिन्न थे। उन्होंने देखा कि पुरानी मान्यताएं निराधार हैं, कि हमारी कल्पना की शक्ति अत्यंत सीमित है और वास्तविकता से तुलना करने पर उसका कृतित्व अत्यंत फीका और क्षीण सिद्ध होता है। लाखों-करोड़ों मील की उस दूरी के मुकाबले जो सूरज को धरती से अलग करती है, और प्रकाश तथा बिजली की किरन की अत्यंत तेज गति के मुकाबले, अत्यंत प्रवणशील कल्पना भी अपने को ओछा अनुभव करती है। रैफील द्वारा चित्रित अत्यंत दिव्य आकृतियां भी, अन्ततः, जीवित व्यक्तियों की प्रतिछवि ही सिद्ध हुईं। विकट से विकट अंध-विश्वास और पौराणिक कृतियां, जो हमारे चारों ओर के जीव-जन्तुओं की

याद दिलाती हैं, उन अजदहों की तुलना में नहीं टिकतीं जिनकी विज्ञान ने खोज की है। इतिहास और आज दिन के जीवन के सूक्ष्म निरीक्षण से प्रकट है कि जीवित लोग, वे लोग भी जो साक्षात शैतानों या देवता-तुल्य लोगों की कोटि में स्थान नहीं रखते, कवियों की कल्पना से कहीं अधिक भयानक अपराधों तथा शुभ्र कृत्यों को सम्पन्न करते हैं। परिणाम यह कि कल्पना को वास्तविकता के लिए अपनी गद्दी से हटना पड़ा। इतना ही नहीं। उसे यह स्वीकार करने पर बाध्य होना पड़ा कि कल्पना-प्रसूत रचनाएं वास्तविक जगत द्वारा प्रस्तुत घटनाक्रम की अनुकृति मात्र होती हैं!

हमारा ज्ञान

क्या हमें ज्ञान है कि हम मानव शरीरधारी हैं, कि हम इन्सान हैं? यदि हमें ज्ञान है तो मानवीय शरीर की सत्ता के बारे में हमारा ज्ञान सीधा ज्ञान है। इसकी प्राप्ति के लिए हमें समाधि लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। यह सत्ता का—शरीरधारी मानव का—स्वयं अपने बारे में ज्ञान है। और शरीर के इस ज्ञान का अर्थ है उन कपड़ों का ज्ञान जो हम पहनते हैं, उस भोजन का ज्ञान जो हम खाते हैं, उस जल का ज्ञान जो हम पीते हैं, उन गेहुंओं का ज्ञान जिनकी हम रोटी बनाते हैं, उन बरतनों का ज्ञान जिनमें हम खाना पकाते हैं, उन घरों का ज्ञान जिनमें हम रहते हैं, उन ईटों के पजावों, खानों और जंगलों का ज्ञान जिनसे हम अपने घरों के लिए इमारती सामान प्राप्त करते हैं, तथा उन खेतों का ज्ञान जिनमें हम अन्न उपजाते हैं, आदि-आदि। संक्षेप में यह कि यदि हम मानव हैं तो अनगिनती चीजों का हमें ज्ञान है। हमें उनका सीधा और प्रत्यक्ष ज्ञान है; स्वयं उन चीजों का ज्ञान है। यह ज्ञान हम अपने वास्तविक जीवन मे प्राप्त करते हैं। किन्तु हमारा सभी ज्ञान इसी रूप का नहीं होता। हम चिन्तन द्वारा भी ज्ञान प्राप्त करते हैं। अन्य लोगों से सुनकर और पुस्तकों को पढ़कर भी हम अनेक सूचनाएं प्राप्त करते हैं। इनमें जो प्रामाणिक होती हैं, वे ज्ञान की कोटि की होती हैं। किन्तु यह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं, अप्रत्यक्ष होता है; वस्तुगत नहीं, मानसिक होता है। कहा जा सकता है कि यह वस्तुओं का सच्चा ज्ञान नहीं, आभास मात्र होता है। सीधे और वस्तुपरक व अप्रत्यक्ष तथा मानसिक ज्ञान के बीच भेद हमारे वास्तविक जीवन और मानसिक जीवन के बीच भेद के समानान्तर चलता है!

यह कहना कि हम केवल वस्तुओं का आभास पा सकते हैं, उनका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते, हमारे वास्तविक जीवन से, हमारी ज्ञानेन्द्रियों के अस्तित्व से, इन्कार करना है। मायावाद ठीक यही करता है। उसका तर्क है कि हमारी ज्ञानेन्द्रियां ज्ञानेन्द्रियां नहीं हैं, न ही हो सकती हैं।

मायावाद के तर्क का तरीका बहुत सरल है। वह मध्यकालीन शास्त्र-वाद की पद्धति अपनाता है। वास्तविक जीवन से वह कोई वास्ता नहीं रखता। तथ्यों की खोजबीन करने के बजाय वह सूक्ष्म स्थापनाओं का, जो मनगढ़न्त होती हैं, विश्लेषण करता है। ये स्थापनाएं मनगढ़न्त और मिथ्या होती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं, विश्लेषण से वे मिथ्या ही सिद्ध होती हैं। इस प्रकार, मिथ्या स्थापनाओं के मिथ्यापन को प्रकट करके हर उस चीज का खंडन किया जाता है जिसका खंडन करना वांछनीय होता है। पदार्थ विज्ञान के निष्कर्षों के मनमाने अर्थ लगाये जाते हैं, उद्धरण-उदाहरणों का ढेर लगाया जाता है और विश्लेषण द्वारा गलत अर्थों के गलतपन को प्रकट किया जाता है।

यह शास्त्रवाद है; मध्यकालीन शास्त्रवाद का एक नया रूप है। पूरी भूत-विद्या !—किन्तु सुसम्बद्ध तथा पाण्डित्य का आवरण धारण किये हुए।

मायावाद

मायावाद अपने-आपको तर्क शास्त्र का पूर्ण पण्डित समझता है। हर प्रकार के मनचीते तर्क-सिद्ध सत्यों का आविष्कार करने में उसे देर नहीं लगती। 'हमारे चिन्तन के नियम' का लेबिल लगाते ही हर विचार, जिसे वह पेश करना चाहता है, तर्क-सिद्ध सत्य बन जाती है। इसका प्रभाव भी पड़ता है। सूक्ष्म कल्पनाओं-मान्यताओं का विभाजन करने, उन्हें तोड़ने और नये मेल बैठाने एवं द्वन्द्वात्मक शब्द-जाल को बींधने में अभ्यस्त लोगों को फंसाने के लिए तर्कों-सूक्तियों का अन्तहीन ताना-बाना बीनने की क्षमता में उसे कोई मात नहीं दे सकता।...

कवि का कृतत्व

महान कवियों द्वारा चित्रित पात्रों-चरित्रों का उल्लेख करते समय बहुधा उनकी 'पूर्णता' 'व्यक्तित्व' एवं 'सुस्पष्ट गठन' का उल्लेख किया जाता है। किन्तु इसके साथ-साथ यह भी कहा जाता है कि "ये पात्र वैयक्तिक चरित्र

नही, वरन सामान्य 'टाइप' हैं।" इन दो कथनों के बाद यह सिद्ध करने की आवश्यकता नही रहती कि काव्य के अत्यंत सुस्पष्ट, सुअंकित और श्रेष्ठतम चरित्र भी जीवित, निश्चित आकारवाले व्यक्ति की सामान्य, धुंधली बाह्य रेखा मात्र ही होते हैं, या यूं कहिए कि अपनी कल्पना से पाठक उनमें (सही शब्दों में स्मृति से) जीवित व्यक्तियों की छाया आरोपित करते हैं। काव्य में वर्णित छवि में और वास्तविक जीवन की छवि में ठीक वैसा ही सम्बंध होता है जैसा शब्द में और उस पदार्थ मे जिसका कि वह बोध कराता है। यह शब्द वास्तविक पदार्थ का एक क्षीण, सामान्य, अस्पष्ट आभास अथवा प्रतीक मात्र होता है। बहुत से लोग काव्य में वर्णित छवियों की इस सामान्यता को, वास्तविक जीवन के पात्रों की तुलना में, उनकी श्रेष्ठता का लक्षण मानते हैं। यह मत सत्ता के सामान्य महत्व और उसके सजीव व्यक्तिगत रूप के बीच विपरीतता की मान्यता की देन है। यह इस धारणा की देन है कि "सामान्य, व्यक्ति का रूप धारण करता है और ऐसा करने के बाद अपनी सामन्यता" से वंचित हो जाता है, कि केवल "कला की शक्ति के द्वारा ही वह पुनः अपने उस ऊंचे सामान्य स्तर को प्राप्त करता है।" सामान्य और व्यक्ति को लेकर आधिभौतिक ऊहापोह में हम नही पड़ेंगे (यदि हमने ऐसा किया तो अनिवार्यतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि मानव के लिए सामान्य केवल व्यक्ति का एक रंगहीन निष्प्राण तत्व मात्र है अधिक कुछ नहीं है, और इसलिए उनके बीच वैसा ही सम्बंध है जैसा शब्द और वास्तविक पदार्थ के बीच होता है); नहीं ऐसा न करके हम केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि वस्तुतः व्यक्तिगत अथवा विशिष्ट लक्षण पदार्थ के सामान्य महत्व को तनिक भी व्याघात नहीं पहुंचाते; उलटे वे उसे पुष्ट और सप्राण बनाते हैं। इतना ही नहीं; स्वयं काव्य भी अपनी छवियों को सजीव व्यक्तित्व प्रदान करने के प्रयासों द्वारा, व्यक्ति की उच्चतम श्रेष्ठता को स्वीकार करता है।

चरित्र-चित्रण

इस मत का जन्म कैसे हुआ कि काव्य में चित्रित 'टिपीकल' चरित्र वास्तविक जीवन में दिखायी पड़नेवाले व्यक्तियों-चरित्रों से अधिक सुस्पष्ट और उत्कृष्ट होते हैं ? इस प्रश्न को अभी न लेकर हम यहां उस प्रक्रिया पर एक दृष्टि डालेंगे जिसके द्वारा काव्य में चरित्रों की 'सृष्टि' होती है। सामान्यतः

इस बात को गारंटी के साथ पेश किया जाता है कि काव्य में वर्णित छवियां सजीव व्यक्तियों से अधिक 'टिपीकल' होती हैं। कहा जाता है कि "कवि अनगिनत जीवित व्यक्तियों को जांचता-परखता है और देखता है कि उनमें एक भी ऐसा नहीं है जिसे पूर्णतया 'टाइप' कहा जा सके। अस्तु वह उनमें से सामान्य और 'टिपीकल' तत्वों को नोट कर लेता है, उनकी व्यक्तिगत विशिष्टिताओं को छांटकर अलग कर देता है और विभिन्न व्यक्तियों में बिखरे तत्वों को एकजूटकर एक कलात्मक समग्रता में उन्हें गूंथ देता है। इस प्रकार वह एक ऐसे चरित्र की सृष्टि करता है जिसे वास्तविक चरित्रों का निचोड़ कहा जा सकता है।" थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि यह एकदम सही है। किन्तु चीजों का निचोड़ या सत्व आमतौर से स्वयं उन चीजों से भिन्न होता है: थीन (चाय का सत) चाय नहीं है, न ही अल्कोहल को मदिरा की संज्ञा दी जा सकती है। उपर्युक्त नियम केवल उन्हीं रचयिताओं पर लागू किया जा सकता है जो वास्तविक जीते-जागते चरित्रों के स्थान पर वीरता की प्रतिमाओं की, दुष्ट दानवों के रूप में कुटिलता और जड़-नायकों की, रचना करते हैं। सभी, या प्रायः सभी, युवा प्रेम करते हैं। यह उनकी सामान्य विशेषता है। अन्य सब चीजों में वे एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। अस्तु सभी काव्य-कृतियों में हम उन युवकों और युवतियों को पसंद करते हैं जो सिवा इसके और कुछ नहीं करते कि हर घड़ी प्रेम के सपने देखें और प्रेम की बातें करें, प्रेम के उल्लास से उल्लसित हों और प्रेम की आग में जलें, आहें-कराहें भरते रहें। बड़े-बूढ़े लोगों में प्रायः नैतिकता के उपदेश देने की आदत होती है। हां, अन्य सब बातों में वे भिन्न होते हैं। सभी नानी-दादियां अपने नाती-पोतों को प्यार करती हैं। अस्तु कहानियों और उपन्यासों को ऐसे बड़े-बूढ़ों से आबाद किया जाता है जो सिवा नैतिकता बघारने के और कुछ नहीं करते। उन्हें ऐसी नानी-दादियों से भर दिया जाता है जो अपने नाती-पोतों को दुलराती रहती हैं, आदि-आदि। किन्तु, अधिकांश मामलों में, इस नुस्खे का पालन नहीं किया जाता। जब कवि अपने चरित्र की सृष्टि भी करता है तो (कभी जान में और कभी अनजान में) किसी वास्तविक व्यक्ति की छवि प्रायः उसकी कल्पना की आंखों में तैरने लगती है और इस छवि को वह अपने 'टिपीकल' चरित्र के रूप में पुनर्मूर्त कर देता है। इसकी पुष्टि में हम उन कतिपय कृतियों का उल्लेख कर सकते हैं जिनके नायक मूल रूप में, स्वयं रचयिता का ही प्रतिरूप होते हैं (उदाहरण के लिए, फॉस्ट, दौन कारलो, और मारक्विस द' पोजा, बायरन के नायक, ज्यार्ज सैंड के नायक और नायिकाएं, लैन्स्की, ओनेगिन और पेचोरिन)। हम उस आरोप का भी उल्लेख कर सकते हैं जो बहुधा उपन्यासकारों पर लगाया जाता है—अर्थात यह कि वे "उपन्यासों में बहुधा अपने परिचितों को चित्रित करते हैं।"... यह सही

है कि एक तो शिष्टता और दूसरे मानव की मौलिकता की सहज भावना के कारण, नकल से बचने और किसी मौलिक चीज को प्रस्तुत करने की आकांक्षा के कारण, कवि अपने चरित्रों में कुछ हेर-फेर कर देता है। वास्तविक जीवन के उन लोगों से जिनके कि वे प्रतिरूप होते हैं, उन्हें भिन्न बनाने का वह प्रयास करता है। इसके अलावा उपन्यास में प्रतिरूप जिस वातावरण में रहता है वह उस वातावरण से सर्वथा भिन्न होता है जिसमें कि मूल रहता था। यह एक ऐसी स्थिति है जो बाह्य समानता को मिटा देती है। किन्तु ये परिवर्तन भी इस तथ्य को नहीं नष्ट कर पाते कि चरित्र एक प्रतिरूप ही है, मौलिक सृष्टि नहीं। वह एक छवि-चित्र ही है, मूल नहीं। यहां यह कहा जा सकता है कि काव्य का चरित्र भले ही किसी वास्तविक व्यक्ति का प्रतिरूप हो, कवि उसे "सामान्यवाले महत्व के स्तर पर उठा देता है।" किन्तु, सच पूछिए तो, इसकी कोई आवश्यकता नहीं। कारण यह कि मूल, व्यक्ति होने पर भी, सामान्य महत्व रखता है; उसके व्यक्तित्व मे ही सामान्य का निवास होता है। कवि के लिए केवल यह आवश्यक है कि वह वास्तविक व्यक्ति के चरित्र के तत्व को पकड़ने में समर्थ हो, पैनी दृष्टि से वह उसके अन्तर को देख सके। और इसी में कवि की प्रतिभा निहित है। इसके अलावा कवि की प्रतिभा इस बात में है कि वह समझे और अपनी सहज चेतना से अनुभव करे कि अमुक पात्र अमुक परिस्थितियों में किस प्रकार आचरण करेगा, अथवा किस प्रकार बोलेगा। तीसरे, पात्र विशेष को चित्रित करने की (उसी रूप मे उसे अंकित करने की जिसमें कि उसे देखा या जाना है) क्षमता का होना भी आवश्यक है। कवि की प्रतिभा का सम्भवतः यह सबसे विशिष्ट और प्रमुख गुण है। पात्र को समझना, उसे हृदयंगम करना या सहज चेतना द्वारा अपने अनुभव में उतारना, और जो कुछ उसने समझा या अनुभव किया है उसे व्यक्त करने में समर्थ होना, इसी में कवि का कृतित्व निहित है।

कला का मूल उद्देश्य

कला का मूल उद्देश्य जीवन में मानव की दिलचस्पी की हर चीज को पुनः मूर्त करना है। बहुधा जीवन का स्पष्टीकरण और उसकी परिणतियों का गुण-दोष-विवेचन भी काव्यात्मक कृतियों में प्रमुख स्थान ग्रहण कर लेता है। कला का जीवन के साथ सम्बंध वैसा ही होता है जैसा कि इतिहास का। उनकी विषय-वस्तु में केवल इतना ही अन्तर होता है कि इतिहास जहां सामाजिक जीवन का वर्णन करता है, वहां कला व्यक्तिगत जीवन का चित्रण करती है। इतिहास जहां मानव जाति से सम्बंधित है, वहां कला किसी एक मानव के जीवन को अपनाकर चलती है (प्रकृति के चित्र मानवीय जीवन-क्रम के लिए केवल पृष्ठभूमि अथवा जीवन-क्रम की पूर्व-सूचना देने के लिए संकेत का काम करते हैं। जहां तक उनके स्वरूप की भिन्नता का सम्बंध है, उसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है : इतिहास का ध्यान, अन्य सभी विज्ञानों की भांति, दृश्यों की सुस्पष्टता और बोधगम्यता पर केन्द्रित रहता है, जबकि कला विवरणों की सजीव पूर्णता को अपना लक्ष्य-बिन्दु बनाती है)। इतिहास का पहला कार्य अतीत का चित्रण करना है और दूसरा, जिसे सभी इतिहासकार करते हैं, उसकी व्याख्या करना और उसके गुण-दोषों का विवेचन करना है। इस दूसरे कार्य को न सम्पन्न कर सकने पर इतिहासकार इतिवृत्त-वर्णन से आगे नहीं बढ़ पाता, और उसके द्वारा प्रस्तुत कृति सच्चे इतिहासकार के लिए कच्ची सामग्री का काम देती है, या फिर वह केवल कौतुक शान्त करनेवाली सामग्री बनकर रह जाती है। और जब इतिहासकार इस दूसरे कार्य को सम्पन्न करता है, तब वह विचारक के पद को सुशोभित करता है और उसकी कृति वैज्ञानिक महत्व की चीज बन जाती है। ठीक यही बात कला के बारे में भी कही जा सकती है। जीवन के घटनाक्रम के चित्रण द्वारा कलाकार हमारी कौतुक-वृत्ति को तुष्ट करता है या जीवन-सम्बंधी हमारी स्मृतियों को सचेत करता है। किन्तु जब कलाकार चित्रित घटनाक्रम की व्याख्या करता है और उसके गुण-दोषों की विवेचना करता है तब वह विचारक के पद को सुशोभित करता है और

उसकी कृति, अपने कलात्मक गुणों के अलावा, और भी अधिक ऊंचा, वैज्ञानिक, महत्व धारण कर लेती है।

कला की विषय-वस्तु की इस सामान्य परिभाषा के बाद यह स्वाभाविक है कि हमारा ध्यान उन विशिष्ट तत्वों की ओर आकर्षित हो जो कला की विषय-वस्तु का निर्माण करते हैं। ये तत्व हैं सुन्दर और दिव्य। इनकी प्रचलित परिभाषाएं विज्ञान के मौजूदा विकास की अवस्था से मेल नहीं खातीं, इसलिए यह आवश्यक था कि इनका विश्लेषण किया जाय। दिव्य और सुन्दर की सामान्य मान्यताएं, जिस रूप में कि वे प्रचलित हैं, सीधे इस विचार की देन हैं कि कला का स्थान यथार्थ से ऊंचा है। प्रचलित सिद्धान्त-शास्त्र में वे सामान्य भाववादी सिद्धान्तों और विशिष्ट सौन्दर्यानुभूति सम्बंधी विचारों के बीच कड़ी का काम करती हैं। फलतः यह आवश्यक था कि इन महत्वपूर्ण मान्यताओं को इन्द्रिय-बोधातीत मिलावट से मुक्तकर उन्हें ग्रहण करने योग्य बनाया जाय।

प्रचलित सिद्धान्त के पास दो सूत्र हैं। इन सूत्रों के द्वारा वह सुन्दर सम्बंधी अपनी कल्पना को व्यक्त करता है। ये सूत्र हैं: "सुन्दर भाव और छवि के बीच एकता का रूप है," और "सुन्दर सर्वव्यापी भाव की एक विशिष्ट अभिव्यंजना है।" किन्तु, लेखक के मत के अनुसार, बादवाला सूत्र सुन्दर की भावना के आवश्यक तत्व को नहीं, वरन किसी भी उत्कृष्ट कलाकृति के, या आमतौर से सभी मानवीय क्रिया-कलापों के, तत्व को व्यक्त करता है। अब रहा पहलेवाला सूत्र। वह आवश्यकता से अधिक व्यापक है। उसके अनुसार वे पदार्थ सुन्दर हैं जो अपनी कोटि के अन्य पदार्थों से अधिक श्रेष्ठ होते हैं। किन्तु पदार्थ के अनेक प्रकार ऐसे भी होते हैं जो सुन्दर की सीमा को नहीं छूते। ऐसी दशा में यह जरूरी था कि इन प्रचलित और अपर्याप्त सूत्रों से अधिक सही सूत्र की खोज की जाय। वह सूत्र है: "सुन्दर ही जीवन है। सुन्दर वह वस्तु है जिसमें जीवन को हम उस रूप में देखते हैं जिस रूप में हमारी मान्यताओं के अनुरूप उसे होना चाहिए: सुन्दर वह पदार्थ है जो जीवन को व्यक्त करता है अथवा हमें उसकी याद दिलाता है।"

इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए हमें उन गुणों का विश्लेषण करना पड़ा जिन्हें, विभिन्न श्रेणियों के लोग, मानवीय सौन्दर्य के साथ सम्बद्ध करते हैं। यह विश्लेषण हमारी मान्यता का आधार है। इसका एक काफी बड़ा और पुष्ट अंश हम यहां दे रहे हैं:

"आम लोगों की दृष्टि से 'अच्छे जीवन' या 'जीवन को जैसा होना चाहिए' का अर्थ है: अच्छा खाना-पीना, अच्छे घर में रहना, जी-भरकर सोना। किन्तु, इसी के साथ-साथ, किसान लोगों के जीवन की कल्पना में सदा एक तत्व और होता है। वह तत्व है श्रम। श्रम — जिसके बिना जीवन की

कोई गति नहीं; सच पूछो तो उसके बिना जीवन एक नीरस भार बनकर रह जाता है। कड़े, किन्तु निःसत्व न कर देनेवाले श्रम के फलस्वरूप अपने-आप में भरा पूरा जीवन किसान बाला के रंग में एक ताजगी ला देता है; उसके गाल गुलाब की भांति लाल हो जाते हैं। ग्राम लोगों की मान्यता के अनुसार सुन्दर का यह पहला गुण है : कड़ी मेहनत, मजबूत काठी। ऊपर से यदि खाने-पीने को भर-पूर मिले तो किसान बाला को हृष्ट-पुष्ट होते देर नहीं लगती। सो, गांव की कल्पना के अनुसार, सुन्दर का यह भी एक आवश्यक गुण है। कुलीनों की कनक-छरी सी कामिनी बाला का वायवी सौन्दर्य उनकी दृष्टि में नहीं जंचता। इतना ही नहीं, वे उससे घृणा भी करते हैं। कारण, वे इस क्षीणता को किसी रोग अथवा भाग्य की देन समझने के आदी हैं। फिर कड़ा काम बदन पर चर्बी नहीं चढ़ने देता। यदि कोई किसान बाला मोटी हो जाती है तो इसे भी एक बीमारी समझा जाता है; लोग उसे 'मोटक्की' कहकर पुकारते हैं। मोटेपन को वे दोष समझते हैं। गांव की बाला के हाथ-पांव सींकिया नहीं होते इसलिए कि वह इन हाथों और पांवों से कड़ी मेहनत करती है। छोटे-छोटे हाथ-पांवों को वे सुन्दरता का लक्षण नहीं मानते। हमारे लोक-गीतों में दुबले-पतले हाथ-पैरों का कहीं जिक्र नहीं मिलेगा। संक्षेप में यह कि हमारे लोक-गीतों में नारी सौन्दर्य का भी ऐसा लक्षण नहीं दिखायी देगा जो अच्छे स्वास्थ्य और सन्तुलित शरीर को न व्यक्त करता हो ... कुलीन वर्ग की सुन्दरी इससे सर्वथा भिन्न होती है। जाने कितनी पीढ़ियों से उसके पूर्वज शारीरिक श्रम से शून्य जीवन बिताते आ रहे हैं। काहिली से भरा जीवन! अंगों में रक्त का संचार हो भी तो कैसे? हर नयी पीढ़ी के साथ बांहों और टांगों के पुट्ठे क्षीणतर होते जाते हैं। हड्डियां पतली पड़ती जाती हैं। अनिवार्य परिणाम यह कि हाथ और पांव गुड़ियों जैसे हो जाते हैं। इन लक्षणों से समाज की ऊंची श्रेणियों की कल्पना की जाती है : ये शारीरिक श्रम से शून्य जीवन का परिणाम हैं... सिरदर्द और दुनिया-भर की मानसिक गड़बड़ियां! चारा भी कोई नहीं? उस समय जब यह ऐसे जीवन का नतीजा होता है जिसे हम पसंद करते हैं तो रुग्णता भी दिलचस्प, यहां तक कि काबिले-रश्क, मालूम होती है। माना कि अच्छे स्वास्थ्य का मूल्य मानव के लिए कभी कम नहीं हो सकता। प्रचुरता और ऐश्वर्य से पूर्ण जीवन भी बुरे स्वास्थ्य को एक बाधा ही मानता है। इसलिए, कुलीनों के समाज में भी, अच्छे स्वास्थ्य के निखार और गुलाबी गालों का आकर्षण मौजुद है। किन्तु रुग्णता, क्षीणता, अलसता और पीतता ने भी सुन्दर की उनकी कल्पना में अपना स्थान बना लिया है ... पीतवर्ण गाल, अलसता और रुग्णता उनके लिए और भी महत्त्व रखते हैं : किसान लोग विश्राम और शान्ति चाहते हैं, किन्तु शिक्षित समाज के लोग, जिनका माली अभावों तथा

कठिन श्रम से कोई वास्ता नहीं होता, बहुधा ऊब से परेशान रहते हैं। यह काहिली और माली झंझटों से मुक्त जीवन की देन होती है। अपनी इस ऊब को दूर करने के लिए, बेरंग, बेहिस सोसाइटी जीवन में रंग का, विविधता का संचार करने के लिए वे सनसनीखेज चीजें चाहते है, हलचल और राग-द्वेषों की आंधियां चाहते हैं। लेकिन सनसनी और राग-द्वेषों की आंधियां शीघ्र ही मानव को निचोड़ डालती हैं। और सचमुच, कामिनी की पीतवर्णता और मन्दता से कोई मुग्ध हुए बिना नही रह सकता है, विशेषकर तब जबकि वे उसके आवेशपूर्ण जीवन की सूचना देती हों !...

"पीतवर्ण, रुग्ण सौन्दर्य के प्रति यह आकर्षण कृत्रिम जीवन की विकृत रुचि का परिचायक है। जहां तक सच्चे अर्थों में शिक्षित मानव का प्रश्न है, उसकी समझ के अनुसार हृदय और मस्तिष्क का जीवन ही सच्चा जीवन है। इसकी छाप चेहरे पर, चेहरे के भावों और सर्वाधिक स्पष्ट रूप से आंखों में, दिखायी देती है। फलतः चेहरे के भावों का, जिनका हमारे लोक गीतों में बिरले ही जिक्र आता है, शिक्षित वर्ग के लोगों में प्रचलित सौन्दर्य की कल्पना में भारी महत्व है। बहुधा ऐसा होता है कि केवल सुन्दर, भावपूर्ण नेत्रों में हम इतना खो जाते हैं कि ... लेकिन छोड़िए। अब जरा इस विषय के विरोधी पहलू पर भी एक दृष्टि डालिए। वह यह कि मानव बदसूरत क्यों मालूम होता है ? जब हम किसी के बेढंगे, बदनुमा, ढांचे का जिक्र करते हैं तो साधारणतया इसका आशय यह होता है कि उसकी काठी में कोई दोष या बनावट में कमजोरी है। बनावट में यह विकार या लंगड़ी-काठी बहुधा बीमारी या किसी दुर्घटना का—खास तौर से विकास की शुरू की अवस्था में—नतीजा होती है। यदि जीवन, और विविध रूपों में उसकी अभिव्यक्ति, सौन्दर्य का निर्माण करता है तो यह सर्वथा स्वाभाविक है कि बीमारी और उसके दुष्परिणामों को हम असुन्दर से सम्बद्ध करें ... साधारणतया बदनुमा ढांचा किसी न किसी विकार का परिणाम होता है। वह हमें जीवन और जीवन के सुखद विकास की नहीं, वरन् विकास के कठोर पहलू और प्रतिकूल परिस्थितियों की याद दिलाता है। यह तो हुई काठी की बात। अब मानव के चेहरे को लीजिए। चेहरा स्वयं अपने-आप में या अपने भावों के कारण भद्दा हो सकता है। हमें चेहरे का 'कुत्सित' और 'असुखकर' होना अच्छा नहीं लगता। यह इसलिए कि 'कुत्सित' हमारे जीवन को विषैला बनाता है। किन्तु बहुधा भाव के कारण नहीं, अपनी बनावट के कारण वह हमें भद्दा मालूम होता है। चेहरे के नाक-नक्श हमें उस समय बदनुमा मालूम होते हैं जब चेहरे की हड्डियों की व्यवस्था में गड़बड़ होती है—जब चेहरे का ढांचा और मांस-पेशियां विकास के दौरान में किसी विकार या प्रतिकूल परिस्थितियों की भोंडी छाप की याद दिलाती हैं !"

अब प्रकृति के क्षेत्र को लीजिए। यह तो प्रचलित सिद्धान्त भी स्वीकार करता है कि प्रकृति के क्षेत्र में सुन्दर वह है जो हमें मानव की और मानवीय सौन्दर्य की याद दिलाता है। ऐसी दशा में, प्रत्यक्ष ही, जब हम सुन्दर का अस्तित्व मानव के जीवन में मानते हैं, तब प्रकृति के बारे में इससे भिन्न बात कैसे कही जा सकती है? ... अब प्रश्न रहा यह कि सुन्दर और जीवन के बीच इस सम्बंध को मानव अपनी सहज अन्तःवृत्ति के द्वारा अनुभव करता है अथवा सचेत रूप में तो, कहने की आवश्यकता नहीं, वह इसे अधिकतर अपनी सहज अन्तःवृत्ति के द्वारा ही अनुभव करता है।...

सुन्दर की हमारी अपनी कल्पना में और उस कल्पना में जिसे हम रद्द करते हैं, भारी और महत्वपूर्ण अन्तर है। यदि सुन्दर "परम भाव की वैयक्तिक रूप में पूर्ण अभिव्यंजना है" तो वास्तविक पदार्थों में सौन्दर्य की कोई स्थिति नहीं रह जाती। कारण कि भाव या विचार केवल समूचे विश्व में ही अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं, किसी एक पदार्थ में वे अपने-आपको पूर्णतया चरितार्थ नहीं कर सकते। इसका तात्पर्य यह कि वास्तविकता में सुन्दर का समावेश हम केवल अपनी कल्पना द्वारा करते हैं। इसलिए सुन्दर का क्षेत्र कल्पना का क्षेत्र है, और इसीलिए कला, जो कल्पना की अभिलाषाओं को चरितार्थ करती है, वास्तविकता से ऊंचा स्थान रखती है और वास्तविकता में न मिलनेवाले सौन्दर्य की रचना करने की मानव की आकांक्षा से उद्भूत होती है। इसके प्रतिकूल, जिस मान्यता का हम प्रतिपादन करते हैं उसके अनुसार, अर्थात "सुन्दर ही जीवन है" के अनुसार, सच्चा सौन्दर्य वास्तविकता का सौन्दर्य है, और यह कि कला (जैसा कि हम विश्वास करते हैं) किसी भी ऐसी चीज की रचना नहीं कर सकती जो वास्तविक जगत के सौन्दर्य से होड़ ले सके।...

प्रचलित सौन्दर्य-शास्त्र में दिव्य की जो परिभाषाएं की जाती है, ये है: "दिव्य वह है जिसमें स्वरूप पर भाव का प्राधान्य होता है" और "दिव्य वह है जो हम में अनन्तता की भावना को चेतन करता है।" किन्तु आलोचना की कसौटी पर कसने पर ये परिभाषाएं खरी नहीं उतरती। हमारे मत से पदार्थ, अनन्तता की भावना को उकसाये बिना भी, दिव्य का प्रभाव पैदा कर सकता है। फलतः दिव्य की कोई दूसरी परिभाषा खोजनी पड़ेगी। हमारे मत से यह सूत्र दिव्य के समूचे क्षेत्र को व्यक्त करता है: "दिव्य वह है जो हमें हर उस चीज से बड़ा मालूम होता है जिससे हम उसकी तुलना करते हैं।" उदाहरण के लिए... काजबेक पर्वत शानदार है (यद्यपि वह असीम और अनन्त नहीं है) क्योंकि वह उन पहाड़ियों से कही बड़ा है जिन्हें देखने के हम अभ्यस्त हो चुके हैं। वोल्गा एक शानदार नदी है, इसलिए कि वह अन्य छोटी नदियों से कहीं

अधिक बड़ी है। प्रेम की भावना एक दिव्य भावना है, इसलिए कि आये दिन की तुच्छ बातों और घटनाओं की तुलना में प्रेम की भावना कहीं अधिक गहरी होती है। जूलियस सीजर, ओथेलो, और डेस्डेमोना दिव्य चरित्र हैं, इसलिए कि साधारण लोगों की अपेक्षा जूलियस सीजर कहीं अधिक प्रतिभा का धनी है, ओथेलो को तो जैसे प्रेम और ईर्ष्या ने ही गढ़ा है, और डेस्डेमोना, साधारण नारियों की तुलना में, कहीं अधिक गहराई से प्रेम करती है !

प्रचलित सौन्दर्य-शास्त्र के अनुसार ... दिव्य की स्थिति वास्तविकता में नहीं है। कल्पना वास्तविकता में उसका समावेश करती है। इसके प्रतिकूल हमारी धारणा के अनुसार सुन्दर और दिव्य वस्तुतः प्रकृति और मानवीय जीवन में निवास करते हैं। इसीके साथ-साथ यह भी कि इन गुणों से युक्त पदार्थों का आनन्दोपभोग सीधे व्यक्ति विशेष की मान्यताओं पर निर्भर करता है। सुन्दर वह है जिसमें हम उस जीवन की झलक देखते हैं जो जीवन की **हमारी** कल्पना या मान्यताओं के अनुकूल होता है। और दिव्य वह है जो उन पदार्थों से बड़ा होता है जिनसे कि **हम** उसकी तुलना करते हैं। इस प्रकार वास्तविकता में सुन्दर और दिव्य के अस्तित्व के साथ मानव व्यक्तिगत विचारों का अन्तर्विरोध भी यहां खत्म हो जाता है।

दिव्य की ही एक अन्य और अत्यन्त महत्वपूर्ण शाखा है दुखान्त। प्रचलित सौन्दर्य-शास्त्र ने इसे भी इन्द्रियबोधातीत आल-जाल में उलझा दिया है और नियतिवाद से उसका गठबन्धन कर दिया है। जरूरी है कि इसकी एक दूसकी परिभाषा की खोज की जाय जो नियति या होनहार की, विधाता के अमिट लेख की, भावना से सर्वथा मुक्त हो और विज्ञान के निर्देशों के अनुकूल हो। फलतः दुखान्त की हमारी सीधी-सादी परिभाषा यह है : दुखान्त वह है जो "मानव के जीवन में भीषण है !"...

दुखान्त के बाद प्रचलित सौन्दर्य-शास्त्र की एक धारणा और रह जाती है। वह है हास्यास्पद की धारणा (रिक्तता, विषय-वस्तु से शून्य केवल स्वरूप का मोह या विषय-वस्तु को, बिना किसी अनुपात के, बिना उसकी तुच्छता पर ध्यान दिये, आकाश पर चढ़ाना)। इस धारणा में कुछ बदलने की आवश्यकता नहीं। कारण कि जिस रूप में इस धारणा को आम तौर से व्यक्त किया जाता है वह लेखक की धारणा से सर्वथा अनुकूल है। इस प्रकार हमारा लक्ष्य — सौन्दर्य-शास्त्र की बुनियादी मान्यताओं को विज्ञान के मौजूदा विकास के समकक्ष लाना —यथाशक्ति पूरा हो जाता है। अन्त में :

"कल्पना के विरुद्ध वास्तविकता बड़ी है और यह कि जीवित वास्तविकता की तुलना में कला की कृतियां नहीं ठहर सकतीं, सार रूप में यही हमने अपने इस निबन्ध में दिखाना चाहा है। किन्तु ऐसा करना क्या कला को नीचे

गिराना नहीं है ? हां है—यदि यह दिखाना कला को गिराना मान लिया जाय कि कला अपनी कृतियों की कलात्मक पूर्णता में वास्तविक जीवन से नीचे है। किन्तु कला को अंध भटैती से मुक्त करना कला को नीचे गिराना नहीं है। विज्ञान वास्तविकता से श्रेष्ठ और उससे ऊंचा होने का दावा नहीं करता, न ही वास्तविकता से ऊंचा न हो पाने में उसे कुछ लाज लगती है। कला को भी, ठीक उसी प्रकार, वास्तविकता से ऊंचा होने का दावा नहीं करना चाहिए। ऐसा न करना उसके लिए जरा भी लज्जा की बात नहीं होगी; उसे नीचे नहीं गिरना पड़ेगा! विज्ञान बिना किसी संकोच के स्वीकार करता है कि उसका कार्य वास्तविकता को समझना या समझाना, और तदन्तर मानव के लिए उसका उपयोग करना है। कला को भी यह स्वीकार करने में कोई लज्जा नहीं मालूम होनी चाहिए कि उसका लक्ष्य, यथाशक्ति, बहुमूल्य वास्तविकता की पुनर्रचना करना और उसकी व्याख्या द्वारा मानव को जगत के पूर्ण सौन्दर्योपभोग का अवसर प्रदान करना है; और ऐसे अवसरों का अभाव होने पर भी वह उनकी पूर्ति करती है।"

किन्तु यह अन्त, हमारी समझ में, नाकाफी है। इसे थोड़ा और विकसित करने की आवश्यकता है। यह अभी भी यह कहने की गुंजाइश छोड़ देता है कि कला-कृतियों के निरपेक्ष गुणों की भरपूर प्रशंसा को वाणी न देकर और अत्यन्त ऊंचे ज्ञानातीत उद्गम तथा लक्ष्यों की जगह मानव की आवश्यकताओं के साथ नाता जोड़कर कला को वास्तव में नीचे गिराया जा रहा है। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। वास्तव में यही वह चीज है जो कला के वास्तविक महत्व में वृद्धि करती है, मानव की भलाई के कार्य-क्षेत्र में उसे एक ऐसा सम्मानपूर्ण स्थान प्रदान करती है जिसे कोई चुनौती नहीं दे सकता। सच पूछो तो मानव की भलाई का अर्थ ही है मानव के उच्चतम सम्मान का अधिकार प्राप्त करना।

[यह लेख चर्नीशेव्स्की ने अपने निबंध "कला का वास्तविकता से सौन्दर्यशास्त्रीय सम्बंध" की आलोचना के रूप में "सोव्रेमेन्निक" के अंक ५१, सं. ६ में "एन. पी." के नाम से लिखा था। उद्धरण मूल निबंध के हैं। सं०]

सौन्दर्यशास्त्र—एक प्रणाली

ऐसे लोगों की आजकल कमी नही है जो सौन्दर्य विज्ञान को इस योग्य नहीं मानते कि उस पर विशेष ध्यान दिया जाय। इतना ही नहीं। वे जोर देकर कहते हैं कि सौन्दर्यशास्त्र एक हवाई और बेकार की चीज है, कि उससे कुछ भी हमारे पल्ले नहीं पड़ सकता, कि वह एक दुरूह शब्द-जाल मात्र है जो निरे खोखलेपन को छिपाने के लिए रचा गया है ... लेकिन (और इसे गनीमत समझना चाहिए) सौन्दर्य विज्ञान से इस हद तक घृणा करनेवाले ये लोग भी, बिना किसी दुविधा के, इस बात की आवश्यकता स्वीकार करते हैं कि साहित्य के आलोचक या साहित्य के इतिहासकार को 'सुस्पष्ट और दृढ़ सामान्य सिद्धांतों' से लैस होना चाहिए। अब, अगर देखा जाय तो, सामान्य रूप में कला के और विशिष्ट रूप में काव्य के आम सिद्धान्तों की एक प्रणाली, एक 'सिस्टम', के सिवा इसका भला और क्या आशय हो सकता है। सौन्दर्यशास्त्र की निन्दा की जा सकती है, निन्दा की जानी चाहिए, यदि वह साहित्य के इतिहास को भूल जाये... यदि वह साहित्य के इतिहास के प्रति शत्रुता का भाव लेकर चले ... ऐसी हालत में उसकी निन्दा करना समझ में आ सकता है। किन्तु हमारे यहां ऐसा नही है। उल्टे, हमने सदा साहित्य के इतिहास की आवश्यकता पर बल दिया है, और उन लोगों ने भी जो खास तौर से सौन्दर्य-शास्त्रीय आलोचना में व्यस्त रहे, साहित्य के इतिहास के लिए भारी, हमारे आज के लेखकों से कही अधिक, काम किया है। हमारे साहित्य में सदा यह माना जाता रहा है कि सौन्दर्यशास्त्र तथ्यों के ठीक अध्ययन पर आधारित होना चाहिए। यह आरोप कि वह हवाई, निराधार और विषय-वस्तु से शून्य है, उस पर उतनी ही कम मात्रा में लागू किया जा सकता है जितना कि रूसी भाषा के व्याकरण पर ... फिर भी, हम मान लेते हैं कि हमारे बीच ऐसे लोग अभी भी मौजूद हैं जिनके दिमाग साफ नहीं हैं, अर्थात जो सिद्धान्त और दर्शन को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं ... इन लोगों को—खास तौर से सौन्दर्यशास्त्र और आम तौर से सिद्धान्त के इन विरोधियों को—शायद यह याद दिलाने की

जरूरत नहीं कि तथाकथित इन्द्रियबोधातीत सौन्दर्यशास्त्र की प्राचीन तथा आज के लिए अनुपयुक्त पोथियों में प्रतिपादित मान्यताएं भी इतने अधिक परिमाण में तथ्यों पर आधारित थीं कि उनके ये विरोधी कल्पना तक नहीं कर सकते। जरा हेगेल के उस ग्रन्थ की याद कीजिए जिसका इन पोथियों में प्रमुख स्थान है। उसके तीन खण्डों में से दो में ऐतिहासिक भाग समाया है, और तीसरे खण्ड का आधे से अधिक भाग भी ऐतिहासिक विवरणों से भरा है। किन्तु हो सकता है कि सौन्दर्यशास्त्र व सिद्धान्त के इन विरोधियों के प्रतिरोध का कारण दूसरा हो, कि वे अपने पिछड़ेपन के कारण नहीं, वरन अत्यंत महत्वपूर्ण और सर्वोपयोगी "सजीव" विज्ञानों के प्रति अपनी अनुरक्ति के कारण सौन्दर्य-शास्त्र को शून्य और बंध्या सिद्धान्त समझते हों। प्लेटो ने इस दृष्टि से सौन्दर्य-शास्त्र पर आक्रमण नहीं किया था (यदि किया होता तो वह इतना महत्वपूर्ण न होता। फिर, इसके अलावा, प्लेटो के समय सौन्दर्यशास्त्र का कोई अस्तित्व नहीं था। यदि था भी तो उसकी झलक स्वयं उसकी कृतियों में कहीं-कहीं दिखायी देती थी)। नहीं, प्लेटो ने स्वयं कला पर आक्रमण किया था। दु:ख की बात केवल यह है कि स्वयं कला ने, एक हद तक, इस आक्रमण को जन्म दिया था ... जो हो, यदि कविता, साहित्य और कला इतने महत्वपूर्ण विषय हैं कि उनके इतिहास को —अर्थात साहित्य के इतिहास को —सार्वभौम ध्यान और अध्ययन की वस्तु होना चाहिए, तो कविता, साहित्य और कला के तत्वों, उद्देश्यों तथा प्रभावों से सम्बंधित समस्याएं भारी दिलचस्पी का विषय बन जाती हैं, क्योंकि इन समस्याओं का हल हमारे दृष्टिकोण को निर्धारित करेगा। किन्तु सही तथा स्पष्ट दृष्टिकोण के लिए तथ्य चाहिएं। तथ्यों का इसके सिवा और क्या उपयोग हो सकता है कि उनसे आवश्यक निष्कर्ष निकाले जायें ? सो, सौन्दर्यशास्त्र का यह सारा खंडन-मंडन सौन्दर्य-विज्ञान तथा आम तौर से सैद्धान्तिक विज्ञान की प्रकृति के बारे में गलतफहमी की उपज है। कला का इतिहास कला के सिद्धान्त का आधार है, कला का सिद्धान्त कला के इतिहास के और अधिक समग्र तथा पूर्ण अध्ययन में योग देता है, और इतिहास का अध्ययन सिद्धान्त को और आगे बढ़ाने में हाथ बंटाता है। इतिहास और सिद्धान्त की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के इस क्रम का, जो दोनों को लाभ पहुंचाता है, कभी अन्त नहीं होगा, तथ्यों के अध्ययन और उनसे निकाले जानेवाले निष्कर्षों के साथ वह सदा चलता रहेगा और इतिहासकार इतिवृत्तों के चलते-फिरते पिटारे या ग्रंथों के नामों के सूची मात्र बनकर नहीं रह जायेंगे। किसी विषय के इतिहास के बिना उस विषय का सिद्धान्त नहीं हो सकता, और सिद्धान्त के बिना इतिहास की कल्पना नहीं की जा सकती। कारण, जिस विषय का हमें कुछ ज्ञान नहीं होगा, उसके उद्देश्य और सीमाओं से हम अनजान रहेंगे।...

किन्तु, हो सकता है कि कुछ लोग ऐसे भी हों जो सैद्धांतिक निष्कर्षों की उपयोगिता तथा आवश्यकता को तो स्वीकार करते हों, किन्तु उनके लिए यह असह्य हो कि सिद्धांतों को किसी वाद अथवा प्रणाली के तंग चौखटे में कसा जाय। विरोध का यह बहुत ही उचित कारण हो सकता था, बशर्ते कि इसका कुछ आधार होता, बशर्ते कि हमारे समसामयिकों में से कोई किसी भी विज्ञान की प्रणाली को सम्पूर्ण सत्य का चिरन्तन आधार समझता होता। किन्तु आज लगभग सभी यह स्वीकार करते हैं (प्रणालियों के निर्माता तो और भी अधिक सचाई के साथ) कि प्रत्येक प्रणाली जन्म लेती है और नाश को प्राप्त होती है। बल्कि, यह कहना ज्यादा सही होगा कि समय की उन धारणाओं के साथ जिन्होंने उसे जन्म दिया था, वह बदल जाती है... प्रणाली किसी भी विज्ञान के लिए एक अस्थायी चौखटे का, स्वरूप का, काम करती है... विज्ञान के क्षेत्र में प्रणाली विकास के लिए बाधक नहीं होती... सत्य तभी अधिक ग्राह्य होते हैं जब कि वे एकताबद्ध, संगतिपूर्ण सांचे में ढले, होते हैं... जिसने कोई रूप या आकार-प्रकार प्राप्त नहीं किया है, वह कोई प्रभाव डालने में सफल नहीं हो सकता।...

चिन्तन को फलप्रद बनाने में प्रणाली का होना कितनी महत्वपूर्ण शर्त है, इसकी ज्वलंत मिसाल के रूप में अरस्तू के काव्य-शास्त्र का उल्लेख किया जा सकता है। अरस्तू पहला व्यक्ति था जिसने एक स्वतंत्र प्रणाली के रूप में, सौन्दर्य सम्बंधी धारणाओं का प्रतिपादन किया, और उसकी स्थापनाएं दो हजार वर्षों से भी अधिक तक अपना प्रभाव जमाये रहीं। किन्तु कला सम्बंधी सच्चे अर्थों में महान विचारों का जहां तक सम्बंध है, वे अरस्तू से अधिक प्लेटो की कृतियों में मिलते हैं। प्लेटो का सिद्धान्त, सम्भवतः, अरस्तू से न केवल अधिक गहरा है, वरन् अधिक पूर्ण भी है। किन्तु किसी प्रणाली में ढले न होने के कारण, अभी पिछले दिनों से पहले तक, बिरले ही किसी का ध्यान उसकी ओर जाता था।

सौन्दर्य की परिभाषा

सुन्दर की यह परिभाषा कि वह "घटना विशेष के बारे में सर्व सामान्य भाव की पूर्ण अभिव्यंजना है," आलोचना की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। यह परिभाषा अत्यंत शिथिल है, क्योंकि मानवीय क्रियाशीलता के सभी प्रयासों पर इसे लागू किया जा सकता है।

सौन्दर्य की सच्ची परिभाषा है : "सौन्दर्य ही जीवन है।" मानव के लिए सुन्दर वही वस्तु है जिसमें वह जीवन को, जिस रूप में कि वह उसे समझता है, देखता है। सुन्दर वह वस्तु होती है जो उसे जीवन की याद दिलाती है।

इस वस्तुगत सौन्दर्य या सौन्दर्य के तत्व और रूप की पूर्णता में भेद करना आवश्यक है जो भाव और रूप की एकता पर या इस बात पर निर्भर करती है कि वस्तु किस हद तक अपने उद्देश्य के साथ मेल खाती है।

दिव्य वह नहीं है जो मानव के हृदय को परम तत्व के प्रति जागृत करके प्रभावित करता है, वह विरले ही उसे जागृत करता है।

मानव के लिए दिव्य वह है जो उसे वस्तुगत पदार्थों से कहीं अधिक बड़ा प्रतीत हो, या उस परिवेश से जिससे कि वह उसकी तुलना करता है, कहीं अधिक शक्ति-सम्पन्न प्रतीत हो।

दुखान्त का नियति या होनहार की भावना से कोई मूलभूत सम्बंध नहीं है। वास्तविक जीवन में दुखान्त का बहुधा अवतरण होता है; पूर्व घटनाओं के तत्वों से वह उद्भूत नहीं होता। कला-कृतियों में नियति या होनहार का जामा पहनाकर उसे पेश करना कला के इस सामान्य सिद्धान्त की देन है कि "प्रत्येक यवनिका-पात कथानक में से ही प्रसूत होना चाहिए," या फिर यह कलाकार द्वारा भाग्य के आगे गलत आत्म-समर्पण की भावना का परिणाम होता है।

आधुनिक योरपीय अध्ययन के अनुसार दुखान्त "मानव के जीवन की वीभत्सता का परिणाम है।"

दिव्य (और उसी का तत्व, दुखान्त) सुन्दर की एक किस्म या प्रकार नहीं है। दिव्य की भावना और सुन्दर की भावना सर्वथा भिन्न हैं, उनके बीच न तो कोई पूर्वगत सम्बंध है, न ही पूर्वगत भिन्नता ही।

वास्तविकता कल्पना से न केवल अधिक जीवनमय होती है, वरन् अधिक पूर्ण भी होती है। कल्पना के छवि-चित्र वास्तविकता की केवल क्षीण और प्राय: असफल अनुकृति मात्र होते हैं।

वस्तुगत यथार्थ में सुन्दर पूर्ण सुन्दर होता है।

वस्तुगत यथार्थ में सुन्दर मानव को पूर्ण तुष्टि प्रदान करता है।

कला वास्तव में सुन्दर की न्यूनताओं को पूर्ण करने की मानव आकांक्षा से नहीं उपजी।

कला की कृतियां यथार्थ सौन्दर्य से तुलना में हीन होती है। कारण, वास्तविकता हमारे हृदयों पर जो छाप छोड़ती है, कला-कृतियों की छाप से वह कहीं अधिक सजीव होती है। कला की कृतियां वास्तविक सौन्दर्य से (साथ ही जो दिव्य, दुखान्त और हास्यप्रद है उससे भी) हीन होती है; वे सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से भी हीन होती हैं।

कला का क्षेत्र, सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से, सौन्दर्य के क्षेत्र तक ही सीमित नही है; स्वरूप की पूर्णता और आन्तरिक सौन्दर्य में ही उसकी इतिश्री नही है। कला का लक्ष्य उस हर चीज का सृजन करना है जो मानव के लिए रुचि-कर हो सकती है।

स्वरूप की पूर्णता (भावना और रूप की एकता) सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से (ललित कलाएं) कला की विशिष्टता नही है। भावना और रूप की अभिन्नता या भावना की पूर्ण अभिव्यंजना के रूप में सुन्दर के लिए प्रयास या उसकी 'उपलब्धि' कला का लक्ष्य है, किन्तु उसके व्यापकतम अर्थों में। कला का ही नहीं, वह मानव की समूची गतिविधि का लक्ष्य है।

सौन्दर्य के (ललित कलाओं के) अर्थ में कला के पीछे जो मूल प्रेरणा काम करती है, उसे सबसे अधिक स्पष्ट रूप से छवि-अंकन में देखा जा सकता है। छवि का अंकन इसलिए नही किया जाता है कि उस व्यक्ति की मुख-मुद्रा से हम संतुष्ट नही हैं, वरन इसलिए उस व्यक्ति की याद हमें उस समय भी रहे जब वह हमारे सामने न हो, और उन लोगों को भी, जिन्होंने उसे कभी देखा नहीं, उसकी मुख-मुद्रा का कुछ आभास हो सके। अपनी कृतियों के द्वारा कला हमें उन चीजों की याद दिलाती है जो हमारी रुचि की होती हैं, और एक हद तक जीवन के उन दिलचस्प पहलुओं से हमें परिचित कराती है जिन्हें देखने या अनुभव करने का हमें यथार्थ में अवसर नहीं मिला।

जीवन का पुन: अंकन कला की सामान्य विशिष्टता है और इसी में उसकी चरितार्थता निहित है। कलाकृतियां, बहुधा एक अन्य उद्देश्य का भी साधन करती हैं: जीवन की व्याख्या करने और जीवन के घटना-प्रवाह पर अपना अभिमत प्रकट करने के उद्देश्य का!

प्लेटो

प्लेटो और अरस्तू हमारे समय से २२०० वर्ष पहले हुए थे। सौन्दर्य सम्बंधी उनकी मान्यताओं का हमारे लिए आज भी कितना और क्या महत्व है, यह दिखाने के लिए हम यहां, अत्यन्त सामान्य और सूक्ष्म रूप में, सौन्दर्य सम्बंधी समस्याओं का, "कला के स्रोत और उद्देश्य" से सम्बंधित समस्याओं का, उल्लेख करेंगे। इन समस्याओं का समाधान, निश्चय ही, आधुनिक सिद्धान्त के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हो सकता है, किन्तु ... आपकी राय में, पुश्किन और गोगोल इन दोनों मे से कौन बड़ा है ? अभी कल ही इस प्रश्न को लेकर अच्छा-खासा वाद-विवाद सुनने का अवसर मिला। क्या प्लेटो और अरस्तू इस मामले में हमारी सहायता कर सकते हैं ? हां, कर सकते हैं। तो आइए, देखा जाय कि हमारे ये महान शिक्षक साहित्यिक मूल्यांकन के सम्बंध में क्या कहते हैं। यदि कला का तत्व वस्तुत: आदर्शीकरण में निहित है, जैसा कि आजकल दावा किया जाता है, यदि उसका लक्ष्य "सुन्दर की मधुर तथा दिव्य भावनाओं की रचना करना है," तब रूसी साहित्य में **पोलतावा, बोरिस-गोदुनोव, काँसे का घोड़सवार** और **पत्थर अतिथि** तथा अन्य कितनी ही मन्द-सुगंध में पगी कविताओं के रचयिता की टक्कर का अन्य कोई कवि नहीं है। किन्तु यदि इसके अलावा कला का कुछ और भी उद्देश्य है तो ... वह कुछ और क्या है जिसे कला के तत्व और कला के उद्देश्य की संज्ञा दी जा सकती है ?

अस्तु, कला का तत्व क्या है ? चित्रकार जब किसी एक दृश्य या जन-समूह का चित्र खींचता है, कवि जब अपने गेय पद्यों में प्रेम की पीड़ा या आनन्द को व्यक्त करता है, लेखक जब अपने उपन्यास या नाटक में रागात्मकता तथा व्यक्ति-गत चरित्रों से युक्त पात्रों को अंकित करता है — तब ठीक किस चीज को वह पाना या करना चाहता है ? "वह प्रकृति और मानव-समुदाय को आदर्शीकृत करता है, कला का तत्व आदर्शों की सृष्टि करने में निहित है," सौन्दर्य शास्त्र का आज का प्रचलित सिद्धांत उत्तर देता है। "तुच्छ और बेरंग वास्तविकता" (या "जीवन की गद्यमयता," जैसा कि आम उपन्यासकार कहते हैं), "मानव की अमर आत्मा को तुष्ट नहीं कर सकती और वह उससे बेहतर तथा पूर्ण

चीज के लिए (आदर्श के लिए) ललकती और छटपटाती है। इस अधिक बेहतर और पूर्ण चीज को कलाकार पकड़ता है और अपनी कला-कृतियों के द्वारा व्याकुल मानव जाति की प्यास बुझाता है।"

प्राचीन सिद्धांत की मान्यता इससे सर्वथा भिन्न थी। "वास्तविकता में हम जो कुछ देखते हैं, कला उसके अनुकरण के सिवा और कुछ नहीं है। चित्र, प्रतिमाएं, उपन्यास, नाटक—ये सब उन मूल कृतियों की अनुकृति के सिवा और कुछ नही हैं जिन्हें कलाकार वास्तविकता से, वास्तविक जगत से, ग्रहण करता है।" यह सिद्धांत जिसका आजकल मजाक उड़ाया जाता है—क्योंकि हम उसके केवल उसी तोड़े-मरोड़े रूप से परिचित हैं जिसे बोइल्यो और वेत्यो ने पेश किया है (और सचमुच अपने इस रूप में उसका मजाक उड़ाना भी चाहिए)—अरस्तू के नाम से प्रचारित है। और इसमें शक नही कि काव्य-शास्त्र सम्बंधी अपने ग्रंथ के उन हिस्सों में जहां आम तौर से कला तथा खास तौर से काव्य के उद्‌गम तथा तत्व के बारे में अपने सामान्य विचारों को उसने प्रकट किया है, अरस्तू ने इसकी सत्यता को स्वीकार किया है। इतना ही नहीं वरन् बिना किसी सन्देह के, "कला अनुकरण है" को आधारभूत विचार की संज्ञा दी जा सकती है। किन्तु अरस्तू को अनुकरण के सिद्धान्त का रचयिता समझना भ्रान्ति होगी। अधिक सम्भावना इस बात की है कि यह बहुत पहले से—सुकरात और प्लेटो से भी पहले से—प्रचलित था, और प्लेटो ने इसे जितने गहरे तथा सम्पूर्ण रूप में विकसित किया उतना अरस्तू ने नहीं। इस विचार को अपना आधार बनाकर कि कला अनुकरण है, प्लेटो ने अरस्तू की भांति उसके संकुचित अमली उपयोग तक ही अपने को सीमित कर सन्तोष नहीं कर लिया। कविता अनुकरण है, अरस्तू कहता है, इसलिए 'ट्रेजडी' महान विभूतियों के सुकृत्यों की और 'कमेडी' हीन लोगों की करतूतों की नकल पेश करती है। इसके सिवा वह और कोई निष्कर्ष नहीं निकालता। किन्तु प्लेटो, इसके प्रतिकूल, कला सम्बंधी अपनी धारणा से अत्यन्त सजीव, उज्वल और गहरे निष्कर्षों पर पहुंचता है। अपने आधार-सूत्र को पकड़कर वह मानवीय जीवन मे कला के उद्देश्य की, मानवीय गतिविधि के अन्य क्षेत्रों के साथ कला के सम्बंध की, व्याख्या करता है। अपने इस आधार-सूत्र से लैस वह कला की चमड़ी उधेड़ता है, उसकी विवर्णता, क्षीणता, व्यर्थता और तुच्छता की खबर लेता है। उसका व्यंग्य छुरी की तरह पैना है। वह सीधे मर्म पर आघात करता है, और सम्भवतः, आज की दृष्टि से, दुराग्रहपूर्ण भी है। किन्तु इस सबके बावजूद, कई अर्थों में, वह शुभ्र और न्यायपूर्ण है। किन्तु कला के प्रति प्लेटो के इस विक्षोभ को समझने के लिए, उसके सिद्धान्त के मूल तत्व के बारे में कुछ कहना आवश्यक है।

प्लेटो को बहुत से लोग एक तरह का यूनानी रोमांटिसिस्ट समझते हैं, एक ऐसा जीव जिसका हृदय किसी अनजान और हवाई चीज के लिए आहें भरता रहता है और किसी अद्भुत तथा सुन्दर देश के लिए ललकता रहता है। कल्पना के पंख फैलाकर वह उड़ता है और कहीं दूर, बहुत दूर, मंजिल और लक्ष्य की भावना से मुक्त, मानव और उसकी दुनिया के एकदम उस पार, पहुंच जाना चाहता है... किन्तु प्लेटो नाम मात्र को भी ऐसा नहीं था। निस्सन्देह, वह शुभ्र आत्मावाला प्राणी था और हर शुभ्र तथा महान चीज के प्रति उसका उल्लसित हृदय बरबस आकर्षित होता था। किन्तु वह निठल्ला स्वप्न-विहारी नहीं था। वह देवताओं की दुनिया के सपने नहीं देखता था। वह धरती का जीव था। वह आदमियों से प्यार करता था, छायाओं से नहीं। सबसे बढ़कर यह कि प्लेटो का विचार था कि मानव को राज्य का नागरिक होना चाहिए, उसे ऐसे सपनों मे नही रमना चाहिए जो राज्य के लिए निरुपयोगी हों। वह नेक और सक्रिय जीवन का हिमायती था। अपने साथी नागरिकों की माली तथा नैतिक उन्नति में योग देना वह जरूरी समझता था। मानवीय जीवन का उसका आदर्श स्वप्निल नही वरन् शुभ्र था; चिन्तनशील (अरस्तू जैसा) नही, वरन् सक्रिय था। वह विज्ञान और कला के प्रति, और इसी प्रकार अन्य सभी चीजों के प्रति, वैज्ञानिक अथवा अभिजात्य की दृष्टि से नही, वरन् सामाजिक और नैतिक दृष्टि से देखता था। मानव का अस्तित्व कला या विज्ञान के लिए नही (जैसा कि अरस्तू तथा दूसरे कितने ही महान दार्शनिक समझते थे), वरन् कला या विज्ञान का अस्तित्व मानव के हित के लिए है। ऐसी स्थिति में यह साफ समझ मे आ जाता है कि कला के प्रति प्लेटो का क्या रवैया हो सकता था, उस कला के प्रति जो, अधिकांशतः (यह दूसरी बात है कि उसे ऐसा होना चाहिए कि नही) और प्लेटो के समय में तो पूर्णतया, एक सुन्दर और इसी के साथ-साथ अत्यंत महंगे (और शायद बहुत ही शुभ्र लेकिन फिर भी सस्ते) मनोरंजन का रूप धारण किये थी। निठल्ले और निष्क्रिय लोग जिन्हें और कुछ करने को नही होता था, कमोबेश रूप में कामुकतापूर्ण चित्रों और प्रतिमाओं की मुग्ध सराहना में डूबे रहते थे और कामुक पद्यों की नदी में गोते लगाते रहते थे। "कला एक मनोरंजन है"—इस तथ्य ने प्लेटो के लिए जैसे हर चीज को स्पष्ट कर दिया। किन्तु कला को मनोरंजन की संज्ञा देने का अर्थ कला पर पोचारा फेरना नहीं था। इसका सबसे अच्छा प्रमाण अत्यंत गम्भीर कवियों में से एक के, शिलर के, रूप में मौजूद है जो अपनी कला को हेय दृष्टि से नहीं देखता था, जिसकी राय में काण्ट का यह कथन कि कला एक खेल (या मनोरंजन) है, ठीक था, क्योंकि "खेल में ही मानव अपने-आपको पूर्ण मानव रूप में व्यक्त करता है।" इतना कहने के बाद अब हम, अत्यंत

कटु आघातों को छोड़ते हुए, कला के उद्देश्य के बारे में प्लेटो के विचारों का परिचय देने का प्रयास करेंगे।

प्लेटो ने कला के दो किस्में बतायी है: उत्पादक और अनुकरणात्मक (आज की शब्दावली में: अमली या टेकनीकल, और ललित कलाएं)। इनमें से पहली जीवन को बनाये रखने के लिए आवश्यक उपयोगी चीजों का उत्पादन करती है। इसमें कृषि, दस्तकारियां, व्यायाम, जो मानव को बल प्रदान करती है और औषधि जो उसके स्वास्थ्य की रक्षा करती है, शामिल हैं। ये सब पूर्ण सम्मान की अधिकारिणी हैं। किन्तु अनुकरणात्मक कलाएं (आज की शब्दावली के अनुसार ललित कलाएं) जो मानव को कतई कुछ प्रदान नहीं करती एक धोखा और वास्तविक पदार्थों की निरर्थक नकल मात्र होती हैं। वे भला पहली की तुलना में कहां ठहर सकती हैं? वे एक सुखद, किन्तु बेकार का मनोरंजन हैं, एक खेलवाड़ मात्र हैं।... उनका उद्देश्य केवल मनोरंजन करना है। वे उसी कोटि की व्यस्तताओं में स्थान रखती है जिनमें वाक्-चातुर्य को (सुन्दर शब्दों को चुनने की कला को), मिथ्याचरण को (काम की नहीं, वरन् खुश करनेवाली बात कहने की कला को), और बालों के शृंगार तथा रसोईघर की कलाओं को रखा जाता है। चित्रकारी, संगीत, कविता, यहां तक कि उच्च और सुप्रशंसित 'ट्रेजडी' भी चापलूसी करने और फुसलानेवाली कलाएं हैं। वे जन-समुदाय की भलाई नहीं करतीं, वरन् केवल उसे बहलाती हैं (प्रसंगवश **एमिले** तथा **नव हेलोइसे** का रचयिता भी ललित कलाओं के बारे में ऐसी ही राय रखता है, और सुविख्यात जर्मन शिक्षा-विद कैम्प तो कविताओं की एक पुस्तक की रचना करने के मुकाबिले में पाव भर ऊन कातना अधिक उपयोगी समझता है)। ऊपर से तुर्रा यह कि ये तुच्छ कलाएं जाने अपने-आपको क्या समझती है! उदाहरण के लिए एक चित्रकार को लीजिए, जो दावा करता है कि वह सृष्टा है: पेड़-पौधों, मनुष्यों, धरती और समुद्र की वह रचना करता है। और कितनी जल्दी! बस, आनन-फानन! और इसके बाद अपनी इस धरती और समुद्र को वह स्वर्ण के बदले में बेच डालता है। किन्तु, सच पूछिए तो उसकी रचनाएं दो कौड़ी की भी नहीं होतीं—वे छायाएं मात्र होती है जिनसे केवल बच्चों को बहलाया जा सकता है। और इन लोगों की हिम्मत तो देखो: वे कभी स्वीकार नहीं करेंगे कि वे नकल भी है। नहीं, वे सृष्टि की बात करेंगे, सृजन की बात करेंगे। (इससे पता चलता है कि "कला और सृष्टि" की बात जो आज के प्रचलित सिद्धांत का आधार है, प्लेटो के समय में भी मौजूद थी)। किन्तु भद्दी और खोटी नकल के सिवा वे और क्या पैदा कर सकते हैं? कलाकार को भीतरी विषय की चिन्ता नहीं होती, वह तो केवल बाह्य से वास्ता रखता है। पदार्थ की सतह का ऊपरी ज्ञान उसके लिए काफी होता है। इसी की वह

नकल करता है। इससे आगे वह कुछ नहीं जानता (सौन्दर्य शास्त्र की नवीनतम प्रणाली, इन कलाकारों के अनुसार, या कहिए कि प्लेटो की कटु टिप्पणियों के अनुसार, जो उन्हें वाणी प्रदान करता है, स्वीकार करती है कि "सौन्दर्य, कला का मूल तत्व, एक छलावा है, भ्रम है, और यह कि कला केवल सतह से, पदार्थ के बाह्य रूप से, सम्बंध रखती है)। एक चिकित्सक मानव-देह की बनावट से परिचित होता है, किन्तु कलाकार नही। इसी प्रकार कवि को मानवीय जीवन या मानवीय हृदय का सर्वांगपूर्ण ज्ञान नहीं होता। यह तभी हो सकता है जब कि दर्शन का गहरा अध्ययन किया जाय (आज की शब्दावली में केवल विज्ञान के द्वारा)। केवल अपने अनुभव के छुट-पुट प्रयोगों से, जो अत्यंत अपूर्ण और सतही होते हैं, यह ज्ञान नही प्राप्त किया जा सकता। अपने दम्भ में डूबी ये ललित कलाएं क्या कला कहलाने की अधिकारिणी हैं ? नही ! नहीं ! अपनी गतिविधि को कला की संज्ञा देने के लिए इस बात का ज्ञान होना आवश्यक है कि मैं क्या कर रहा हूं। कलाकार के पास इसका अभाव होता है। मेज को बनानेवाला बढ़ई जानता है कि वह क्या बनाने जा रहा है, उसे क्यों और कैसे बनायेगा है। किन्तु कवि और चित्रकार उन पदार्थों की सच्ची प्रकृति से अनजान होते है जिनकी कि वे नकल करते हैं। उनकी कला कला नही है। वे अपनी अन्तर्वृत्ति के सहारे, बिना किसी सुध-बुध के, अंधेरे में टटोलते है। इसे वे 'प्रेरणा' करते हैं। किन्तु वस्तुतः उनकी यह प्रेरणा अज्ञान और अधकचरेपन का नतीजा होती है। ललित कलाएं एक निरर्थक बहलाव है जो कला कहलाने का अधिकार नही रखती।

कला के विरुद्ध प्लेटो के ये आरोप और अभियोग, निस्संदेह, अत्यंत कटु है। किन्तु ये उस ऊंची और शुभ्र कल्पना से निसृत हैं जिससे कि प्लेटो मानवीय गतिविधि को देखता था। यह सिद्ध करना कठिन न होगा कि उसके इन कटु आरोपों में से कितने ही आज की आधुनिक कला के लिए उतने ही सच्चे है जितने प्लेटो के समय में थे। किन्तु कला के विरुद्ध खड़े होने से कला के पक्ष मे खड़े होना कहीं अधिक सुखकर है। इसलिए यूनानी कला में और आज की कला में समान रूप से पाये जानेवाले कमजोर पक्षों को उभारकर रखने के कष्टप्रद कार्य को छोड़कर हम केवल यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि कला के उद्देश्य की तुच्छता के बारे में प्लेटो के निरपेक्ष निर्णयों से हम आज कितना और किस रूप में लाभ उठा सकते हैं या अपनी मान्यताओं-धारणाओं में क्या संशोधन-परिवर्धन कर सकते हैं।

प्लेटो कला का विरोध करता है। यह इसलिए कि वह मानव के लिए बेकार की चीज है। इस भयानक आरोप के उत्तर में हम "कला केवल कला के लिए" तथा "कला को मानव की आवश्यकताओं के साथ सम्बद्ध करना उसे

नीचे गिराना है" जैसे गये-बीते नारों का सहारा नहीं लेंगे। इन नारों का उस समय कुछ अर्थ था, जब यह सिद्ध करना आवश्यक था कि कवि भाट नहीं है, कि उसका उद्देश्य शानदार विरुदावलियां लिखना और विभिन्न प्रकार के स्वयंभू तथा भावुक सूत्रों के लिए वास्तविकता को विकृत करना नहीं है। दुर्भाग्य से यह नारा देर से, उस समय जब कि लड़ाई शान्त हो चुकी थी, उठाया गया। इस नारे को आजकल उठाना तो और भी बेकार है। कला अपने स्वतंत्र अस्तित्व को सिद्ध करने में सफल हो चुकी है और उसे अब अपने इस स्वतंत्र अस्तित्व का उपयोग करने के बारे में सोचना है। हमारे समय में "कला कला के लिए" का विचार उतना ही अजीब है जितना कि "धन धन के लिए" और "विज्ञान विज्ञान के लिए।" समूची मानवीय गतिविधि को, यदि उसे एक बेकार के और निठल्ले धंधे का रूप धारण नहीं करना है तो निरर्थक मन-बहलाव की वस्तु न बनकर किसी उपयोगी उद्देश्य को अपनाना होगा।

"किन्तु," कहा जा सकता है, "सौन्दर्यानुभूति का आनन्द भी अपने-आप में भारी उपयोग की चीज है। वह मानव के हृदय में कोमलता का संचार करती है, उसकी आत्मा को ऊंचा उठाती है।" ...

यह विचार सही है। किन्तु इससे कला का पक्ष कुछ खास वजनी नहीं होता। कला-कृतियों से प्राप्त होनेवाला आनन्द, निस्संदेह, अन्य सभी (मुजरिमाना आनन्द को छोड़कर) आनन्दों की भांति मानव की मनःस्थिति में आशा और आल्हाद का संचार करता है। और, प्रसन्न तथा सन्तुष्ट व्यक्ति निश्चय ही असन्तुष्ट तथा उदास जीव से अधिक सहृदय तथा नेक होता है। ... किन्तु इस तरह तो बढ़िया भोजन खाकर उठनेवाला आदमी भी, उस आदमी की तुलना में जिसके पेट में चूहे कूद रहे हैं, अधिक मिलनसार और खुशमिजाज होने का परिचय देता है ... एक अस्वस्थ व्यक्ति की तुलना में, जो कमोबेश रूप में सदा चिड़चिड़ा और क्षोभपूर्ण रहता है, स्वस्थ व्यक्ति कहीं अधिक निस्वार्थ और भलाई चाहनेवाला होता है ... जो हो, यह मानना पड़ेगा कि आये दिन की सीधी-सादी, व्यावहारिक परिस्थितिया मानव की स्थिति को सन्तोषप्रद बनाने में कला से कहीं अधिक स्थायी और प्रबल प्रभाव डालती हैं। तथ्यों को सावधानी से तोलने के बाद इस नतीजे पर पहुचना पड़ता है कि मन-बहलाव के निरे सीधे-सादे, साधारण प्रसाधन भी मानव के हृदय को जितना अधिक तोष और नेकी की भावना प्रदान करते हैं, उतनी कला की कृतियां नहीं कर सकतीं। यदि प्लेटो हमारे युग में प्रकट होता तो सम्भवतः वह यही कहता कि घर के सामने बैंच पर बैठकर (किसानों से) या समोवार के इर्दगिर्द बैठकर (शहरियों के साथ) बातें करने से जितनी अधिक खुशमिजाजी तथा सहृदयता की भावना में संचार हुआ है, उतनी खुशमिजाजी और सद्‌भावना का संचार दुनिया-भर

के तमाम चित्र—सस्ते चित्रों से लेकर 'पाम्पेई के अन्तिम दिन' तक—नहीं कर सकते थे।...

प्लेटो के आरोपों-अभियोगों में—'बेकार का मनोरंजन मात्र' कहकर कविता की निन्दा करने में—अति का अंश हो सकता है, किन्तु प्लेटो को इस बात का श्रेय देना पड़ेगा कि वह कला को जीवन के साथ सम्बंधित करके देखता था। उसकी निन्दा कोरी निन्दा ही नही थी, उसका जायज आधार भी था। इसलिए अधिकांश कलाकारों की, यहां तक कि दार्शनिकों की भी, कला सम्बंधी मान्यताओं पर एक नजर डालना काफी होगा। इन कलाकारों और दार्शनिकों के अनुसार कला का महत्व उसके ऐहिक उपयोगों पर निर्भर नही है, और यह कि "अपने हितों को छोड़ अन्य किन्ही हितों को साधना कला के लिए घातक है, उसे नीचे गिराना है," कि "कला स्वयं अपने-आप में एक लक्ष्य है," कि "कला का एकमात्र उद्देश्य लोकोत्तर आनन्द प्रदान करना है।" कला सम्बंधी ये विचार, जो आज भी प्रचलित हैं, कला को उसके समूचे व्यावहारिक महत्व से वंचित कर देते हैं, और वह एक खेल की चीज मात्र बनकर रह जाती है। प्लेटो ऐसी कला की बहुत ही सही, पूर्णतया जायज, निन्दा करता है। उसका यह कहना बिल्कुल सही है कि जीवन में व्यावहारिक उद्देश्य से शून्य कला, उन सभी चीजों की भांति जिनका कोई उद्देश्य नही होता, विचारक की दृष्टि में बेकार के मनोरंजन या मन-बहलाव का रूप धारण कर लेती है। ◇◇

छलावा

शास्त्रीय तर्कों-युक्तियों की मरीचिका की मदद से प्रकृति के बारे में हमारे ज्ञान को मरीचिका में परिवर्तित करने की प्रणाली भी भला कोई प्रणाली हो सकती है ?

अरस्तू

अरस्तू, प्लेटो की तुलना में, कला से, विशेषकर काव्य और संगीत से, कम उदात्त दायित्वों की मांग करता है। वह अधिक प्यार और अनुराग से उसकी ओर देखता है। काव्य और संगीत के उद्देश्य के बारे में उसकी मान्यताएं न केवल प्लेटो की भांति शिक्षाप्रद नहीं हैं वरन् कहीं-कहीं तुच्छ भी मालूम होती हैं। किन्तु, इस सबके बावजूद, वे प्लेटो की मान्यताओं से कहीं अधिक बोधगम्य हैं।

अरस्तू के अनुसार मानव के लिए कला का पहला उपयोग (अरस्तू भी कला से उपयोगी होने की मांग करता है) ठीक वही है जिसे प्लेटो, सजीव वास्तविता की तुलना में, कला की कृतियों की विवर्णता और तुच्छता का कारण समझता है—अर्थात्, अनुकरण। "अनुकरण करने की आकांक्षा, जो कि कला स्रोत है, ज्ञान की पिपासा से जुड़ी है। ज्ञान की यह पिपासा, जो अनुकृति की मूल से तुलना करने पर बाध्य करती है, उस आनन्द का स्रोत है, जो कला की कृतियों से प्राप्त होता है। किसी पदार्थ का अनुकरण करते समय और मूल से उसकी तुलना करते समय, हम पदार्थ का तुरत और सहज-सरलता के साथ अध्ययन करते हैं। इसी में कला से मिलनेवाले आनन्द का रहस्य निहित है।" इस प्रकार कला का मानव आत्मा की सर्वाधिक महत्व-पूर्ण तथा ऊंची आकांक्षाओं से घनिष्ट सम्बंध है। कारण, अरस्तू ज्ञान-लाभ को जीवन में अधिक ऊंचा स्थान देता है, अमली क्रियाशीलता से बौद्धिक क्रिया-शीलता को अधिक श्रेयस्कर मानता है। चिन्तन की यह धारा उन लोगों के मस्तिष्क में सहज ही घर बना लेती है जिनके जीवन का मुख्य लक्ष्य पठन-पाठन होता है। कला के उद्गम की यह परिभाषा कला को मानव की आत्मा की उच्चतम आकांक्षाओं में सम्मानपूर्ण स्थान प्रदान करती है, किन्तु यह तर्क कि अनुकरण करने की भावना ज्ञान की पिपासा से उदित होती है, आलोचना की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। बहुधा, हम जब अनुकरण करते हैं तो इसलिए नहीं कि हम कुछ ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। अनुकरण सैद्धान्तिक

नहीं, वरन् एक असली प्रयास है ... **सृजन** करने की आकांक्षा (अनुकरण अथवा पुनर्सृजन द्वारा, जैसा कि आजकल कहा जाता है), पैदा करने की आकांक्षा, काव्यात्मक क्रियाकलाप की स्रोत है। सृजनात्मक प्रतिभा की सराहना, वह आनन्द जो मानवीय प्रतिभा के बोध मे प्राप्त होता है, उस आनन्द का स्रोत है जो कला की कृतियां हमें प्रदान करती हैं। ...

किन्तु अनुकरण करने की मानव की आकांक्षा और कला के स्रोत की एकांगी व्याख्या के बावजूद, हम अरस्तू को इस बात का श्रेय दिये बिना नहीं रह सकते कि बौद्धिक गतिविधि के क्षेत्र मे कला के लिए उसने उच्च उद्देश्य खोजने का प्रयत्न किया। इतना ही नही। कला के स्रोत के बारे में सामान्यतः उसकी राय से सहमत न होने पर भी हम इस बात पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते कि दर्शन के साथ काव्य के सम्बंध की व्याख्या अद्भुत रूप से सही है। अरस्तू के अनुसार काव्य—जो सामान्य दृष्टिकोण से मानवीय जीवन का चित्रण करता है, उसके सांयोगिक तथा नगण्य विवरणों को नही वरन् जीवन के मूलभूत तथा विशिष्ट तत्वों को पेश करता है—बहुत कुछ वही गुण और महत्व रखता है जो दर्शन। इस मामले में अरस्तू का मत है कि काव्य इतिहास से ऊंचा है, इतिहास को सभी कुछ का (जो महत्वपूर्ण है उसका भी और जो अमहत्वपूर्ण है उसका भी, साथ ही जो मूलभूत और विशिष्ट है उसका भी और जो सांयोगिक तथा महत्व-शून्य है उसका भी) बिना किसी विवेक के वर्णन करना पड़ता है। काव्य का स्थान इतिहास से इसलिए भी कही अधिक ऊंचा है कि वह हर चीज को उसके आन्तरिक सम्बंधों के साथ पेश करता है, जब कि इतिहास में इस तरह का कोई अन्तर्सम्बंध नहीं होता। वह कालानुक्रम से एक-दूसरे से भिन्न और असमान तथ्यों को आंकता जाता है। काव्य के दृश्यों में एक अर्थ और संगति—सम्बद्धता—होती है, जब कि इतिहास बहुत-से वर्णनों-विवरणों का पिटारा होता है जो हमें कुछ नहीं बताते, जिनमें कोई ऐक्य—संगति—नजर नहीं आती। इतिहास हमें दृश्य नही, वरन् दृश्यों के टुकड़े प्रदान करता है। अरस्तू के कथनानुसार ...

"कवि का कार्य जो घट चुका है उसका नहीं, बल्कि जो घट सकता है उसका वर्णन करना है—अर्थात् सम्भावना या अनिवार्यता के विधान के अनुसार जो घट सकता है उसका (यह विचार आज दिन भी आधारभूत सिद्धान्त का काम देता है। यह इस बात को निर्धारित करने में सहायता देता है कि वास्तविकता जो सामग्री प्रस्तुत करती है, उसका कवि किस प्रकार उपयोग करे, अपने दृश्यों के लिए वह क्या ग्रहण करे, और क्या छोड़े)। कवि और इतिहासकार के बीच भेद यह नहीं है कि एक छन्दों में अपने को व्यक्त करता है, दूसरा छन्दों से वास्ता नहीं रखता। हेरोदोतस के ग्रंथ को छन्द-बद्ध किया

जा सकता है। किन्तु छन्दबद्ध हो या न हो, रहेगा वह फिर भी इतिहास ही। काव्य और इतिहास के बीच भेद यह है कि एक उस चीज का वर्णन करता है जो घट चुकी है, दूसरा उसका जो घट सकती है। इसीलिए काव्य इतिहास से अधिक गहरा और अधिक अर्थपूर्ण होता है। काव्य उस चीज का वर्णन करता है जो अधिक सामान्य है, इतिहास उसका जो विशिष्ट है। सामान्य का अर्थ है: वह जिसे कोई एक व्यक्ति सम्भावना या अनिवार्यता के नियम के अनुसार कहता या करता है। काव्य इसी को व्यक्त करता है और इसके लिए वह नामों का आविष्कार करता है। विशिष्ट का अर्थ है: फलां व्यक्ति ने क्या किया, या उसके साथ क्या घटा?..."

इतिहास के बारे में अरस्तू के उपर्युक्त मत का थोड़ा स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता है। यह इतिहास के केवल उस रूप से सम्बंध रखता है जो अरस्तू के समय में प्रचलित था। सच तो यह है कि उन दिनों इतिहास नहीं, इतिवृत्त लिखे जाते थे। हेरोदोतस के ग्रंथों में, निस्संदेह, अन्तर्सम्बंध का अभाव है। उसके इतिहास के नौ-के-नौ भाग घटनाओं से पूर्ण हैं। वह पर्शियनों और यूनानियों के युद्ध का इतिहास लिखना चाहता है, किन्तु उसे शुरू करने का नम्बर कहीं छठे भाग में आता है... हेरोदोतस वर्णनकार था, दूर-दूर की उसने यात्राएं की थीं और उसका इतिहास एक हार्दिक दिलचस्प, किन्तु असम्बद्ध यात्रा-वर्णन की भांति, ठीक वैसा ही है जैसा कि खूब घुमक्कड़ लोग करते हैं। थ्यूसिडाइडीज़ तो उससे भी गया-बीता है। इतिहास ने केवल अब, हमारे समय में, विज्ञान का रूप धारण किया है। आज के महान इतिहासकारों की कृतियों में अविचल ऐक्य की धारा प्रवाहित है। बेकार के फालतू विवरणों का ऊहापोह उनमें नहीं मिलेगा। उनमें केवल 'सामान्य महत्व' के तथ्य और विवरण मिलेंगे, जैसे कि अरस्तू चाहता है—अर्थात् केवल वे ही जो युग विशेष और उसके लोगों का चरित्र व्यक्त करने के लिए आवश्यक हों।

ऊपर का विवरण यह दिखाने के लिए पर्याप्त है कि अरस्तू का मस्तिष्क कितना पैना और कितना विस्तृत था। किन्तु, अपनी समूची प्रतिभा के बावजूद, वह बहुधा तुच्छता में फंस जाता था। ऐसा उस समय होता था जब वह न केवल घटनाओं के मुख्य तत्वों में, वरन् उनके विवरणों में भी, गम्भीर दार्शनिक सत्यों का आविष्कार करने लगता था। हर चीज में गम्भीर सत्य खोज निकालने की यह प्रवृत्ति अरस्तू के ही समकक्ष एक आधुनिक दार्शनिक में दिखायी देती है। यह सूत्र कि "वह सब कुछ जो तर्क-संगत है, यथार्थ है, और वह सब कुछ जो यथार्थ है तर्क-संगत है" इस प्रवृत्ति की एक ज्वलंत मिसाल है। इस प्रवृत्ति के वशीभूत अरस्तू ने, और उसके समकक्ष आधुनिक दार्शनिक ने भी, बहुधा केवल गौण तथ्यों को भारी महत्व देना शुरू कर दिया। इसका

कारण भी था। ये गौण तथ्य उनकी "पद्धति" में आसानी से बैठ जाते थे। इसकी एक उत्कृष्ट मिसाल के रूप में अरस्तू के उसी उद्धरण का हम उल्लेख कर सकते हैं जिसे हम पहले दे चुके हैं। अरस्तू का यह कहना बिल्कुल सही है कि काव्य का काम तुच्छ विवरणों का चित्रण करना नहीं, वरन् 'सामान्य और विशिष्टता-सूचक' तत्वों-तथ्यों का चित्रण करना है। किन्तु अपने इस कथन की पुष्टि वह किस चीज में देखता है? इस चीज में कि 'कमेडियों' के रचयिता सदा और 'ट्रेजडियों' के रचयिता कभी-कभी, अपने नाटकों के पात्र-पात्रियों के नाम गुण-सूचक रखते हैं: पात्रों के बोरोवातिन (चोर सिंह), प्रावदिन (सत्यकुमार), प्रियामोसुदोव (खड़तल बहादुर), कोरशुनोव (बाज खां), राजलूलयेव (मौजी राम), बोरोदकिन (पोंगा सिंह), स्तारोदुमोव (पुरानी चाल) आदि नाम रखकर उन्हें रंगमंच पर लाना ऐसी प्रथा है जो अब अतीत की चीज बन गयी है।

'अनुकरणात्मक कलाओं' के बारे में प्लेटो और अरस्तू के मतों का काफी विस्तार के साथ हमने उल्लेख किया है। 'अनुकरण' शब्द का भी हमने बीसियों बार उल्लेख किया होगा। किन्तु अब तक एक बार भी हमने 'प्राकृतिक अनुकरण' जैसे टकसाली, सब कहीं प्रचलित, वाक्य का प्रयोग नहीं किया। आखिर क्यों? क्या प्लेटो, और खास तौर से अरस्तू, जो सौन्दर्यविदों के गुरू हैं, कला को **प्रकृति** की अनुकृति नहीं मानते थे? ... नहीं, प्लेटो और अरस्तू, दोनों प्रकृति को नहीं, वरन् मानवीय जीवन को कला की, और विशेषकर काव्य की, सच्ची विषय-वस्तु मानते थे। ... अरस्तू के काव्य शास्त्र में प्रकृति के बारे में एक शब्द भी नहीं मिलता। वह लोगों के, उनके क्रिया-कलापों और उनके साथ घटनेवाली घटनाओं के, बारे में बात करता है। यही वे चीजें हैं जो काव्य के लिए अनुकरणीय हैं। 'प्रकृति' शब्द केवल लिजबिज और कृत्रिम वर्णनात्मक काव्य तथा नीतिमूलक कविताओं में ही (जो अब फिर अपने पंजे फैलाती मालूम होती है) महत्व पा सकता था। कृत्रिम वर्णनात्मक काव्य का नीतिमूलक कविताओं के साथ, जिन्हें अरस्तू काव्य के क्षेत्र से बहिष्कृत समझता था, अविच्छिन्न सम्बंध था। **प्रकृति** का अनुकरण सच्चे काव्य के क्षेत्र से बाहर की चीज है। सच्चे काव्य का मुख्य विषय मानव है। केवल दृश्य-चित्रांकन में 'प्रकृति' अग्रिम स्थान ग्रहण करती है। और, 'प्रकृति का अनुकरण' शब्द सबसे पहले एक चित्रकार के मुंह से ही सुने गये थे। किन्तु उस चित्रकार ने भी इन शब्दों को उस अर्थ में उच्चारित नहीं किया था जिसमें देशाउलिये तथा देलिले के समसामयिक उसे ग्रहण करते हैं। प्लिनी के अनुसार लिसिपस ने, जब वह किशोर ही था, उस समय के सुसम्मानित चित्रकार युपोम्पस से पूछा कि पहले के किन महान कलाकारों का

उसे अनुकरण करना चाहिए। युपौम्पस ने जन-समूह की ओर इशारा करते हुए उत्तर दिया : "तुम्हें कलाकारों का नहीं, प्रकृति का अनुकरण करना चाहिए।" स्पष्ट ही उसका आशय सप्राण यथार्थ से था। उसे ही कलाकार को अपना "मॉडल" बनाना चाहिए, न कि देलिले के दिव्य उद्यानों और वर्ड्सवर्थ, विल्सन तथा उनके ही अन्य जात-भाइयों द्वारा चित्रित झीलों को।...

अरस्तू ने अपने **काव्य-शास्त्र** में (उस जगह जहां 'ट्रेजडियों' का जिक्र है) 'ऐक्शन' (गति) को नाटकों का अत्यन्त आवश्यक तत्व बताया है। नाटक में चाहे अन्य कितने ही महान गुण क्यों न हों, 'ऐक्शन' के अभाव में वह फीका पड़ जाता है, उसमें शक्ति नहीं रहती। नाटक में 'ऐक्शन' की अटूट एकता का प्राधान्य होना आवश्यक शर्त है (यहां उस विचार को दोहराने की आवश्यकता नहीं जो एक अर्से से सभी की जबान पर रहा है अर्थात यह कि 'ऐक्शन' के अलावा अरस्तू अन्य किसी एकता की मांग नहीं करता)।...

बहुधा सुनने में आता है कि यथार्थ जीवन की घटनाओं को ठीक जैसा-का-तैसा उठाकर काव्य में नहीं रख देना चाहिए और यह कि ऐतिहासिक घटनाओं को (मिसाल के लिए ऐतिहासिक उपन्यासों में) कला के सांचे में ढालकर, कला की आवश्यकताओं के अनुसार उनमें संशोधन-परिवर्धन करके पेश करना चाहिए, "कारण यह कि निरे ऐतिहासिक तथ्यों में पर्याप्त आन्तरिक एकता और क्रमबद्धता नहीं होती।" ऐतिहासिक 'ट्रेजडियों' का जिक्र करते समय अरस्तू भी इस समस्या को उठाता है और उसका निम्न हल पेश करता है : काव्य का तकाजा है कि 'ऐक्शन' के विवरणों में पूर्वापर सम्बंध होना चाहिए। हर चीज सम्भावना के अन्तर्गत है, जैसे एक कड़ी दूसरी के गर्भ में से निकलती हुई हो। कोई कारण नहीं जो यथार्थ घटनाएं कला के इस तकाजे को पूरा न कर सकें—इस तकाजे को कि उनमें हर चीज अनिवार्यता के साथ विकसित होती है और ठीक उसी रूप में घटती है जिसमें कि उसका घटना सम्भव होता है। तब फिर, कवि उन्हें उनके सच्चे रूप में ही क्यों न ग्रहण करे? दुनिया भर के काल्पनिक नायकों को गढ़ने में भला क्या तुक है जो वास्तविक नायकों को अन्धकार में डाल देते हैं और जिनका केवल इसलिए समावेश किया जाता है कि वे, अपनी काल्पनिक महिमा द्वारा, वर्णित युग में "काव्यात्मक एकता या संगति का संचार करेंगे," मानो उपन्यास के वास्तविक नायकों के जीवन में सच्ची काव्यात्मक घटनाओं को पाना असम्भव हो!... आज के जीवन का चित्रण करनेवाले उपन्यासों और कहानियों में वास्तविक घटनाओं का जो मनमाना नाटकीकरण किया जाता है, उसका क्या कारण है? किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ऐसा किया जाता

है ? किसी गुंथी हुई और सम्भाव्य घटना को चुनिये और ठीक उसी रूप में उसका वर्णन कीजिये जिस रूप में कि वह वस्तुतः रही है। यदि आपका चुनाव अच्छा हुआ (और यह कितना आसान है !) तो वास्तविक जीवन की आपकी कहानी 'कला की आवश्यकताओं के अनुसार' साहित्यिक प्रभाव पैदा करने की दृष्टि से 'परिवर्तित' किसी भी कहानी से ज्यादा अच्छी होगी। ऐसी स्थिति में यह पूछा जा सकता है कि 'सृजनात्मकता' किस रूप मे अपनी भूमिका अदा करती है ? वह भूमिका अदा करती है घटना के आवश्यक तत्वों को अनावश्यक तत्वों से अलग करके, छिलकों को छांटकर सार-वस्तु को ग्रहण करके।

कथानक और उसकी अन्तिम परिणति के बीच आवश्यक सम्बंध के बारे में गलत धारणा ने 'ट्रेजिक' के तत्व के बारे में भी गलत धारणा को जन्म दिया। 'ट्रेजिक' की यह गलत धारणा ही आज के सौन्दर्य-शास्त्र में प्रचलित है। आम तौर से 'ट्रैजिक' (दुखान्त) घटना को एक खास किस्म के दुर्भाग्य की, क्रूर नियति की, करतूत समझा जाता है। नियति का यह चक्र हर उस चीज को, जो सुन्दर और महान है, पनपने नही देता। वह उसे कुचल कर रख देता है। अरस्तू, जो हमारी बनिस्बत नियतिवाद के अधिक निकट था, 'ट्रेजडियो' के नायकों के जीवन मे नियति के हस्तक्षेप का कही भी उल्लेख नही करता। किन्तु क्या 'ट्रेजडियों' के नायक नाश को प्राप्त नही होते ? अरस्तू इसके उत्तर मे सहज ही यह तथ्य पेश करता है कि 'ट्रेजडी' का लक्ष्य भय और करुणा के भावों का संचार करना है। किन्तु यदि अन्त सुखद हो तो यह प्रभाव नष्ट हो जाता है,—भले ही पहले के दृश्य भयावह और करुणाजनक रहे हों। तब फिर, आप कह सकते हैं, 'ट्रेजडी' के उन पात्रों को, जो अन्त मे नाश को प्राप्त होते हैं, शुरू मे सबल, सुसम्पन्न आदि क्यों दिखाया जाता है ? अरस्तू इसके उत्तर में भी, सहज भाव से, यह तथ्य पेश करता है कि एकरूपता की बनिस्बत विभिन्नता अधिक प्रभावपूर्ण होती है : एक स्वस्थ आदमी को मरते या सुखी आदमी को नष्ट होते देखकर भय और करुणा के भाव जितना अधिक गहरा प्रभाव डालते हैं, उतना इस विभिन्नता के न रहने पर वे नही डाल सकते। और अरस्तू यह बहुत ही ठीक कहता है कि 'ट्रेजिक' की कल्पना में 'नियति' का समावेश नहीं है : उस बाह्य तथा गैर शक्ति का जो केवल घटनाओं के आन्तरिक सम्बंध को कमजोर करने में सहायक होती है और उन्हें एक ऐसी दिशा में मोड़ देती है जो 'ऐक्शन' के तत्व से निःसृत नही होती। इस प्रकार 'नियति' किसी भी कलाकृति के साहित्यिक सौन्दर्य का विनाश करने का साधन बनती है। काव्य का काम मानव के जीवन का चित्रण करना है, गैर और बाहरी मिलावटों से उसे विकृत करना नहीं !

बेलिंस्की का युग

मास्को प्रेक्षक स्तान्केविच की मित्र-मण्डली के हाथों में आया भी तो उस समय जब धन के निपट अभाव से उसका प्रकाशन जारी रखना असम्भव हो गया। पुराने कर्ता-धर्ताओं ने उसका दिवाला निकाल दिया था। इसके बाद भी अगर वह एक साल तक जीवित रहा तो इसका एकमात्र श्रेय **मास्को प्रेक्षक** के उन नये लेखकों की निस्वार्थ लगन को है जिन्होंने अपनी रचनाओं से उसमें जान डाली। **मास्को प्रेक्षक** के जीवन का यह अन्तिम, और देखा जाय तो अत्यंत अल्प काल रूसी पत्रकारिता के इतिहास में अपना जोड नहीं रखता।...

मास्को प्रेक्षक के ये नये लेखक, १८३८ और १८३९ में लगभग पूर्णतया अज्ञात युवक थे, ऐसे लोग जिन्हें कोई नहीं जानता था। किन्तु वे, लगभग सभी, सशक्त और प्रतिभाशाली जीव सिद्ध हुए। लगभग सभी ने हमारे साहित्य के क्षेत्र में सुदृढ, शुभ्र और निर्मल ख्याति प्राप्त की। उनमें से कुछ ने तो हमारे साहित्याकाश में उज्वल प्रकाश-पुंज का स्थान ग्रहण किया। भविष्य उनके साथ था, ठीक वैसे ही जैसे वर्तमान उनके, और आगे चलकर उनकी पांत में शामिल होने वालों के, साथ था।...

मास्को प्रेक्षक में प्रकाशित रचनाएं कलात्मक दृष्टि से तो उत्कृष्ट थी ही, उनका महत्व इसलिए और भी अधिक बढ़ जाता है कि वे, सामान्यतः, स्तान्केविच के इर्द-गिर्द जमा युवकों की मण्डली को अनुप्राणित करनेवाले सिद्धान्तों को पूर्णतया और सचाई के साथ प्रतिबिम्बित करती थीं। उनसे पहले हमारे कवियों और कथाकारों में से बिरले लोग ही अपनी कृतियों के आशय में, और उन विचारों में जिन्हें वे ठीक समझते थे, तादात्म्य स्थापित कर पाते थे। सच कहा जाय तो, नियमतः, कविताओं और कहानियों का उस चीज से कोई वास्ता नहीं था जिसे हम लेखक का "विश्व दृष्टिकोण" कहते हैं, यद्यपि यह भी संदिग्ध है कि वे ऐसे किसी दृष्टिकोण से सज्जित थे।... जो चीज बिना अपवाद के देखने में आती थी वह यह कि एक ओर तो जीवन और उससे उत्पन्न होनेवाले विश्वास, और दूसरी ओर काव्य, दोनों जैसे अलग दड़बों में

बंद रहते थे। लेखक और मानव के बीच बहुत ही क्षीण सम्बंध था। जीवित लोग भी, उस समय जब लेखक की हैसियत से कलम उठाते थे, बहुधा बढ़िया शैली के सिद्धान्तों की बात करते थे, किन्तु कृतियों के आशय से कतई कोई सम्बंध नहीं रखते थे। कला की कृतियों में 'सजीव विचार' का समावेश करने में (जैसा गोगोल युग के आलोचक चाव से कहा करते थे) उन्हें कोई दिलचस्पी नहीं थी। यह दोष, लेखक के आधारभूत विश्वासों तथा उसकी कृतियों के बीच सम्बंध का अभाव, एक ऐसा दोष था जो (गोगोल और बेलिंस्की द्वारा नयी दिशा पाने से पहले) हमारे समूचे साहित्य में व्याप्त था। **मास्को प्रेक्षक** का साहित्यिक अंग, सम्भवतः, मानव के विश्वासों और उसकी कलात्मक कृतियों के आशय के बीच निर्बाध संगति का, उस संगति का जो आज हमारे समूचे साहित्य में व्याप्त है और उसे इतना सप्राण और सजीव बनाती है, पहला अंकुर था। युवा कवि और उपन्यासकार, जिनकी रचनाएं **मास्को प्रेक्षक** में छपती थीं, अन्य कवियों से लिये गये या अनुप्रेरित विषयों पर नहीं, वरन् मस्तिष्क को उद्वेलित करनेवाली ज्वलन्त समस्याओं पर लिखते थे। वे अनुकृतिकार नहीं थे, जो विषय के अर्थ को बहुधा समझे बिना ही, आंखें मूंदकर विदेशी कृतियों के बाह्य रूप की नकल करने में ही साहित्य रचना की अथ और इति समझते हों। वे जानते थे कि वे क्या लिख रहे हैं। यह एक ऐसा गुण था जो हमारे पहले के लेखकों में बिरले ही नजर आता है।...

निस्संदेह, स्तान्केविच की इस मित्रतापूर्ण मंडली के मस्तिष्कों पर दार्शनिक विश्व दृष्टिकोण पूर्णतया हावी था ... बिना किसी संशय के, एकमात्र दर्शन के लिए वे जीते थे, दिन और रात जब भी बैठते उसी के बारे में बातें करते, दर्शन के दृष्टिकोण से ही हर चीज को देखते और दर्शन के दृष्टिकोण से ही उसका हल खोजते। यह ऐसा समय था जब हेगेल से हमारे नये परिचय का जोश, वह उछाह जो उसकी प्रबल द्वन्द्वात्मक शक्ति ने हममें पैदा किया था, अपने पूरे उभार पर था। नये और गहरे सत्यों का उसने उद्घाटन किया था, और इस उछाह की पहली बाढ़ में, स्वभावतः, हमें ऐसा मालूम होता था जैसे उसके आलोक ने हर चीज को आलोकित कर दिया हो, हर चीज को युक्तियुक्त, सामंजस्यपूर्ण बना दिया हो। नैसर्गिक आन्तरिक शान्ति और बाह्य क्रियाशीलता के लिए सबल और पुष्ट शक्ति—दोनों से हम मण्डित मालूम होते थे। हमने, अर्थात युवा पीढ़ी ने, और सब कुछ भूलकर हेगेल तथा उसके द्वारा उद्घाटित सत्यों को—जो हमारे लिए सर्वथा नये थे—अपनाया ... हेगेल का दर्शन **मास्को प्रेक्षक** की मुख्य विशेषता थी।...

स्तान्केविच की मित्र-मण्डली में हेगेल की भक्ति अति के छोर पर पहुंच गयी थी। यह एक ऐसी स्थिति थी जिसमें प्रतिभा, स्वतंत्र मस्तिष्क और आगे

बढ़ने की आकांक्षावाले लेखक अधिक दिनों तक नहीं रह सकते थे। हेगेल की प्रणाली से इस मण्डली के सर्वाधिक प्रतिभाशाली सदस्यों का अचेतन असन्तोष उनकी सतत प्रशंसा में भी देखा जा सकता था। हेगेल की प्रशंसा के रूप में ही वह व्यक्त होता था, किन्तु इतनी सबलता और निर्मम अडिगता के साथ कि स्वयं हेगेल भी सुनकर चौंक उठता। वे, जैसा कि कहते है, हेगेल से भी अधिक हेगेलियन थे। इस दिशा मे सबसे अधिक उल्लेखनीय बेलिंस्की था। वह ऐसा जीव था जो, सामान्यतः, अपने बौद्धिक विश्वासों को किसी भी हालत में लकीर का फकीर नहीं बनने दे सकता था, फिर चाहे यह लकीर हेगेल से भी बड़े अधिकारी द्वारा क्यों न खींची गयी हो! इसका प्रमाण बेलिंस्की के उन कतिपय निबंधो में पाया जा सकता है जो पूर्णतया हेगेल की शैली में लिखे गये हैं, किन्तु इतनी सप्राणता के साथ कि हेगेल को उनमें मार्यादा का अभाव नजर आता। यह स्पष्ट है कि हेगेल, जो किसी श्वेत-केशी ऋषि की भांति बड़ी तटस्थता से हर चीज के बारे में बात करता था, और दुनिया की सभी हलचलों से मुक्त आराम कुर्सी-सेवी दार्शनिक की आंखों से हर चीज को देखता था, बेलिंस्की जैसे उत्कट और सप्राण, आशा-आकांक्षाओं से आन्दोलित पच्चीस-वर्षीय युवक को अधिक दिनों तक अपने खूंटे से बांधकर नही रख सकता था। गुरु और शिष्य, दोनों की प्रकृतियां भिन्न थीं। उनके उस समाज की आवश्यकताएं भिन्न थी जिनमें कि वे गतिशील थे — इतनी भिन्न कि उनमें कोई ऐक्य नहीं था। देखते-न-देखते बेलिंस्की ने हेगेल के सिद्धान्तों की हर उस चीज को उतार फेंका जो उसके चिन्तन को अवरुद्ध करती थी। मास्को से पीतर्सबर्ग जाने के शीघ्र बाद ही वह पूर्णतया स्वतंत्र चिन्तक बन गया।

यह ... परिवर्तन अनिवार्य था। इसका बीज स्वयं बेलिंस्की की प्रकृति में निहित था। इसके अलावा इसे दो अन्य परिस्थितियों ने भी गति प्रदान की: एक तो स्तान्केविच के मित्रों और ओगियारोव तथा उसके मित्रों के बीच मेल ने, और दूसरे बेलिंस्की के मास्को से हटकर पीतर्सबर्ग को अपना कार्य-क्षेत्र बनाने ने।...

इस प्रकार, मास्को में नयी पीढ़ी के अग्रगामी व्यक्ति, दो मण्डलों में विभाजित थे। इन दोनों की दिशाएं एक-दूसरे से भिन्न थीं। एक में हेगेल के दर्शन का प्रभुत्व था और दूसरा ऐतिहासिक जीवन की तात्कालिक समस्याओं का अध्ययन करता था। ऐसी बातों की कमी नहीं थी जिन्हें लेकर दोनों एक-दूसरे से टकरा सकते थे। किन्तु पारस्परिक प्रत्यक्ष विरोध की तह में, तत्वतः, उनके समान लक्ष्यों की धारा प्रवाहित थी। भेद केवल उन अंशों में था जो दोनों में एकांगी दोषों का रूप धारण किये थे। लक्ष्य दोनों

का एक था : ऐसी गतिविधियों का संचालन करना जो रूसी समाज के लिए फलदायक हों । और दोनों ही साहित्य के पुनरोत्थान तथा बौद्धिक क्रियाशीलता को गति प्रदान करना इस लक्ष्य की पूर्ति का एकमात्र साधन समझते थे । दोनों अपने आदर्शों को भविष्य में देखते थे---अतीत में नहीं । दोनों की स्थिति के बीच वैसा ही सम्बंध था जैसा कि कर्म और सिद्धान्त के बीच होता है, अर्थात यह कि दोनों की गति एक-दूसरे से मिलने में थी, अलग रहने में नहीं । आपस में मिलकर ही वे एक-दूसरे की कमी को पूरा कर सकते थे । इस प्रश्न का उत्तर कि मूल तत्वों पर एकता की भावना का पलड़ा भारी रहेगा अथवा गौण विषयों पर वैमनस्य का ... अन्य सब चीजों से बढ़कर इस बात पर निर्भर था कि दोनों धाराओं के ये प्रतिनिधि रूसी समाज के विकास के इतिहास की वस्तुतः अग्रणी विभूति बनने की योग्यता रखते है अथवा नही । .. इतिहास इस बात का साक्षी है कि, नियमतः, जब कोई सिद्धान्त क्षीण होने लगता है तो उसके अनुयायी, गौण प्रश्नों को लेकर, लम्बे वैमनस्य में ग्रस्त हो जाते हैं; किन्तु जब सिद्धान्त विकास करता होता है तो उसके अनुयायी, गौण विषयों पर लाख मतभेद होने पर भी, मुख्य आधार पर सहयोग करते हैं ।...

किन्तु जिन लोगों का हम यहां जिक्र कर रहे हैं, उन्हें हमारे समाज मे वस्तुतः महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना था । उन्हें अनुप्राणित करनेवाले सिद्धान्त वस्तुतः सप्राण और उर्वर थे । इसलिए इन सिद्धान्तों का और इन लोगों का मेल होना अनिवार्य था । और सचमुच, ये लोग एक हुए, अत्यंत शुभ्र लगन का उन्होंने परिचय दिया, स्वयं अपनी इच्छा से अपने एकांगीपन को उन्होंने उतार फेंका । उनके सिद्धान्तों ने मिलकर एक ऐसी सम्बद्ध और संगति-पूर्ण सामान्य धारा को जन्म दिया (तथा उसे अत्यंत विरल और प्रेरणादायक दृष्टान्त का रूप प्रदान किया) जो व्यक्तिगत गलतफहमियों पर सामान्य सत्य की, तथा व्यक्तिगत वैमनस्य और विरोधों पर सत्य की खोज के समान प्रयास की, पूर्ण विजय की सूचक थी ।

मास्को में बेलिंस्की, अपने मित्रों की भांति, सैद्धान्तिक दार्शनिकता में डूबा था, और वस्तु-जगत में क्या घट रहा है इस पर कोई ध्यान नहीं देता था । यों, कहने को, वह यह दोहराते कभी नहीं थकता था कि वास्तविकता दुनिया-भर के स्वप्नों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है । किन्तु अपने मित्रों की भांति वह भी वास्तविकता की ओर एक भाववादी की दृष्टि से ही देखता था । उसने वास्तविकता का उतना अधिक अध्ययन नहीं किया जितना अपने भावना-दर्श का उसमें समावेश किया । उसका विश्वास था कि भावना वास्तविकता से अलग नहीं है; दोनों में कुछ न कुछ सम्बंध है, कम से कम इतना सम्बंध तो है

ही कि वास्तविकता के सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व उन भावनाओं के ही अनुरूप हैं जो हेगेल की प्रणाली में व्याप्त हैं।...

अब, हर वह व्यक्ति जो भाववादी चिन्तन के दौर में से गुजर चुका है, यह जानता है कि पीतर्सबर्ग ऐसी जगह नहीं है जहां इस तरह के सपनों में रमा जा सके। वहां का वास्तविक जीवन इतना अस्थिर और उद्धत्त है कि उसे यकीन बनाये रखना कठिन हो जाता है कि सब कुछ हेगेलवादी प्रणाली की भाववादी योजना के अनुसार चल रहा है। भाववाद की वहां दाल नहीं गलती। नवागन्तुक के प्रत्येक भ्रम को खंडित करने की अपनी पुरानी तत्परता के अनुसार बेलिंस्की को भी सामग्री प्रदान करने में पीतर्सबर्ग ने देर नहीं की। इस बात की जांच करने के लिए कि वास्तविकता को युक्तियुक्त सिद्ध करने की हेगेल को प्रणाली, उसके तत्सम्बंधित निष्कर्ष कहां तक तक सही हैं, उसने बहुत सामग्री प्रदान की।... फल इसका यह कि वास्तविकता और हेगेल के सिद्धान्त — दोनों को बेलिंस्की ने आलोचना की कसौटी पर परखना शुरू किया। सैद्धान्तिक विश्वासों की इस जांच ने हेगेल के सिद्धान्तों को उनके एकांगीपन से मुक्त किया, गलत और मिथ्या विषय-वस्तु से, जो उनके साथ जुड़ी-मिली थी, उनका पीछा छुड़ाया, और एकदम आधुनिक-विज्ञान की आत्मा के अनुसार नये निष्कर्षों की स्थापना की। पहलेवाली निस्संग निश्चलता को वास्तविकता के थपेड़ों ने नष्ट कर दिया।... बेलिंस्की ने देखा कि वास्तविकता में बहुत कुछ है जो मिथ्या और घातक है, जीवन में सत्य और बुद्धि की स्थापना के मार्ग में आड़े आता है।... अस्तु बेलिस्की ने, अपनी समूची शक्ति से, अनथक और अडिग रूप में, हर उस चीज के विरुद्ध संघर्ष का बीड़ा उठाया जो इस लक्ष्य की पूर्ति में बाधक थी।...

साहित्य के क्षेत्र में इस धारा के प्रतिनिधि बेलिंस्की ने, वास्तविकता के निरीक्षण द्वारा, हेगेल के दर्शन के सही सिद्धान्तों और उसके एकांगी निष्कर्षो में भेद करना सीखा, उन समस्याओं के भारी महत्व को पहचाना जिनकी ओर स्तान्केविच का मण्डल कोई ध्यान नहीं देता था। उसने हेगेल की प्रणाली की केवल उन स्थापनाओं से वास्ता रखा जो जीवन्त वास्तविकता की कसौटी पर खरी उतरीं। भूतपूर्व स्तान्केविच-मण्डल के प्रायः उन सभी लोगों ने जो अत्यंत प्रतिभाशाली थे बेलिंस्की का अनुसरण किया, या स्वतंत्र रूप में उसी पथ पर आ मिले। दोनों धाराओं का एकांगीपन दूर हो गया।

विश्वासों और सक्रिय प्रयासों के बीच इस एकता ने अनिवार्यतः उन्हें, और साथ ही औरों को भी, एकजुट किया।... स्तान्केविच और ओगियारोव के पहले के मित्र-मण्डलों ने, नवागन्तुकों को सम्मिलित करके, अब कहीं बड़े साहित्यिक समाज का रूप धारण कर लिया।...

इस प्रकार बेलिस्की और उसके प्रमुख साथी, बौद्धिक रूप से, पूर्णतया स्वतंत्र बन गये।

इस तथ्य का (बेलिस्की और उसके मुख्य साथियों के रूप में रूसी चिन्तन की स्वतंत्रता का) महत्व केवल इसीलिए नहीं है कि वह हमारे जातीय अभिमान को तुष्ट करता है। उसका महत्व इस बात में भी है कि हमारे साहित्यिक चिन्तन के इतिहास में वह बेलिस्की और उसके साथियों के उन विशिष्ट गुणों का परिचायक है जो हमारे देश में आलोचना के लिए सर्वथा नये थे। बेलिस्की से पहले हमारी आलोचना में उनका अस्तित्व नहीं था। ००

वास्तविकता का ज्ञान

कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वप्नों में रमनेवाला व्यक्ति केवल चारपाई तोड़ा करता है जब कि उद्देश्य से प्रेरित व्यक्ति, अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए, अनथक श्रम में जुट जाता है। मनुष्य की इच्छाएं जितनी ही सच्ची और वास्तविक होती हैं उतनी ही शक्ति और तत्परता से वह उनकी पूर्ति में बाधक तत्वों के विरुद्ध संघर्ष में कूद पड़ता है। वास्तविक जीवन के तत्व ही प्रेम और घृणा को जन्म देते हैं और इन अनुभूतियों को उग्रतम बनाते हैं। कल्पनालोक की हेलेन अपने तमाम अलौकिक सौन्दर्य के बावजूद एक स्वस्थ व्यक्ति में उस अनुभूति की छाया भी नहीं जगा पाती जो एक वास्तविक, सशरीर, नारी जगा देती है, भले ही वह अनुपम सुन्दरी न हो।

बेलिंस्की

बेलिस्की से पहले हमारी साहित्यिक आलोचना कभी फ्रैंच थ्योरियों को प्रतिबिम्बित करती थी और कभी जर्मन को। उसकी मूल मान्यताओं में कोई निजत्व नहीं था, स्पष्टता और उभार नहीं था। साहित्यिक कृतियों के गुणों और उनके मूल आशय का मूल्यांकन करते समय, अनेक ऐसी बातों को कहते हुए भी जो सच थी, वह सदा बहुत-कुछ अनकहा छोड़ देती थी अथवा सही टीका-टिप्पणियों के साथ चित्र-विचित्र भ्रमों को गूंथने लगती थी। बेलिस्की के आते ही, सामान्यतः, पांच या छः वर्ष की अल्पावधि के भीतर ही बेलिस्की से पहले के श्रेष्ठतम आलोचकों के मत पिछड़े हुए युग की चीज बनकर रह गये। वे एकांगी और निराधार लगने लगे।...

बेलिस्की की ख्याति का, उस आत्मीयता का जिससे कि उसके मतों को ग्रहण किया गया, मुख्य कारण भी उसके मस्तिष्क की स्वतंत्रता थी। दूसरों के विचारों को दोहरानेवाले लोगों की कमजोरी इस बात में होती है कि वे बहुधा ऐसे विषयों की चर्चा करते है जो जनता में किसी दिलचस्पी का संचार नही कर पाते। यों सत्य सदा सत्य होता है। किन्तु सभी सत्य सर्वदा और सब कही समान रूप से महत्वपूर्ण नहीं होते। उनमें समान रूप से लोगों का ध्यान खींचने की क्षमता नही होती। प्रत्येक युग की, प्रत्येक जाति की, अपनी अलग आवश्यकताएं होती हैं। एक जर्मन को जो चीज दिलचस्प मालूम होती है, बहुधा फ्रैंच या रूसी को नहीं मालूम होती। कारण यह कि जीवन की आवश्यकताओं से उसका कोई सीधा सम्बंध नहीं होता। हमें उसी चीज को लेना चाहिए जिसकी हमारे युग के लोगों को आवश्यकता हो। पहले, हमारा साहित्य बहुधा ऐसे विषयों को लेता था जिनमें हमारी तनिक भी दिलचस्पी नहीं होती थी। वह हमारे विचारों को वाणी प्रदान करने या हमारी पेचीदगियों को सुलझाने का नहीं, वरन दूसरों के मतों को प्रतिध्वनित करने का काम करता था—सो भी ऐसी समस्याओं के बारे में जिनसे हमारा कोई सम्बंध नहीं था। किन्तु बेलिस्की उन्ही बातों की चर्चा करता था जिनकी जनता को आवश्यकता होती थी, जिनमें उसकी रुचि होती थी।...

बेलिंस्की की समालोचना हमारे जीवन के मुख्य हितों से अधिकाधिक सम्बद्ध होती गयी, वह जीवन की समस्याओं को अधिकाधिक स्पष्ट रूप से ग्रहण करती गयी, वह और भी दृढ़ता से जीवन के लिए साहित्य के महत्व को समझाने लगी। उसने बताया कि साहित्य को अपने विकास के एक मुख्य तत्व के रूप में जीवन से किस प्रकार सम्बंधित होना चाहिए।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया बेलिंस्की की समालोचना में से सूक्ष्म और दुरूह विषयों का समावेश कम होता गया। गूढ़ विषयों के प्रतिपादन में भी वह दुरूहता को दूर रखता। समालोचना में जीवन के तत्वों का समावेश और भी अधिक होने लगा।...

पीतर्सबर्ग की पत्र-पत्रिकाओं के लिए बेलिंस्की ने लगभग आठ वर्ष काम किया। इस काल में उसके विकास की गति बताने के लिए ... हम, सामान्य रूप में, पीतर्सबर्ग में बेलिंस्की की गतिविधि के दो मुख्य दौरों की रूपरेखा का परिचय देने का प्रयास करेंगे। पहले पूर्वार्ध में, उसके निबंधों में सूक्ष्म तत्व की काफी प्रबलता दिखायी देती है। किन्तु उत्तरार्द्ध में उसका प्रायः पूर्ण—और इस अर्द्धांश का अन्त होते-होते पूर्णतया—लोप नजर आता है। उसके सकारात्मक विचारों की प्रणाली में ढुलमुलपन का कोई चिन्ह शेष नहीं रहता।...

१८४० में, **ओतचेस्तवेन्नीए ज़ापिस्की** के पहले अंक में बेलिंस्की ने ग्रिबोइयेदोव की 'कॉमेडी' पर एक आलोचनात्मक निबंध लिखा था।... इस निबंध का बेलिंस्की के अत्यन्त सफल और उज्वल निबंधों में स्थान है। यह कला की थ्योरी के प्रतिपादन से शुरू होता है। इसमें एकदम, निरे सूक्ष्म, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्राधान्य है। किन्तु इस सबके बावजूद, अपने इस निबंध में, बेलिंस्की पूरी सबलता के साथ स्वप्निलता को आड़े हाथों लेता है। समूचा लेख वास्तविकता की भावना से व्याप्त है। वह कल्पना की उस दुनिया पर सबल आक्रमण करता है जो वास्तविकता को हेय दृष्टि से देखती है। यहां, हम एक उद्धरण दे रहे हैं जिसमें (एकदम हेगेलवादी भाषा में) यह प्रतिपादन करने के बाद कि "काव्यात्मक कृतियां सर्वोच्च वास्तविकता की व्यंजना हैं," बेलिंस्की कहता है:

"ऐसे लोग भी हैं जो अपने अन्तरतम में विश्वास करते है कि काव्य कल्पना की, सपनों की, चीज है, वास्तविकता की नहीं, और यह कि हमारे आज के बुद्धि प्रधान तथा औद्योगिक युग में काव्य के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। इसे कहते हैं चरममूढ़ता! बेतुकेपन की सीमा! आखिर स्वप्न क्या है? एक छाया, विषयवस्तु से शून्य एक स्वरूप, विकृत कल्पना, निठल्ले मस्तिष्क और चेतनाशून्य हृदय की उपज! ऐसी स्वप्निलता यदि कहीं दिखायी देती है तो लमार्तीन जैसे कवियों और उनकी काव्य-कृतियों में, **अबादोवा** जैसे भावुकता-

पूर्ण उपन्यासों में। लेकिन लमार्तीन क्या है ? कवि या स्वप्न ? और अबादोना क्या है ? काव्यकृति या स्वप्न ? यह विचार कि हमारा यह बुद्धि प्रधान और औद्योगिक युग कला का शत्रु है किस मनहूसियत और पिछड़ेपन की देन है ? क्या बायरन, वाल्टर स्काट, कूपर, थामस मूर, वर्ड्सवर्थ, पुश्किन, गोगोल, मिकविक, हाइने, बेरंगर, ओह्लेनस्लैगर, तेगनर हमारे इसी युग के लिए नहीं है ? क्या शिलर और गेटे हमारे इसी युग के नहीं हैं ? क्लासिकल कला तथा शेक्सपीयर की कृतियों का मूल्यांकन करने तथा उन्हें समझने का श्रेय क्या हमारे इसी युग को नहीं है ? क्या ये तथ्य नहीं हैं ? औद्योगिकता उन्नीसवीं सदी के अनेक पहलुओं में से एक पहलू को व्यक्त करती है। न इसने काव्य पर कोई रोक लगायी है, जैसा कि उपर्युक्त कवियों के अस्तित्व से प्रकट है, और न संगीत पर, जिसके शेक्सपीयर के रूप में बीथोवन का उल्लेख किया जा सकता है, न ही दर्शन को उसने अवरुद्ध किया जिसने फिख्ते, शैलिंग और हेगेल के रूप में विकास के उच्चतम शिखरों का स्पर्श किया। निस्संदेह यह युग स्वप्नों और स्वप्निलता का शत्रु है। किन्तु ठीक इसीलिए यह एक महान युग भी है। उन्नीसवीं शती में स्वप्निलता उतनी ही हास्यास्पद, अटपटी और लिजलिजी है जितनी कि निपट भावुकता। **वास्तविकता**—यही हमारे युग का मुख्य तत्व और उसका नारा है। हर क्षेत्र में वास्तविकता -- धर्म में, विज्ञान में, कला में, और जीवन में। एक महान और साहस से भरा युग, जो किसी भी मिथ्या, कृत्रिम, क्षीण या अस्पष्ट वायवी चीज को बरदाश्त नहीं करता, जो हर उस चीज को प्यार करता है जो सशक्त, सबल, और पदार्थमय है; एक ऐसा युग जिसने साहस के साथ और बिना डगमग हुए बायरन के आल्हाद से शून्य गीतों को सुना और निराशा के उस गायक के साथ-साथ निश्चय किया कि बीती शती के नगण्य आल्हादों और तुच्छ आशाओ से तुष्ट रहने के बजाय समूचे आनन्द और समूची आशा से दूर रहना कहीं अच्छा है; यह ऐसा युग है जो कैण्ट के बुद्धि के गुण-दोष विवेचन और फिख्ते के बुद्धि के स्वतःसिद्ध प्रमाणों की कसौटी पर खरा उतरा, शिलर के साथ आन्तरिक, आत्मगत, वेदना की तमाम यंत्रणाओं को जिसने सहा और नकारात्मकता के —खण्डन के—मार्ग से वास्तविकता की ओर अभियान किया; एक ऐसा युग जिसने, शैलिंग के रूप में सीमाहीन वास्तविकता का उषाकाल देखा, हेगेल के सिद्धान्तों के रूप में उस प्रचुर, शानदार, आलोक का दर्शन किया जो—इन महान विचारकों से भी पहले—सीधे गेटे की कृतियों में दिखायी दिया था, किन्तु समझा नहीं जा सका था।..."

इस निबंध में, बार-बार यह दोहराते हुए भी कि हमारे युग का काव्य "वास्तविकता का काव्य है, जीवन का काव्य है," बेलिंस्की ने कला का जो

मुख्य कर्तव्य बताया है, वह जीवन से पूर्णतया छितरा हुआ है, पूर्णतया वायवी है : "रोमांटिक और क्लासिकल के बीच तादात्म्य !" कारण यह कि हमारा युग, सामान्यतः, सभी क्षेत्रों में "सामंजस्य का युग" है। स्वयं वास्तविकता की कल्पना भी कुछ-कुछ एकांगी है; केवल मानव के आत्मिक जीवन को वह ग्रहण करती है और जीवन के समूचे भौतिक पक्ष को "माया" समझती है ... मानव "सोचता है, अनुभव करता है, उसे अपना बोध भी है, किन्तु एक अंग के रूप में, आत्मा के एक वाहन के रूप में, सर्वव्यापी और अनन्त के एक क्षण-गत ससीम अंश के रूप में, —यही वास्तविक जगत है।" निरे हेगेलवाद के सिवा यह सब और कुछ नहीं है। किन्तु, उस समय जब थ्योरी को स्पष्ट रूप देने के लिए उसे कलाकृतियों पर लागू करना जरूरी होता है, तब बेलिंस्की, सच्चे महाकाव्य की मिसाल के रूप में, गोगोल की कहानियों को चुनता है और नाटक की दृष्टि से एक उत्कृष्ट कलाकृति के रूप में गोगोल के **इन्स्पेक्टर जनरल** का दृष्टान्त पेश करता है ... !

बेलिंस्की के विरोधी

बेलिंस्की उन्हीं विचारों का खंडन करते थे जो निश्चयात्मक रूप से हानिकर होते थे, निहायत गलत होते थे। ऐसी एक भी मिसाल ढूंढ़ निकालना असम्भव है जब बेलिंस्की ने उन विचारों पर आक्रमण किया हो जो हानि-रहित थे, भोंड़े नहीं थे। अस्तु, इसमें दोष बेलिंस्की का नहीं था कि उसके विरोधी किसी भी वाद-विवाद के बाद (जिसे प्रायः बेलिंस्की शुरू नहीं करते थे) अपने को पराजित और घायल पाते थे। आखिर वे उन विचारों की हिमायत करते ही क्यों थे जिनकी हिमायत नहीं की जानी चाहिए थी ?...

निकोलाई अलेक्जान्द्रोविच दोब्रोल्युबोव

[१८३६-१८६१]



[जन्म : २४ जनवरी, १८३६]

[मृत्यु : २९ नवम्बर, १८६१]

जीवन-वृत्त

ओका नदी के दोनों तटों पर स्थित वोल्गा-क्षेत्र के सुप्रसिद्ध नगर निझनी-नोवगोरोद में, जो अब गोर्की के नाम से प्रसिद्ध है, २४ जनवरी १८३६ को एक निर्धन पादरी के घर निकोलाई अलेक्जान्द्रोविच दोब्रोल्युबोव का जन्म हुआ।

बालक निकोलाई कुशाग्र बुद्धि था। माता-पिता ने उसे एक धार्मिक स्कूल में भर्ती करा दिया। बारह वर्ष की आयु में स्कूल की शिक्षा समाप्त कर दोब्रोल्युबोव ने उच्च शिक्षालय में पदार्पण किया।

सत्रह वर्ष की आयु तक पहुंचते-पहुंचते दोब्रोल्युबोव की इतिहास, साहित्य, दर्शन तथा विज्ञान में विशेष रुचि हो गयी। इन्हीं दिनों उनका ध्यान *ओतेचेस्तवेन्नीए ज़ापिस्की* तथा *सोव्रेमेन्निक* पत्रिकाओं की ओर आकर्षित हुआ और वह इनके नियमित पाठक बन गये। उनकी प्रवृत्ति धार्मिक चिन्तन से हटकर अब धीरे-धीरे भौतिकवाद की ओर हो गयी।

१८५३ में दोब्रोल्युबोव सेंट पीटर्सबर्ग के केन्द्रीय अध्यापन प्रतिष्ठान में इतिहास तथा भाषा-विज्ञान का अध्ययन करने के लिए चले गये। अब तक उनके राजनीतिक विचार भी स्पष्ट रूप धारण कर चुके थे। उनके चारों ओर विद्यार्थियों का अच्छा खासा दल सिमट आया जिसने १८५५-५६ में एक गैर-कानूनी पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। इस पत्रिका का नाम था *स्लुखी*। यह पांडुलिपि रूप में ही प्रकाशित की जाती थी और इसमें दास-प्रथा तथा जारशाही शासन की कटु आलोचना होती थी।

१८५६ में *सोव्रेमेन्निक* में दोब्रोल्युबोव का पहला लेख "रूसी साहित्य प्रेमियों से दो-दो बातें" प्रकाशित हुआ और जून १८५७ में

अध्यापन-प्रतिष्ठान से दीक्षा प्राप्त करने के उपरान्त वह *सोव्रेमेन्निक* के पुस्तक-समीक्षा विभाग के सम्पादक बन गये।

१८५७ से १८६० तक का काल सृजनात्मक दृष्टि से दोब्रोल्युबोव के जीवन का सर्वाधिक समृद्ध काल रहा। उनके सुप्रसिद्ध लेख "अंधकार राज्य में," "अंधकार राज्य में प्रकाश की एक किरण," "ओब्लोमोव्सचिना क्या है ?," "रूसी जन-जीवन के चित्रण की विशिष्टताएं" न केवल रूसी साहित्य वरन् विश्व साहित्य की निधि हैं।

१८५९ में *सोव्रेमेन्निक* के साथ ही *स्विस्तोक* नामक एक व्यंग्य-पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ और दोब्रोल्युबोव इसके प्रमुख सम्पादक बने। इस पत्रिका का उद्देश्य सामन्ती-पूंजीवादी उदारवाद की धज्जियां उड़ाना था और यह काम इस पत्रिका ने बड़ी सफलता से किया।

१८६० में दोब्रोल्युबोव सहसा बुरी तरह बीमार पड़ गये। एक वर्ष तक उपचार होता रहा, किन्तु कोई लाभ न हुआ और २९ नवम्बर १८६१ को, पच्चीस वर्ष की अल्पायु में, इस प्रतिभाशाली तरुण साहित्यिक का निधन हो गया।

दोब्रोल्युबोव की असामयिक मृत्यु पर चर्नीशेव्स्की का हृदय कराह उठा। उन्होंने लिखा :

"आह ! वह तुम्हें कितना प्यार करता था, रूसी जनो ! उसके शब्द तुम तक नहीं पहुंच पाये। किन्तु जब तुम वैसे बन जाओगे, जैसा वह तुम्हें बनाना चाहता था तब तुम्हें पता चलेगा कि इस प्रतिभाशाली तरुण ने, तुम्हारी सर्वोत्तम सन्तान ने, तुम्हारे लिए क्या किया है !"

उद्बोधन

कला और दर्शन की सम्पूर्ण सार्थकता जनता की सोई शक्तियों को जागृत करने में है।

◈ ◈ ◈

कला का उद्देश्य जनता को शिक्षित करना है, उसके लिए जीवन की पाठ्य-पुस्तक बनना है, समग्र समाज के लिए आंख-कान बनना है।

◈ ◈ ◈

भौतिक और आत्मिक तत्वों के रूप में दुनिया को नहीं देखा जा सकता; दुनिया इन दो तत्वों का योग मात्र नहीं है। हर चीज, जिसका दुनिया में अस्तित्व है, गति और विकासमान पदार्थ की अवस्था का परिचय देती है।

◈ ◈ ◈

भौतिक जगत में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो निरा जड़ हो, जिसमें उसकी अपनी शक्ति न कसमसा रही हो। इसी प्रकार ऐसी कोई शक्ति नहीं जो अपना एक अलग, पदार्थ से स्वतंत्र, अस्तित्व रखती हो।

शक्ति पदार्थ का एक मूलभूत, अविच्छेद्य, गुण है। पदार्थ से अलग उसकी कोई सत्ता नहीं है। पदार्थ में उसका संचार या समावेश नहीं किया जा सकता; उसे केवल जगाया जा सकता है।

◈ ◈ ◈

यह आवश्यक है कि जीवन और साहित्य को उन तमाम धार्मिक रूपकों से मुक्त किया जाय, जिनका उदय उस समय हुआ था जब मानव जाति अपनी निहित शक्ति से अवगत नहीं थी, बाह्य जगत के प्रभाव ने उसे पूर्णतया अभिभूत कर लिया था और अपनी अनगढ़, अनुभवी कल्पना के प्रभाव में सभी चीजों में किसी रहस्यमय शक्ति के अस्तित्व का भान पाती थी।

चिन्तन को वास्तविकता से, गोचर जगत के बोध से, अलग नहीं किया जा सकता। कारण कि वही उसकी मूल विषय-वस्तु है। उसके बिना चिन्तन की कल्पना तक नहीं की जा सकती, उसे कोई रूप नहीं दिया जा सकता। शून्य चिन्तन की भावना अनिवार्यत: चिन्तन शून्यता की भावना है जिसकी न कोई विषय-वस्तु होती है, न आकार-प्रकार होता है।

◈ ◈ ◈

आलोचना का सबसे अच्छा तरीका, हमारी समझ में, वह है जो स्थिति को इस ढंग से खोलकर रखे कि प्रस्तुत तथ्यों के आधार पर पाठक अपने-आप निष्कर्ष निकालने में समर्थ हो सके। हम तथ्यों को संचित करते हैं, आलोच्य कृति में निहित उनके सामान्य अर्थ का विवेचन करते हैं, अपने जीवन की वास्तविकता से उनके सम्बंध की ओर संकेत करते हैं, अपने निष्कर्षों पर पहुंचने और अपनी शक्ति तथा योग्यता के अनुसार उन्हें सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। किन्तु यह सब हम इस ढंग से करते हैं कि पाठक धोखे में न पड़े, कि वह हमारे और लेखक के बीच निर्णय करने में पूर्णतया समर्थ हो सके।

◈ ◈ ◈

आलोचना, अदालत में मुकदमे-पेशी वाली आलोचना नहीं, वरन् सहज-साधारण आलोचना केवल एक इसी कारण से लाभप्रद है कि वह उन लोगों को, जो साहित्य पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं करते, लेखक के कृतित्व का सार-तत्व प्रदान करती है और ऐसा करके उन्हें इस योग्य बनाती है कि वे लेखक की कृतियों के चरित्र तथा महत्व को समझने में समर्थ हो सकें। एक बार लेखक को समझ लेने पर उसके बारे में एक राय बनते देर नहीं लगती। और लेखक, साहित्यिक विधि-विधान का निर्माण करनेवाले स्वनाम-धन्य आचार्यों की स्वीकृति के बिना ही, अपना पावना प्राप्त कर लेता है।

◈ ◈ ◈

हमारे जीवन का सत्य किसी रहस्यमय, आधिभौतिक शक्ति में नहीं, वरन् बाह्य जगत के हमारे ज्ञान में निहित है।

◈ ◈ ◈

जीवन साहित्य के मानों का अनुसरण नहीं करता, साहित्य के मान जीवन की धाराओं का अनुसरण करते हैं।

महान विभूतियां

इतिहास की महान विभूतियों का अध्ययन करते समय हम बहुधा एक ऐसे मोह में फंस जाते हैं जो हमारी दृष्टि को भरमा देता है ... महान विभूति के गुणों-अवगुणों के साथ हम न केवल उसके कार्यों का ही, वरन् इन कार्यों के नतीजों का भी सम्बंध जोड़ देते हैं जिन पर कि उस विभूति का कोई वश नही था । एक महान सेनापति युद्ध का सूत्रपात करता है । केवल एकदम सुनिश्चित और ऊपरी सम्भावनाओं का हिसाब उसने लगाया है । किन्तु युद्ध के दौरान में ऐसी अनुकूल परिस्थितियों का उदय होता है जिनकी उसने कोई पूर्व-कल्पना नहीं की थी । इन परिस्थितियों से लाभ उठाने में वह पूरी दक्षता का परिचय देता है । अब उसके बारे में लिखते समय हम सहज ही विश्वास कर लेते हैं कि उसने इन परिस्थितियों को पहले ही देख लिया था, उन्हें ध्यान में रखकर अपना नक्शा तैयार किया था और इस नक्शे के अनुसार ही उसने युद्ध को चलाया । इसी प्रकार एक शासक है । वह एक ऐसे कानून का निर्माण करता जो आगे चलकर, कोई दो सौ वर्ष बाद, समूचे राज्य की स्थिति पर भारी प्रभाव डालता है । अब, दो सौ वर्ष बाद के इस प्रभाव को भी हम उस शासक की प्रतिभा के साथ, उसकी अपूर्व दूरदर्शिता के साथ, सम्बद्ध कर देते हैं, अर्थात यह कि उसने पहले ही साफ-साफ देख लिया था कि आगे चलकर यह कानून कितना प्रभावशाली सिद्ध होगा। इस तरह के सभी मामलों में हम बहुधा कृत्यों और उनके परिणामों में भेद नहीं कर पाते, तथ्यों से जो संगत निष्कर्ष प्रकट होते हैं उन्हें हम तथ्यों के साथ सम्बद्ध कर देते हैं । काव्य के क्षेत्र में महान विभूतियों का मूल्यांकन भी पहले हम इसी प्रकार किया करते थे । उदाहरण के लिए कवि की तमाम कृतियों का विश्लेषण करने तथा उनकी मुख्य धारा को निश्चित करने के बाद कहा जाता था कि कवि ने अमुक-अमुक विषयों को उठाया और अपना समूचा जीवन उनका विकास करने में अर्पित कर दिया । किन्तु साहित्यिक विश्लेषण की यह पद्धति आज नहीं चलती । आज के आलोचक जानते हैं कि आदमी का चरित्र या उसका समूचा जीवन किसी पहले से तैयार चौखटे के अनुसार यहीं बनता । किसी कवि या कलाकार की कृतियां उसके जीवन की छापों को प्रतिबिम्बित करती हैं, और स्वयं उसके जीवन के तथ्य उसके चरित्र का निर्धारण करते हैं । कवि या कलाकार जीवन-

पर्यंत शुरू बचपन में ही निर्मित किसी नपे-तुले ढांचे के अनुसार आचरण नहीं करता रहता। वह घटनाओं की वास्तविक दिशा का, उनकी गति और प्रवाह का, अनुसरण करता है और अपने समय के समाज के गुणों तथा अवगुणों को, उस समाज के सुखों और दुखों को, अपनी कृतियों में चित्रित करता है।... दिव्य प्रेरणा, दिव्य चेतना, दिव्य दृष्टि, ये सब बाजीगरों की दुनिया की चीजें हैं। सच तो यह है कि मानव, चाहे वह कितनी ही सूझ-सूझ या प्रतिभा का धनी क्यों न हो, केवल सामने प्रस्तुत तथ्यों की नींव पर ही अपनी इमारत खड़ी करता है। सभी महान योजनाए, ऊंचे-से-ऊंचे आदर्श और मंसूबे, सामान्यतः, किसी तात्कालिक लक्ष्य की उपलब्धि से सम्बंध रखते हैं। केवल उस लक्ष्य की पूर्ति के बाद ही विचार आगे विकसित होता है, योजनाएं विस्तार प्राप्त करती हैं और पहलेवाला लक्ष्य अब एक सीढ़ी या आधार का रूप धारण कर लेता है। उसे पारकर एक नये लक्ष्य की ओर हम बढ़ते है। किन्तु हमारा लक्ष्य जितना ही अधिक दूर की चीज बनता जाता है, उतना ही अधिक अघट तथा काल्पनिक घटनाओं की हमे शरण लेनी पड़ती है, वास्तविक जगत से दूर कपोल-कल्पना के क्षेत्र मे हम प्रवेश करते हैं।

विषमता और संघर्ष

मानव और उसके चारों ओर के वातावरण के बीच वैषम्य केवल आज की ही चीज नही। हम उसे चिरकाल से देखते और काव्य में चित्रित करते आ रहे हैं। किन्तु पहले इस वैषम्य के कारणों की खोज या तो हम प्रकृति की रहस्यमय शक्तियों में करते थे या फिर मानव की द्वैधात्मक बनावट को इसका दोषी ठहराते थे। फलतः बाह्य प्रकृति और मानव के मानसिक द्वन्द्व का चित्रण भी हमारे काव्य में तदनुरूप होता था। किन्तु आज का लोक-मानस इससे कहीं सरल दृष्टिकोण का समर्थक बनता जा रहा है। वह अब लोगों में प्रकृति के वरदानों के वितरण पर, सामाजिक सम्बंधों की व्यवस्था पर, अपना ध्यान केन्द्रित करता है। जितने भी विज्ञान हैं, सभी आज समाज का रूप गढ़ने में जुटे हैं। काव्य भी (व्यापकतम अर्थों में) बहुत पहले से इस दिशा में प्रयत्नशील है। और उपन्यास, जो कि आधुनिक युग की देन है और काव्य रचना के जितने भी रूप हैं उन सबसे जिसका आज सर्वाधिक प्रचार है, वह तो सीधे इस आधुनिक मत के गर्भ से ही जन्मा है।

परोपजीवी

सच्चे अर्थों में शिक्षित लोगों की दृष्टि में न तो कोई कुलीन है और न कोई अकुलीन; न कोई राजा है, न कोई रंक; न कोई ब्राह्मण है, न कोई अछूत। वे केवल मेहनतकशों और परोपजीवियों को देखते हैं। परोपजीवियों को नष्ट करना और श्रम को ऊंचे स्तर पर उठाना, इतिहास की यही निरन्तर धारा है। कोई जाति कितनी सभ्य है, इसकी माप हम इस बात से कर सकते हैं कि वह श्रम के वास्तविक मूल्य के अनुसार उसका कितना सम्मान करती है। जिस हद तक परोपजीवीपन किसी जाति में फैला होता है, जिस हद तक परोपजीवीपन को वह जाति सम्भव रहने देती है, उसी हद तक उस जाति की सभ्यता को खरा या खोटा कहा जा सकता है। यह जाति के सभ्य होने या न होने का अचूक पैमाना है।...

परोपजीवीपन का अभी कहीं भी पूर्णतया विनाश नहीं हुआ है। किन्तु शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ वह हर कहीं क्रमशः कम होता जा रहा है। केवल अज्ञान में डूबी जातियां श्रम को घृणा की दृष्टि से देखती है। वे काम करने की तुलना में, लूट द्वारा चीजों को पाने को, अधिक सम्मानपूर्ण कार्य समझती है। प्राचीन संसार मे श्रम को कभी सम्यक् मान नही मिला। केवल कुछ ही कामों को समाज के ऊंचे वर्गों के लिए उपयुक्त समझा जाता था। बाकी सब काम दासों के लिए छोड़ दिये गये थे। प्राचीन संसार इस अवस्था से आगे नही बढ़ सका। स्वयं प्लेटो ने भी, अपने गणतंत्र में, दासों के एक वर्ग को रखना आवश्यक समझा ताकि ऊंचे वर्गों की सरकारी तथा सैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वे शारीरिक श्रम कर सकें। मध्ययुग में सामंतवाद की तो बात ही छोड़िए, श्रेष्ठ वर्ग के लोग ललित-कलाओं में निमग्न रहते थे; अर्थात उन्मुक्त लोगों के लिए केवल बौद्धिक क्रिया-कलाप उपयुक्त समझा जाता था। अन्य सभी कामों को हेय दृष्टि से देखा जाता था। आधुनिक इतिहास में सभी कामों को मान्यता प्राप्त है। किन्तु आज तक एक भी देश ऐसा नहीं हुआ जिसने श्रम को, उसकी उपयोगिता के अनुरूप, सम्मान प्रदान किया हो। बहुधा ऐसा होता है कि सर्वथा अनुत्पादक धंधों को तो सम्मान प्राप्त होता है, किन्तु अत्यंत उपयोगी धंधों के साथ उपेक्षा का बरताव किया जाता है। सच तो यह है कि परोपजीवीपन आज पूंजी तथा विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक उद्योगों की ओट में छिपा है, किन्तु है वह सब जगह मौजूद, और उन गरीब मेहनतकशों के शोषण और उत्पीड़न में दत्तचित्त है जिनके श्रम का समुचित मूल्य नहीं आंका जाता। स्पष्ट ही यह सब इसलिए है कि आम लोगों में ज्ञान का जिस मात्रा में प्रसार हुआ है, वह इतनी नगण्य है कि उसके सहारे वे चीजों के

सानुपातिक मूल्यों और उनके बीच के विभिन्न सम्बंधों को नहीं समझ पाते। परिणाम यह कि लूट को उसके वास्तविक नाम से तो वर्जित कर दिया गया, किन्तु परोपजीवी लोग विभिन्न प्रकार के कल्पित नामों की ओट लेकर जब उसे चलाते हैं तो आधुनिक जातियां, उसके असली चेहरे को पहचानने में भूल कर जाती हैं। यह सच है कि आज जिस पैमाने पर लूट चलती है, वह पहले जैसा नहीं है। आज के लुटेरों को प्राचीन की तुलना में बौना ही कहा जायगा। फिर भी बौने लुटेरे मौजूद हैं और प्रचुर परिमाण में वे लूट करते हैं। इस दृष्टि से ऐयाशी, बिला शक, सामाजिक अनैतिकता की एक प्रमुख अभिव्यक्ति का स्थान रखती है। किन्तु यह इसलिए कतई नहीं कि वह मानव को लिजबिज और निःसत्व बना देती है, उसके विचारों को उदात्त भावनाओं से हटाकर भौतिक सुखों में फंसा देती है। नहीं, इसलिए कतई नहीं — वरन सामाजिक अनैतिकता की सूचक वह इसलिए है कि वह समाज की उस अवस्था को व्यक्त करती है जिसमें बहुसंख्यक मेहनतकशों का खून और पसीना केवल एक परोपजीवी को बनाये रखने के लिए बहाया जाता है।

कलाकार का धर्म

यदि कोई कलाकृति किसी विचार या मत विशेष को व्यक्त करती है तो इसलिए नहीं कि उसका रचयिता उस मत विशेष को अपनी कृति में प्रतिपादित करने का बीड़ा उठाता है, वरन इसलिए कि वास्तविक जीवन के जिन तथ्यों की ओर उसका ध्यान गया, उन तथ्यों से, अनिवार्यतः, वह मत प्रकट होता है। उदाहरण के लिए, यूनानियों के धार्मिक सिद्धान्तों को लीजिए। सुकरात का दर्शन और अरिस्तोफेन के प्रहसन उसी एक सामान्य विचार को व्यक्त करते हैं—अर्थात प्राचीन विश्वासों के खोखलेपन को व्यक्त करते हैं। किन्तु इसका आशय यह नहीं कि अरिस्तोफेन ने इस लक्ष्य को सामने रखकर अपने प्रहसनों की रचना की। अपने समय के यूनानी नैतिक जीवन का जो चित्र वह खींचता है, उससे स्वयं, अपने-आप, बरबस, यह निष्कर्ष निकलता है। इतना ही नहीं। उसके प्रहसनों से यह भी असंदिग्ध रूप से प्रकट हो जाता है कि जिस काल में उसने अपने प्रहसनों की रचना की थी, उस काल में यूनानी देवकथाओं का प्राधान्य खत्म हो चुका था, अर्थात वह उसी निष्कर्ष पर हमें पहुंचाता है जिसे सुकरात और प्लेटो ने अपने दर्शन में सिद्ध किया था। यही,

सामान्यतः, काव्य-कृतियों और सैद्धान्तिक ग्रन्थों में, विचार को प्रकट करने के उनके ढंग में, अन्तर है। यह भेद कलाकार के सोचने का जो ढंग है उसके और विचारक के सोचने का जो ढंग होता है, उसके भेद को व्यक्त करता है। कलाकार के सोचने का ढंग ठोस होता है: वह घटनाओं और छवियों को कभी नजरन्दाज नहीं करता। विचारक हर चीज का सामान्यीकरण करता है, विशिष्ट लक्षणों को सामान्य स्थापना में लय कर देता है। किन्तु सच्चे ज्ञान और सच्चे काव्य में कोई आधारभूत अन्तर नहीं हो सकता। प्रतिभा मानवीय-प्रकृति का एक गुण है। परिणामतः, जिसकी प्रतिभा को हम स्वीकार करते हैं, उसकी प्रकृत आशा-आकांक्षाओं और प्रयासों को कम-व-बेश मात्रा में सशक्त तथा प्रशस्त होना ही चाहिए। इसलिए यह आवश्यक है कि उसकी कृतियां प्रकृति की इन स्वाभाविक तथा सच्ची आवश्यकताओं के अनुकूल हों, समाज की भावी व्यवस्था के बारे में लेखक की चेतना सुस्पष्ट और सजीव हो, सरल तथा संगत आदर्शों का वह हामी हो, वह झूठ की चाकरी के पास न फटके (इसलिए नहीं कि उसका मन नहीं चाहता, बल्कि इसलिए कि वह ऐसा कर नहीं सकता), अपनी प्रतिभा का उल्लंघन करने का फितूर उसके दिमाग में सवार न हो। वह इसमें सफल भी नहीं हो सकता — बालम की भांति जो इसरायल को श्राप देना चाहता था, लेकिन वरदान ही उसके मुंह से निकलता था; अनुप्राणित प्रतिभा के सामने उसकी इच्छा को हार माननी पड़ती है। और यदि वह कभी श्राप का उच्चारण करने मे सफल हो भी जाता है, तो उसमें वह आन्तरिक लगाव न होगा। वह क्षीण और उखड़ा हुआ-सा प्रकट होता है। उदाहरणों के लिए दूर जाने की जरूरत नहीं। स्वयं हमारा साहित्य इनसे भरा पड़ा है — सम्भवतः, अन्य सबसे अधिक। पुश्किन और गोगोल को ही लीजिए। सरकारी फरमान पर लिखी गयी पुश्किन की कविताएं कितनी बेजान और ठस मालूम होती हैं। इसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में गोगोल के सन्यासवादी प्रयत्न कितने हीन मालूम होते हैं। उनमें शुभाशाओं की कमी नहीं, किन्तु उनकी परकटी कल्पना और पंगु भावों में इतनी क्षमता नहीं कि फरमाइश के अनुसार कृत्रिम विषय-वस्तु को लेकर सच्चे अर्थों में काव्यात्मक कृतियों की रचना कर सकें। और इसमें आश्चर्य की बात नहीं। वास्तविकता, जिससे कवि अपनी सामग्री और प्रेरणा लेता है, अपना एक प्रकृत अर्थ रखती है। उस अर्थ के विकृत हो जाने पर पदार्थ का जीवन भी नष्ट हो जाता है। केवल उसका निर्जीव कंकाल मात्र बच रहता है। इस निर्जीव कंकाल के सिवा उस लेखक के हाथ और कुछ नहीं लग सकता जो जीवन की परिणतियों को उनके प्रकृत अर्थ से सम्बद्ध नहीं करता, वरन एक ऐसा अर्थ उन पर आरोपित करता है जो उनके तत्व के विरुद्ध होता है।

प्रकृत और अप्रकृत

दोषपूर्ण विकास के परिणामस्वरूप बहुधा लोग उन चीजों को भी सर्वथा सहज-स्वाभाविक और प्रकृत मान लेते हैं, जिनका तत्व वस्तुतः अत्यन्त बेतुके रूप में प्रकृति का उल्लंघन करता है। किन्तु समय के साथ-साथ मानव जाति अधिकाधिक मात्रा में कृत्रिम विकृतियों से अपने-आपको मुक्त करती जा रही है तथा प्रकृत मांगों और विचारों के अधिकाधिक निकट आ रही है। अब हम, पहले की भांति, प्रत्येक जंगल और झील में, सूरज, चांद और तारों में, रहस्य की शक्तियों का दर्शन नहीं करते।... किन्तु, इस सबके बावजूद, लोग अभी भी सभी प्रकृत आवश्यकताओं को नहीं समझते। वे अभी भी एकमत होकर नहीं कह सकते कि मानव के लिए यह प्रकृत है और यह नहीं। यह सामान्य सूत्र कि मानव स्वभावतः उन्नति के लिए प्रयास करता है, सभी मानते है। किन्तु मानव जाति के लिए उन्नति या भलाई क्या है ? इस प्रश्न के उठते ही मतभेद उठ खड़े होते हैं।... ऐसी दशा में क्या किया जाय, किस निर्णय पर हम पहुंचे ? हमारी समझ में, यह एक ऐसा मामला है जिसमें कोई भी एक निश्चित निर्णय देने का बीड़ा नहीं उठा सकता। हरेक को अधिकार होना चाहिए कि वह अपनी राय को सही समझे... और इसका अंतिम निर्णय जनता पर छोड़ दे। कारण, यह मामला जनता से सम्बंध रखता है, केवल उसके नाम पर ही हम अपनी मान्यताओ को प्रकट कर सकते हैं। हम जनता से कहते हैं... "लेखक ने यह चित्रित किया है, उसकी छवियों का, जिन्हें उसने मूर्त किया है, हमारी समझ में यह महत्व है, यह उनका उद्गम स्रोत है, यह उनका अर्थ है। हमारी समझ में इस सबका तुम्हारे जीवन और तुम्हारी नैतिकता से जीवित सम्बंध है। इन-इन आवश्यकताओं को उसने खोलकर रखा है। इनकी तुष्टि पर ही तुम्हारी खुशहाली निर्भर करती है।" अब आप ही बताइए कि जनता के सिवा इस बात का और कौन निपटारा कर सकता है कि हमारा यह सब कहना सही है या गलत। जनता ही इसका निपटारा कर सकती है, क्योंकि वही हमारी बहस का विषय है और उसी को हम सम्बोधित करते हैं। जनता का निर्णय ही हमारे लिए, और उस लेखक के लिए भी जिस पर हम विचार कर रहे हैं, समान रूप से महत्वपूर्ण और अन्तिम होगा।

आलोचक और कलाकार

कलाकार का लगाव सूक्ष्म विचारों और सामान्य सिद्धान्तों से नहीं होता। उसका लगाव होता है जीवित छवियों से, जिनमें विचार अपना मूर्त रूप धारण करते हैं। इन छवियों में कलाकार, अनजाने और अलक्षित रूप में, बहुत पहले ही उनके अर्थ को पकड़ने और व्यक्त करने में कृतकार्य हो जाता है। कभी-कभी ऐसा होता कि स्वयं कलाकार भी उनका अर्थ नहीं जानता। आलोचक का काम ठीक यहीं से शुरू होता है : वह कलाकार द्वारा अंकित छवियों में निहित अर्थ को स्पष्ट करता है। हां, कवि द्वारा प्रस्तुत छवियों का विश्लेषण करते समय आलोचक को उसके सैद्धान्तिक विचारों की जांच करने का कोई अधिकार नहीं होता। **मृत आत्माएं** (गोगोल) के प्रथम खण्ड में ऐसे अंशों का अभाव नहीं है जिनकी आत्मा **पत्रावली** की आत्मा से बहुत कुछ मिलती है। किन्तु इस कारण **मृत आत्माएं** को उसके सामान्य अर्थ से, जो गोगोल के सैद्धान्तिक विचारों का प्रबलता के साथ खंडन करता है, वंचित नहीं किया जा सकता। बेलिंस्की ने, अपनी आलोचनाओं के दौरान में, उस समय तक गोगोल के विचारों को नहीं छुआ जब तक कि कलाकार के रूप में गोगोल की आलोचना करते रहे। उन्होंने केवल तभी गोगोल पर आक्रमण किया जब वह नीति के उपदेशक का चोला धारण करते हैं, और पाठकों के सम्मुख सजीव कहानी लेकर नहीं, वरन उपदेशात्मक विचारों की पोथी लेकर प्रस्तुत होते हैं।

प्रगति

निस्संदेह व्यक्ति मानव जाति के विकास की दिशा को बदल नहीं सकते। समूची मानव जाति की प्रगति के इतिहास में स्तान्केविच और बेलिंस्की, बायरन और गेटे अपने-आप में विशेष महत्व नहीं रखते। यदि वे न होते तो उनके रिक्त स्थान की पूर्ति करने के लिए कोई दूसरे रंगमंच पर आ जाते। किसी एक युग विशेष में किसी धारा विशेष का प्रादुर्भाव इसलिए नहीं होता कि किसी दूसरे लोक से अवतरित प्रतिभा ने उसे जन्म दिया है। प्रतिभा उस धारा को व्यक्त करने में इसलिए समर्थ होती है कि उसके तत्व पहले से समाज में पनपते रहते हैं। यह बात दूसरी है कि यह प्रतिभा उन तत्वों को पकड़ने और उनका अनुसरण करने में अन्य लोगों से अधिक समर्थ होती है।

मानव का सहज-साधारण गुण

जिन आशा-आकांक्षाओं और कामनाओं को प्रायः हमारी कहानियों के नायकों से सम्बद्ध किया जाता है, उनमें सच पूछिए तो ऐसा कुछ भी नहीं होता जिसे मानव का सहज-साधरण, प्रकृत, गुण न कहा जा सके। किन्तु इन्हें नायकों से सम्बद्ध किया जाता है उन्हें साधारण लोगों से ऊपर उठाने के लिए। निस्संग और सहज भाव से देखने पर पता चलेगा कि स्वयं को बन्धनों से मुक्त करने की कामना और स्वतंत्रता के लिए उत्साह मानव की प्रकृति से वैसे ही अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध हैं जैसे कि खाने-पीने और प्रेम करने की भावना। एक समय था जब लोगों को भांति-भांति के प्राणायामी चमत्कारों से चकित किया जा सकता था। वे लोग जो सप्ताहों तक कुछ नहीं खाते थे और केवल पानी पर रहते थे, अपनी तमाम प्रकृत आवश्यकताओं का दमन करते थे। वे लोगों को चकित करने में सफल हो जाते थे और उन्हें नैतिक नायक मानकर लोग उनकी पूजा करते थे। किन्तु आज ऐसे गुणों अथवा चमत्कारों का हम वैसे ही कोई आदर नहीं करते जैसे कि उस मनुष्य का जो अपने-आपको किसी भी स्त्री से प्रेम करने की क्षमता से वंचित कर लेता है, अथवा अपनी इच्छा को इस हद तक कुचल डालता है कि निरा मिट्टी का माधो बनकर रह जाय।

सामाजिक आवश्यकता

सूक्ष्म सैद्धान्तिक स्तर पर इस मत से इन्कार नहीं किया जा सकता कि समाज में विचार बराबर आन्दोलित और परिवर्तित होते रहते हैं, गति और परिवर्तन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है, और इसलिए ऐसे लोगों की भी बराबर आवश्यकता रहती है जो इन विचारों का प्रचार करें। यह सब बिलकुल ठीक है। किन्तु हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि समाज के जीवन का लक्ष्य एकमात्र वाद-विवाद और विचारों का आदान-प्रदान नहीं है, केवल इसी में उसके जीवन की इति-श्री नहीं है। विचारों और उनके क्रमशः विकास का महत्व केवल इस बात में है कि प्रस्तुत तथ्यों से उनका जन्म होता है और वे यथार्थ वास्तविकता में सदा परिवर्तनों की पेशवाई करते हैं। परिस्थितियां समाज में एक आवश्यकता को जन्म देती हैं। इस आवश्यकता को सब स्वीकार करते हैं। इस आवश्यकता की आम स्वीकृति के बाद यह जरूरी है कि वस्तुस्थिति में परिवर्तन हो, ताकि सबके द्वारा स्वीकृत इस आवश्यकता को पूर्ण किया जा

सके। इस प्रकार किन्हीं विचारों तथा आकांक्षाओं की समाज द्वारा स्वीकृति के बाद ऐसे दौर का आना लाजिमी है जिसमें इन विचारों तथा आकांक्षाओं को अमल में उतारा जा सके। चिन्तन-मनन और वाद-विवाद के बाद क्रियाशीलता का श्रीगणेश होना चाहिए। ऐसी दशा में, प्रश्न किया जा सकता है : पिछले बीस-तीस वर्षों में हमारे समाज ने क्या किया है ? अब तक — कुछ नहीं। उसने मनन-अध्ययन किया, विकसित हुआ, रूदिनों (रूसी साहित्य के नायकों) के प्रवचनों को सुना, अपने विश्वासों के लिए संघर्ष के दौर में लगे आघातों पर उनके साथ सहानुभूति प्रकट की, कार्य-क्षेत्र में उतरने की तैयारी की, किन्तु किया कुछ नहीं !... ढेर की ढेर सुन्दर भावनाओं-कल्पनाओं से लोगों के हृदय-मस्तिष्क पट गये; समाज की वर्तमान व्यवस्था के बेतुकेपन और बेहूदगी का इतना पर्दाफाश किया गया कि पर्दाफाश करने के लिए और कुछ रह ही नहीं गया। प्रति वर्ष विशिष्ट, अपने-आपको "चारों ओर की वास्तविकता से ऊंचा समझनेवाले," लोगों की संख्या बढ़ने लगी। ऐसा मालूम होता था कि शीघ्र ही सब लोग वास्तविकता से ऊंचे उठ जायेंगे।... ऐसी दशा में, स्पष्ट ही, यह भावना कि हम सदा इसी प्रकार विषमता, सन्देह, वायवी दुःख और हवाई ढारस के दुरूह पथ पर चलते रहेंगे, कोई अर्थ नहीं रखती। अब तक यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि हमें ऐसे लोगों की आवश्यकता नहीं जो "हमें चारों ओर की वास्तविकता से ऊंचा उठानेवाले" हों। हमें ऐसे लोगों की आवश्यकता है जो स्वयं हमें वास्तविकता को ऊंचा उठाना सिखाएं, ताकि हम उसे उन संगत मानों के स्तर पर ला सकें जिन्हें सब मानते और स्वीकार करते हैं।

व्यक्ति का महत्व

इतिहास से व्यक्तियों का, यहां तक कि महान विभूतियों का भी, वहीं तक सम्बंध है जहां तक कि वे राष्ट्र अथवा मानव जाति के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। इसलिए हमारा, किसी महान व्यक्ति के जीवन-चरित्र-लेखक का, मुख्य कार्य यह प्रकट करना है कि उस महान व्यक्ति ने अपने समय में उपलब्ध साधनों का प्रयोग करने में किस प्रकार सफलता प्राप्त की, अपनी जाति के सजीव विकास के तत्वों को किस प्रकार वाणी प्रदान की।... महान ऐतिहासिक विभूतियों के महत्व की तुलना, वर्षा के महत्व से की जा सकती है, जो धरती को नया जीवन प्रदान करती है किन्तु जो, अन्ततः, धरती से आकाश में उठी भाप के बादलों से ही बरसती है।

कलाकार का दृष्टिकोण

प्रतिभाशाली कलाकार विविध प्रकार की कृतियों की रचना करता है। किन्तु इस विविधता के बावजूद उसकी सभी कृतियों में एक समान स्वर ध्वनित होता है जो न केवल उसकी प्रत्येक कृति को उसकी एक निजी विशिष्टता प्रदान करता है, वरन अन्य लेखकों की कृतियों से भिन्न उन्हें एक अलग स्थान प्रदान करता है। कला की टैकनीकल भाषा में इसे कलाकार का विश्व-दृष्टिकोण कहते हैं। किन्तु यह विश्व दृष्टिकोण ऐसा नहीं है जिसे किसी सुनिश्चित युक्तियुक्त प्रणाली अथवा सूक्ष्म चिन्तन का फल कहकर पेश किया जा सके। नहीं, ऐसा करने के सभी प्रयास निरर्थक होंगे। सच तो यह है कि नियमतः इस तरह की कोई चीज कलाकार के मस्तिष्क में नहीं होती। सूक्ष्म वाद-विवाद के दौरान में वह बहुधा ऐसे विचारों को व्यक्त करते देखा जाता है जो उन विचारों के ठीक विरोधी होते हैं जिन्हें वह अपनी कलात्मक रचना में उद्घाटित करता है। केवल संस्कारवश ग्रहण किये विचार अथवा कृत्रिम, जल्दी में गढ़ी हुई, सतही, युक्तियां यहां काम नहीं देतीं। कलाकार का वास्तविक विश्व-दृष्टिकोण, वह दृष्टिकोण जिसमें उसकी प्रतिभा का मूल निहित है, उन छवियों के सिवा और कही नहीं मिल सकता जिनकी वह रचना करता है।

पदार्थ विज्ञान

पदार्थ विज्ञान की नैतिक विज्ञान के साथ खिचड़ी नही पकायी जा सकती। मध्य युग के कीमियागरों की आज कतई दाल नही गल सकती। अपने भौतिक अनुसंधान को वे पदार्थों में हो रही क्रियाओं और परिवर्तनों की जानकारी प्राप्त करने में नहीं, वरन् पदार्थों की आत्मा के, उनकी रूह या प्राण-वायु के, अर्थात् हर उस चीज के जो अपार्थिव, आधिभौतिक और इन्द्रियबोधातीत होती थी, पीछे लपकने में लगाते थे।

पदार्थ विज्ञान के विकास ने हमारे युग में बोध प्राप्ति की एक नयी पद्धति को तैयार और पक्का किया है, एक ऐसी पद्धति को जो अनुभव पर आधारित है, जो अपने तमाम सैद्धान्तिक निष्कर्षों को तथ्यात्मक ज्ञान पर आधारित करती है, किन्हीं स्वप्निल मान्यताओं और धुंधले अनुमानों पर नहीं।

विस्मृति और पलायन

विस्मृति के गर्भ में लीन होना बुरा नहीं, खासतौर से कुछ-एक क्षण के लिए। किन्तु हमारे प्रतिभा सम्पन्न लोगों की प्रकृति में अलसाहट का कुछ ऐसा पुट मिला होता है कि वे विस्मृति के इन क्षणों को लम्बा खींचना चाहते हैं। हो सके तो वे इन क्षणों का कभी अन्त न होने दें। तन्द्रा में उनके नेत्र मुंदे रहते हैं और सत्य की आवाज को जी-भर कर कोसने में उन्हें जरा भी देर नहीं लगती, विशेषकर तब जब वह एकाएक उनके मधुर सपनों में खलल डालने की धृष्टता कर बैठती है! हमारे कतिपय रस-दीक्षित कलाकार विस्मृति के इन क्षणों के लिए बुरी तरह लालायित रहते हैं, ताकि वे शान्ति के साथ ब्रह्मानन्द का उपभोग कर सकें। किन्तु हमें स्वीकार करना चाहिए कि हम इस 'ब्रह्मानन्दी उन्माद' को कभी नहीं समझ सके। यह समझना तो हमारे लिए और भी कठिन है कि लोग कला को इस उन्माद का चाकर क्यों बनाना चाहते हैं। जीवन में जो घिनौना और असह्य है, उसे आप नहीं देखना चाहते। किन्तु साहित्य कोई रफूगर तो नहीं है जिसे आप अपने जीर्ण-शीर्ण लबादों की झिर्रियों और छेदों को रफू करने के लिए बाध्य करें? आप जानते हैं कि कोई आदमी खाली अपने दिमाग से किसी भी ऐसी भली या बुरी चीज को पैदा नहीं कर सकता जिसका पहले से कोई अस्तित्व न हो। भली या बुरी हर चीज को मनुष्य प्रकृति और वास्तविक जीवन से लेता है। कलाकार किस समय अपने सोचे हुए लक्ष्य को सबसे अधिक पूरा करता है? उस समय जब कि वह अपनी कृतियों में, बिना किसी चीज को छिपाये अथवा रंगे-चुने, अपने चारों ओर के जीवन का सच्चा तत्व प्रकट करता है, या उस समय जब वह, जान-बूझकर, अपनी सौन्दर्यशास्त्रीय नकचढ़ी अन्त:वृत्तियों के अनुसार, केवल दिव्य और आदर्श को चुनता है? और वह क्या चीज है जो कला को उदात्त बनाती है: कलकल करते झरने और ऊंची पहाड़ियों तथा नीची घाटियों की विभिन्नता का वर्णन, अथवा मानवीय जीवन की गति तथा विभिन्न सिद्धान्तों और हितों के द्वन्द्वों का चित्रण? और यदि जन-धारा के इन सेवकों को 'कीचड़ के जीव'

कहने में सुख मिलता है तो ऐसा ही सही। हम इसके खिलाफ कुछ न कहेंगे। आपके प्रति सच्ची कृतज्ञता और आपकी रसवादी बुद्धि के प्रति अपना अचरज प्रकट करने के साथ-साथ हमें आपको जर्मन आचार्य के (जरा सोचिए तो, आचार्य के, और सो भी जर्मन आचार्य के) समकक्ष रखने में भी कोई उज्र न होगा।...

और यदि साहित्यिक प्रयासों से कोई व्यावहारिक तथा हितकर नतीजे नहीं उत्पन्न होते, या वे अत्यंत नगण्य नतीजे होते हैं, तो इसके लिए किसे दोषी ठहराया जायगा ? क्या आप इसका दोष साहित्य के सिर मढ़ना चाहेंगे ? वैसे ही आप उस पर कर्कशता का आरोप लगाते हैं, कहते हैं कि वह अपने पथ से भटक रहा है, आदि-आदि। अपनी पूरी शक्ति से — जितनी भी उसकी सामर्थ्य है — वह प्रयास कर रहा है, किन्तु आप उसकी गतिविधि से सन्तुष्ट नहीं हैं। उस पर यह कहकर कि वह अति क्षीण है आप रोक लगाना चाहते हैं। आपके लिए अधिक — कहीं अधिक — संगत तो यह होता कि कहते कि व्यावहारिक नतीजों की उपलब्धि सहज बनाने के लिए साहित्यिक कृतियों का स्वर और तेज होना चाहिए। यदि आप ऐसा करते तो फिर आपके और हमारे बीच कोई विवाद न उठता, हालांकि, उस दशा में भी, साहित्य के द्वारा नैतिक उद्धार की दिशा में असाधारण सफलता का आश्वासन देने का हम साहस न करते। कारण, साहित्य के हाथ में ऐसी कोई प्रभुत्वपूर्ण शक्ति अथवा दंडास्त्र नहीं है जिसके बल पर वह हर चीज को अपना अनुगामी बना सके। वह अल्पसंख्यक शिक्षित वर्ग की मान्यताओं और उसकी आशा-आकांक्षाओं को व्यक्त करता है, और इस अल्पसंख्यक शिक्षित वर्ग तक ही उसकी पहुंच है। आम जनता पर उसका प्रभाव अप्रत्यक्ष पड़ता है, सो भी बहुत धीरे-धीरे। इसके अलावा, अपनी प्रकृति मात्र से साहित्य किसी प्रभावकारी शक्ति का रूप नहीं धारण कर सकता, किसी कानून के खिलाफ नैतिक अथवा भौतिक कदम उठाने का पर्याय नहीं बन सकता। हिंसा और जब्र से वह घृणा करता है और शान्त, निरावेग तथा निर्बाध विचार-विनिमय को पसन्द करता है। वह प्रश्न उठाता है, सभी पहलुओं से उन्हें देखता है, तथ्यों से काम लेता है और विचारों तथा भावनाओं को उत्प्रेरित करता है। किन्तु वह किसी अमली सत्ता का दावा नहीं करता। यहां हमें अपने समय के एक प्रसिद्ध फ्रेंच लेखक की याद आ रही है। अपनी कृति के आरम्भ में किसी महत्वपूर्ण प्रश्न को उठाते समय उसने लिखा था : "मुझसे पूछा जा सकता है कि तुम कोतवाल हो या काजी जो राजनीति बघारने चले हो ? इसके उत्तर में मैं कहूंगा : मेरे लिखने का ठीक यही कारण है कि मैं इन दोनों में से एक भी नहीं हूं। यदि मैं कोतवाल या काजी होता तो यह बताने में समय नष्ट न करता कि क्या करना चाहिए; या

तो मैं चीज को ठीक करता नजर आता या फिर चुप रहता ..." अच्छा हो कि लेखक की इस भूमिका को, उसके ध्येय को, हम समझ लें और अपने मन में यह बैठा लें कि शब्द उसके अस्त्र हैं, कि वह समझाने-बुझाने से काम लेता है, भौतिक बल से नहीं ! ...

आध्यात्मिक प्रेम

एक जमाना था जब स्त्री के आध्यामिक प्रेमी की प्रशंसा में गीत गाये जाते थे, पाठिकाएं आध्यात्मिक प्रेमियों की वेदना पर आंसू बहाती थीं और उदासी में डूबे पाठक लम्बी उसासें भरते थे। फिर वह समय आया जब लोगों ने अध्यात्मिक प्रेम पर हंसना और उसकी खिल्लियां उड़ाना शुरू किया। कोई ऐसा न रहा जो अध्यात्मिक विरह की वेदना पर सहानुभूति में आंसुओं का अर्घ्य चढ़ाता। इसके बाद आध्यात्मिक प्रेम के झोंके ने जाने किस परिस्थिति के कारण दूसरी ओर, सामाजिक समस्याओं की ओर, मुंह किया। पूरे बीस साल तक, ऐसी कहानियों और लघुकथाओं की बाढ़ आई जिनमें **सार्वजनिक कार्यों के लिए आध्यात्मिक प्रेम के,** अध्यात्मिक उदारतावाद और नेक-नीयती के, प्रशंसा-गीत गाये जाते रहे। इस आध्यात्मिक प्रेम को लेकर भी खूब आंसू बहाये गये, रातों की नींद खराब की गयी। लेकिन अच्छा हो कि अब हम अपने होश दुरुस्त करें। यदि स्त्री के लिए अध्यात्मिक प्रेम हास्यास्पद है तो अपने देश के लिए, जनता और सत्य आदि के लिए, और भी अधिक, कई हजार गुना अधिक, हास्यास्पद कहा जायगा।

◇ ◇ ◇

आलोचना की वह पद्धति जो बताती है कि लेखक को **क्या करना चाहिए,** कि उसने किस हद तक वह किया है जो उसे **करना चाहिए था,** उस लेखक के लिए जिसने अभी लिखना शुरू किया है, जिसमें प्रतिभा के अंकुर दिखाई देते हैं, किन्तु जो एकदम गलत रास्ते पर जा रहा है, भले ही कुछ उपयोगी हो सके। फलतः उसे सलाह और पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता है। किन्तु, सामान्यतः, इस तरह की आलोचना अरुचिकर होती है। कारण, वह आलोचक को ऐसे विद्याधरी स्कूल-मास्टर का रूप प्रदान कर देती है जो किसी स्कूली लड़के की परीक्षा लेने चला हो !

पदार्थ और चेतना

मानव के लिए यह स्वाभाविक और अनिवार्य है कि चेतना के जागृत होते ही पदार्थों के वैषम्य की ओर उसका ध्यान जाये। जब तक हम पदार्थों के बीच भेद को लक्षित नहीं कर पाते, तब तक अचेतनावस्था में रहते हैं। चेतना का पहला कार्य यह होता है कि हम अपने-आपको दुनिया के अन्य पदार्थों से अलग पहचानना शुरू करते हैं। इस पहचान में, जो हम अपने और बाह्य पदार्थों के बीच करते हैं, एक भिन्नता निहित है। जितना ही अधिक हम अपने स्वतंत्र अस्तित्व को हृदयंगम करते हैं, उतनी ही प्रबलता से यह भिन्नता अपने-आपको प्रत्यक्ष करती है। अपने-आपको अन्य सब चीजों से अलग समझने का यह क्रम, अनिवार्यतः, इस नतीजे पर पहुंचाता है कि हमें खुद अपने बल पर जीने और कार्य करने का अधिकार है, कि हम एक अलग और स्वतंत्र जीवन बिताने के अधिकारी हैं। किन्तु, वास्तव में होता यह है कि हमें पग-पग पर निरन्तर अनुल्लंघनीय बाधाओं का सामना करना पड़ता है जिनके कारण हम अपनी आकांक्षाओं को पूरा नहीं कर पाते। परिणाम यह कि हम इन बाधाओं के सामने एक प्रकार की पंगुता का अनुभव करते हैं। प्रकृति के सार्वभौम नियमों का अभी कोई स्पष्ट परिचय न होने के कारण हम अपने-आपको उसके विरुद्ध पाते हैं। हमें ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रकृति में कुछ ऐसी शक्तियां हैं जो मानव से शत्रुता रखती हैं और मानव को उनसे निरन्तर संघर्ष करना है। क्रमशः यह स्थिति काली शक्तियों की धारणा को जन्म देती है जो मानव को निरन्तर हानि पहुंचाती रहती हैं। किन्तु, यह सब होने पर भी, मानव, जो प्रकृति से अलग अपने एक स्वतंत्र अस्तित्व को पहचान चुका है, ऐसी ताकतों को भी बरबस देखता है जो उसके लिए हितकर हैं। फलतः काली शक्तियों की धारणा के साथ-साथ, उज्वल शक्तियों की धारणा का भी उदय होता है जो उसकी रक्षा करती हैं। यहीं से उस द्वैतवाद का प्रारम्भ होता है जो सभी प्राकृतिक धर्मों का आधार है: विष्णु और शिव, हरमुज्द और अरिमन, बेलबोग और चेर्नबोग (प्रकाश का देवता और अंधकार का देवता) आदि।

ये सबके सब प्रकृति की शक्तियों के सम्बंध में मानव की मूल धारणाओं के साकार रूप हैं। आगे चलकर जैसे-जैसे मानव का विकास होता गया, वैसे-वैसे सामान्य विचार खंडित होकर अनेकानेक पृथक विचारों में विभाजित होते गये; प्रकृति की प्रत्येक प्रक्रिया या घटना के साथ वे जुड़ गये। इस प्रकार प्रकाश और अंधकार के बीच द्वन्द्व की धारणा का उदय हुआ, गर्मी और सर्दी, समुद्र और धरती (धरती और देवताओं के स्वर्ग लोक) के बीच द्वन्द्व की कल्पना ने जन्म लिया। अन्त में मानव बाह्य जगत से अपने अन्तर की ओर अभिमुख हुआ और क्रमशः उसने देखा कि स्वयं उसका अन्तर भी अनेक विरोधी वृत्तियों के द्वन्द्व का क्षेत्र बना हुआ है। किन्तु अभी वह इतना समर्थ नहीं हुआ था कि सार्वभौम एकता तथा सामंजस्य के विचार को पकड़ सके। फलतः, उसने अपने अन्तर मे भी, बाह्य जगत की ही भांति, परस्पर विरोधी सिद्धान्तों की अवतारणा की। इसके लिए उसने इन सिद्धान्तों के उद्गम की खोज शुरू की। किन्तु, चूंकि बाह्य जगत की छापों के प्रभाव से वह अभी पूर्णतया मुक्त नहीं हुआ था, इसलिए उसने इनका सम्बंध भी प्रकृति की उन वैमनस्यपूर्ण शक्तियों के साथ सहज ही जोड़ दिया, जिन्हें वह पहले लक्षित कर चुका था। अपने अन्तर में कुछ अस्पष्ट स्फुरणों का — बाह्य जगत के प्रति एक तरह के असन्तोष का — अनुभव करने पर उसने सहज ही निष्कर्ष निकाला कि उसके भीतर किसी विशिष्ट जीव का आवास है जो उससे अधिक श्रेष्ठ है, जिसका परिचय उसने अपनी बाह्य गतिविधियों के दौरान मे प्राप्त किया था। फलतः, वह इस नतीजे पर पहुंचा कि मानव के भीतर दो विरोधी जीव निवास करते हैं, एक वह जिसका उदय नेक तत्व से, आन्तरिक और ऊंचे तत्व से हुआ है, और दूसरा वह जिसका उदय बदी के तत्व से, बाह्य, स्थूल और काली शक्ति से, हुआ है। इस प्रकार निराशा में डूबी उस धारणा का श्रीगणेश हुआ जो शरीर को आत्मा का जेलखाना समझती है। यह धारणा ईसाई धर्म को अपनाने से पहले भी लोगों में मौजूद थी। ईसाई धर्म के अन्तर्गत यह प्राचीन द्वैतवाद क्रमशः लुप्त हो चला और, एक हद तक, लोगों के मस्तिष्क पर उसका प्रभाव पहले जितना गहरा नहीं रहा। किन्तु मध्य-युग के शास्त्रवादी पुरानी धारणाओं को इतनी आसानी से छोड़नेवाले नहीं थे। उन्होंने द्वैतवाद का दामन नहीं छोड़ा और द्वन्द्वात्मक विवाद की ऐसी प्रणाली का सूत्रपात किया, जिसका कोई अन्त नहीं था। और सचमुच, यदि हर चीज इतनी सरल, सहज-स्वाभाविक और सामंजस्यपूर्ण मान ली जाय, तो फिर विवाद में क्या रस रह जायगा? इससे तो कहीं अच्छा है कि दो सिद्धान्तों, दो शक्तियों, दो विरोधी स्थापनाओं को मंच पर लाकर खड़ा किया जाय, — किताबी पाण्डित्य के पूरे ताम-झाम से लैस, निठल्ली द्वन्द्वात्मकता के अखाड़े में पटेबाजी के लिए तैयार। शास्त्रवादियों

ने मामान्य चेतना को पीछे धकेल दिया। यदि ये न रहे होते तो इस ग्राम चेतना ने बहुत पहले ही इस सत्य को ग्रहण कर लिया होता कि ज्ञान का ग्रन्तिम लक्ष्य संघर्ष नहीं वरन साम्य है, वैमनस्य नहीं वरन एकता है। मध्य-युग के इन शास्त्रवादियों ने ग्रात्मा को शरीर से पृथक करने का प्रयास किया ग्रौर उसे एक ऐसी सत्ता के रूप में देखा जो शरीर से पूर्णतया ग्रलग थी। इसके बाद उन्होंने कल्पना भिड़ानी शुरू की कि वह किस प्रकार शरीर के साथ ग्रा मिली। प्राचीन काल में ग्ररस्तू ने भी इस समस्या में सिर खपाया था। किन्तु उसे—कहने की ग्रावश्यकता नहीं—इस मामले में क्षम्य समझा जा सकता है। वह शरीर की एक स्थूल पदार्थ के रूप में कल्पना करता था। ग्रात्मा को भी वह पदार्थ ही समझता था, किन्तु बहुत ही उत्कृष्ट पदार्थ। फलतः उसने जो प्रश्न उठाया उसे, एक हद तक, रासायनिक ग्रर्थ में समझा जा सकता है। इससे उसकी वह उत्कृष्ट स्थापना भी स्पष्ट हो जाती है, जिसके द्वारा वह शरीर तथा ग्रात्मा के सम्बंध की व्याख्या करता था। मध्य युग के शास्त्रवादी ग्ररस्तू की इस स्थापना को स्वीकार नहीं कर मकते थे कि ग्रात्मा भी पदार्थ है। वे सब ईसा के मतावलम्बी थे ग्रौर उनमें से ग्रधिकांश पादरियों-पुरोहितों के वर्ग से सम्बंध रखते थे। वे सब के सब ग्रात्मा की ग्राधि-भौतिकता ग्रौर ग्रमरता में विश्वास करते थे। फिर भी उन्होंने उस प्रश्न को उठाया जिसे केवल ग्ररस्तू की स्थापना के ग्राधार पर ही उठाया जा सकता था। ग्रात्मा का शरीर के साथ मिलन कैसे हुग्रा ?—उन्होंने प्रश्न किया। शरीर के किस भाग में उसका ग्रावास है ? शरीर को जब कोई कष्ट होता है तो वे कौन से उपादान हैं जिनके द्वारा ग्रात्मा को उसकी सूचना मिलती है ? विचार ग्रौर हमारी इच्छित ग्राकांक्षाएं किस माध्यम से शरीर तक पहुंचती हैं ?... इन प्रश्नों को उठाते समय इन शास्त्रवादियों ने एक बार भी यह नहीं सोचा कि भाव-शरीर ग्रात्मा को भोंड़े रूप से शरीर में प्रवेश कराकर वे स्वयं निकृष्ट भौतिक-वाद में फंस रहे हैं। यदि ग्रात्मा शरीर के किसी एक निश्चित भाग में ग्रावास ग्रहण किये है तो कहने की ग्रावश्यकता नहीं, वह एक पदार्थ है। ग्रौर यदि वह किन्हीं बाह्य सूत्रों के द्वारा शरीर से ग्राकर मिलती है, तब भी ग्रनिवार्यतः इसी एक परिणाम पर पहुंचना पड़ता है। इतना ही नहीं, इस गलती के साथ एक ग्रौर गलती ग्रा जुड़ी—बहु-देवतावाद से सम्बंध की गलती। गलती यह कि शरीर बदी की शक्ति के प्रभाव में रहता है, जिसके माध्यम से दुनिया-भर की नापाक चीजें ग्रात्मा में जाती हैं। इस विश्वास का ही यह परिणाम था कि हम मध्ययुग के सन्यासियों को धार्मिक उन्माद की ग्रवस्था में ग्रपने शरीर को यंत्रणा देने के मामले में भारतीय सन्यासियों से भी ग्रागे बढ़ा हुग्रा देखते हैं। मांसलता का शमन करने के उनके प्रयास उन्माद की जिन सीमाग्रों को छूते थे,

उनसे हम सभी परिचित हैं। हम यह भी जानते हैं कि जाने कितनी 'डायनों' और कितने अभागे लोगों को केवल इसलिए जलाकर मार डाला गया कि उनके शरीर में शैतान का निवास घोषित कर दिया गया था।...

हमारे आज के युग में पदार्थ विज्ञान की सफलताओं ने पहले के कतिपय दुराग्रहों को नष्ट कर दिया है। फलतः मानव की आत्मिक तथा ऐहिक गति-विधियों के बीच सम्बंध को अब हम कहीं अधिक सहज तथा सूक्ष्म रूप से देख और समझ सकते हैं। नृविज्ञान ने, प्रथमतः, यह सिद्ध कर दिया है कि तमाम भौतिक गुणों से वंचित एक शून्य आत्मा के रूप में अपने-आपको देखने या आत्मा की प्रकृति का सुनिश्चित रूप से पता लगाने के हमारे तमाम प्रयास न तो कभी सफल हुए हैं, और न कभी सफल हो सकते हैं। विज्ञान ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि मानव के सारे क्रिया-कलापों को हम केवल उसी हद तक लक्षित कर सकते हैं जहां तक कि ऐहिक, प्रत्यक्ष, रूपों में वे अपने-आपको मूर्त करते हैं। इसी प्रकार आत्मा की अथ और इति का तब तक हम कुछ पता नहीं पा सकते जब तक कि देह के माध्यम से वह अपने-आपको व्यक्त नहीं करती। साथ ही अब हम यह भी जानते हैं कि जिन सहज पदार्थों के योग से हमारा यह शरीर बना है, अपने-आपमें उनका कोई स्वतंत्र जीवन नहीं है, कि हमारी प्राणमयता किसी एक, इस या उस, पदार्थ पर नहीं वरन सब पदार्थों के यौगिक मेल पर निर्भर है। इस तथ्यपूर्ण ज्ञान के बाद उस कूढ़, अंध-पदार्थवाद की दाल गलना असम्भव हो गया जिसके अनुसार आत्मा अत्यन्त उत्कृष्ट, वायवी पदार्थ का एक सूक्ष्म कण थी। मानव के चेतन-पदार्थीय जीवन सम्बंधी प्रश्नों को अब उस रूप में उठाना सम्भव नहीं रहा जिस रूप में कि प्राचीन काल के सर्वेश्वरवादी दार्शनिक और मध्यकाल के शास्त्रवादी उठाते थे। इसके लिए अब अधिक व्यापक तथा अधिक स्पष्ट दृष्टिकोण की आवश्यकता थी। अब इस बात की आवश्यकता थी कि उन चीजों में ऐक्य लाया जाय जिन्हें जान-बूझकर एक-दूसरे से अलग कर दिया गया था। अब यह जरूरी हो गया था कि जिन्हें अब तक पृथक (असम्बद्ध) अंशों के रूप में देखा जाता था, उनका सामान्यीकरण किया जाय। प्रकट अंतर्विरोधों को एकता की भूमि प्रदानकर आधुनिक विज्ञान ने महान सेवा की। इस बात का श्रेय एकमात्र आधुनिक विज्ञान को प्राप्त है कि उसने मानव की शास्त्रीय द्वैतात्मक कल्पना को रद्दकर एक सम्पूर्ण, अविभाज्य इकाई के रूप में, काया और आत्मा को एक-दूसरे से अलग किये बिना, उसका अध्ययन शुरू किया। उसने आत्मा को उस शक्ति के रूप में देखा जो मानव की समूची देह में व्याप्त है और उसे अनुप्राणित करती है। इस नयी धारणा से लैस विज्ञान अब देह की गतिविधि को आत्मा की गतिविधि से या आत्मा की गतिविधि को देह की गतिविधि से अलग करके नहीं देखता। उल्टे देह की

प्रत्येक, यहां तक कि छोटी से छोटी, प्रक्रिया में भी वह उसी शक्ति को गतिशील देखता है जो अलक्षित रूप में, रक्त के निर्माण और भोजन को पचाने आदि में भाग लेती है, और स्नायुविक प्रणाली के क्रियाकलाप में, मुख्य रूप से मस्तिष्क के क्रियाकलाप में, चेतना की ऊंचाइयों का स्पर्श करती है। सच्चे विज्ञान का यह दृष्टिकोण, जो अपनी सादगी और जीवन के तथ्यों की अपनी सच्ची व्याख्याओं के कारण उल्लेखनीय है, ईसाई धर्म की इस उच्चतम मान्यता के अनुकूल है कि मानव का व्यक्तित्व अपनी स्वतंत्र सत्ता रखता है। इतना ही नहीं। वह एक अन्य दृष्टि से इससे भी श्रेष्ठ है। बिना किसी सन्देह के वह इस सत्य को स्थापित करता है कि आत्मा किन्हीं बाह्य सूत्रों के द्वारा देह से संयुक्त नहीं होती, कि देह में उसका समावेश कोई सांयोगिक या आकस्मिक घटना नहीं है, कि वह देह के किसी एक कोने में निवास नहीं करती वरन, अनिवार्यतः दृढ और अटूट रूप में, उसके साथ लय होती है, उसमें व्याप्त होती है, कि उसके बिना (प्रेरणादायी इस शक्ति के बिना) सजीव मानव देह की, या मानव देह के बिना उसकी, कल्पना तक करना असम्भव है।

इस दृष्टिकोण को एक बार आत्मसात कर लेने पर यह समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि मानव के विकास के लिए अच्छा स्वास्थ्य क्यों परम आवश्यक है। यदि सारी आत्मिक गतिविधि, अनिवार्यतः, बाह्य प्रतीकों के रूप में अपने-आपको व्यक्त करती है, और यदि हमारे शरीर के अंग, अनिवार्यतः, उसकी अभिव्यक्तियों के साधन हैं, तो यह साफ है कि आत्मिक गतिविधि के समुचित प्रकाशन के लिए समुचित रूप मे विकसित स्वस्थ अंगों का होना आवश्यक है।...

मानव को एक पूर्ण इकाई के रूप में, एक अविभाज्य जीवधारी के रूप मे, एक सच्चे व्यक्ति के रूप में, ग्रहण करने से वे कतिपय विरोध खत्म हो जाते हैं जिनका मानव की देह और आत्मा की गतिविधि के बीच शास्त्रवादियों ने आविष्कार किया था। और सचमुच, यदि मानव का अंगच्छेद करके देखा जाय तो वह हमें कभी न मिल सकनेवाले विरोधी तत्त्वों का पुंज दिखाई देगा। मानव ही क्यों, यदि अन्य चीजों को भी इसी तरह खण्ड-खण्ड करके देखा जाय तो उनका भी यही हाल होगा।

हमारे अनुराग-विराग

पदार्थ विज्ञान की प्रगति और उपलब्धियों की सहायता से मानव जीवधारी ने देह की प्रकृति के बारे में अधिक सही जानकारी प्राप्त की। अब यह स्पष्ट हो गया कि मानव की देह और आत्मा के बीच भेद-रेखा खींचने के तमाम प्रयास बेकार होंगे, और यह कि मानव ज्ञान कभी इसमें सफल नहीं हो सकेगा। आन्तरिक गतिविधि के अस्तित्व का, जब तक कि वह भौतिक रूप में व्यक्त न हो, हम कभी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। भौतिक अभिव्यक्ति शरीर द्वारा होती है। क्या किसी पदार्थ को उसके गुणों-विशिष्टताओं से अलग किया जा सकता है? उसके सारे गुणों तथा विशिष्टताओं को शून्य करने के बाद पदार्थ का रह ही क्या जाता है? फिर, मानव को एक संयुक्त, अविभाज्य जीवधारी मानकर चलने पर मानव की प्रकृति में प्रकट विरोधों-विषमताओं की हम सर्वथा सरल और युक्तियुक्त व्याख्या कर सकते हैं। अब, मिसाल के लिए, यह तथ्य कि कभी-कभी आंखों के खुली रहने पर भी हम नहीं देखते, एकदम सहज ही समझ में आ जाता है। देखना दृश्य पदार्थ का हमारी आंखों में केवल प्रतिबिम्ब मात्र नहीं है। इसके लिए, मुख्यतः यह आवश्यक है कि चक्ष-स्नायुओं में उत्तेजना पैदा हो और वे पदार्थ की छाप को मस्तिष्क तक पहुंचाएं। देखने की क्रिया का केन्द्र, हमारे अन्य सभी ऐन्द्रिक बोधों की भांति, मस्तिष्क में है। मिसाल के लिए, अगर चक्षु-स्नायु को अलग कर दिया जाय तो पदार्थ पहले की भांति ही आंखों में प्रतिबिम्बित होता रहेगा, किन्तु हम उसे देख नहीं सकेंगे। सो, इस तथ्य मे अचरज की बात जरा भी नहीं है कि जब हमारा मस्तिष्क किन्हीं महत्वपूर्ण विचारों में लीन होता है, अर्थात जब मस्तिष्क अपने काम में अत्यधिक व्यस्त होता है, तब चक्ष-स्नायु का क्षीण-उत्तेजन, अन्य स्थिति में कारगर होने पर भी, अब नाकाफी होता है और मस्तिष्क को अपना भान कराने में समर्थ नहीं हो पाता। किन्तु स्नायु के उत्तेजन के काफी प्रबल होते ही हमारा ध्यान विचारों के हटकर तुरन्त उस पदार्थ की ओर आकर्षित हो जाता है जो चक्षु-स्नायु में उत्तेजन पैदा करता है।...

इन प्रारम्भिक बातों को समझने के बाद हमारा विश्वास है कि पाठकों को अब इस बात से कोई उलझन नहीं होनी चाहिए कि शरीर के स्वस्थ विकास से हमारा क्या आशय है और हम क्यों इसे इतना महत्व देते हैं। आम तौर से आजकल कवियों के आसमानी उद्‌गारों को दोहराने और आज के युग की व्यावहारिक वृत्ति तथा भौतिकवाद की शिकायत करने का एक चलन-सा हो गया है। लेकिन हमारी समझ में जिस तरह का एकांगी तथा अदूरदर्शी भाववाद आज प्रचलित है, उसके खिलाफ पदार्थ और शरीरविज्ञान-शास्त्रियों का शिकायत करना कहीं अधिक वाजिब होगा। और सचमुच जरा कल्पना तो कीजिए कि शारीरिक श्रम को हम कितनी हेय दृष्टि से देखते हैं और शारीरिक शक्ति से काम लेने के प्रति कितना कम ध्यान देते हैं। यह सच है कि हम सौंदर्य, चपलता और कमनीयता के प्रेमी हैं। किन्तु हमारा यह प्रेम भी बहुतकर शरीर के सहज-सरल तथा स्वस्थ विकास के प्रति हमारी घृणा को ही व्यक्त करता है। हमें पीतवर्ण, 'वेदना में पगा', चेहरा अच्छा लगता है — ऐसा जो स्वप्निल और बोधातीत भाव लिये हो। क्षीण, कनक-छरी-सी कटि और चीनी गुड़िया ऐसे नन्हे हाथ-पांवों का तो कुछ कहना ही नही। इसमें कोई खास गुण नहीं और यह जोर देकर नहीं कहा जा सकता कि बड़ा पांव छोटे से ज्यादा सुन्दर होता है। किन्तु फिर भी हमारी यह पसंद जो मानव शरीर के सभी अंगों के सानुपातिक, सुडौल, विकास की मान्यता पर नहीं, वरन अनुत्तरदायी वृत्ति पर आधारित है — एकांगी तथा मिथ्या भाववाद का प्रमाण है। मांस-पेशियों से पुष्ट सुदृढ़ बांह और टांगें, जैसा कि सभी जानते हैं, हमें शारीरिक श्रम की याद दिलाती हैं, और यही वह चीज है जिससे हम दूर रहना चाहते हैं। इसके प्रतिकूल नन्हे, कोमल, कमनीय हाथ प्रकट करते हैं कि श्रीमती या श्रीमान का, जिसके भी वे हाथ हों, कड़े श्रम से वास्ता नहीं है; कोमल अछुवाया काम वे करते हैं और ठीक यही वह चीज है जो हमें प्रिय लगती है।...

मानव मस्तिष्क के स्वस्थ तथा समुचित विकास के लिए कुछ विशेष शर्तों का होना आवश्यक है। मानव देह में अन्य कोई भी एक अंग इतना स्वतंत्र अस्तित्व नही रखता जितना कि मस्तिष्क। वह अन्य हिस्सों से कोई लगाव नही रखता। किन्तु, साथ ही, हमारे शरीर का अन्य कोई अंग उतने घनिष्ट रूप में उसके अन्य अंगों से गुथा नहीं होता जितना कि मस्तिष्क। विस्तार में न जाकर केवल इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि गति और संवेदन के स्नायु उसी में केन्द्रित रहते हैं। फलतः, मस्तिष्क के कार्य-कलाप और शरीर की सामान्य स्थिति के बीच कितना घनिष्ठ सम्बंध है, यह सहज ही समझा जा सकता है। स्पष्ट ही देह में होनेवाला प्रत्येक परिवर्तन, अनिवार्यतः, मस्तिष्क को भी प्रभावित करता है—यदि सोचने वाले हिस्से को नहीं तो उसके संवेदन

वाले हिस्से को प्रभावित करना है। ... अकाट्य तथ्यों से यह स्पष्ट है कि सही चिन्तन और विचारों की अभिव्यक्ति के लिए स्वस्थ और सम्यक रूप से विकसित मस्तिष्क का होना अनिवार्य है। परिणामतः, यदि हम चाहते हैं कि हमारे अस्तित्व का मानसिक पक्ष विकसित हो, तो यह आवश्यक है कि हम मस्तिष्क के भौतिक विकास की उपेक्षा न करें। ...

मानव की आत्मिक शक्ति-सामर्थ्य के प्राचीन (और आज दिन भी सामान्य रूप में स्वीकृत) विभाजन को यदि हम मान लें तो हमें न केवल मस्तिष्क पर ही विचार करना चाहिए, वरन इच्छा और भावनाओं पर भी ध्यान देना चाहिए। भावनाओं का आम तौर से हृदय से सम्बंध जोड़ा जाता है और उन्हे मस्तिष्क से सर्वथा अलग, पूर्णतया भिन्न समझा जाता है। किन्तु इस मत का कोई पुष्ट आधार नहीं है। कायदे से देखा जाय तो हृदय का भावनाओं और आवेगों से जरा भी सम्बंध नहीं होता। वह सब जिसे हम हृदय से सम्बद्ध करने के आदी हैं, मस्तिष्क से सम्बंध रखता है; मस्तिष्क में ही वह उदित होता है। किन्तु हृदय के कुछ खास स्नायु होते हैं जो मस्तिष्क से हृदय तक जाते हैं, और शरीर के अन्य सभी स्नायुओं से सम्बंधित हैं। फलतः, प्रत्येक उत्तेजन, वह चाहे कितना ही हल्का हो और चाहे कहीं भी और किसी कारण भी क्यों न घटित हुआ हो, हृदय के स्नायुओं को उसका पता मस्तिष्क या 'मेरु-रज्जु' द्वारा तुरत चल जाता है और हृदय तेजी से धड़कने लगता है। और चूंकि मस्तिष्क के स्नायुओं के स्पन्दन की तुलना में हृदय की धड़कन से अवगत होना हमारे लिए आसान होता है, इसलिए सभी सम्वेदनों को हम हृदय से सम्बद्ध कर लेते हैं। यह तथ्य कि सभी भावावेशों का प्राथमिक स्थान मस्तिष्क होता है, निम्न स्थिति से भी सहज ही सिद्ध किया जा सकता है: वाह्य जगत के पदार्थों द्वारा प्रभावों के परिणाम-स्वरूप हममें भावोद्वेगों का उदय होता है। किन्तु इन प्रभावों का चेत हमें केवल तभी होता है जब वे हमारे मस्तिष्क का स्पर्श करते हैं। अन्यथा हम चीजों को देखते हुए भी नहीं देखते। विच्छिन्न स्नायु किसी भी समय सहसा झनझना सकते हैं, किन्तु हमें किसी बेचैनी का अनुभव नहीं होगा क्योंकि स्नायु मस्तिष्क से अलग किये हुए हैं। इसलिए यह प्रत्यक्ष है कि हृदय में प्रतिबिम्बित होने से पहले प्रत्येक भावावेग का विचार के रूप में, प्रभाव की चेतना के रूप में, मस्तिष्क में प्रकट होना आवश्यक है। इसके बाद ही वह शरीर के अन्य भागों को छूता है और हृदय की धड़कनों के रूप में व्यक्त होता है। ... इस प्रकार, हमारे भले और बुरे भाव, हमारे अनुराग और विराग, पूर्णतया हमारे मस्तिष्क के विकास की मात्रा तथा उसके स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य पर निर्भर होते हैं। ... मस्तिष्क को स्वस्थ तथा पुष्ट विचारों-मान्यताओं से सज्जित किये बिना **हृदय को प्रभावित** करने के हमारे कतिपत

आचार्यों के प्रयास कतई कारगर सिद्ध नहीं हो सकते .... यह जोरों के साथ कहा जा सकता है कि केवल सुदृढ़ विश्वासों तथा चिन्तन की सुविकसित क्षमता पर आधारित सहृदयता और भावों की उच्चता को ही पूर्णतया विश्वसनीय तथा सच्चे अर्थों में उपयोगी कहा जा सकता है।

यथार्थवादी आलोचक

आलोचना की यथार्थवादी पद्धति लेखक पर अन्य लोगों के विचार थोपने की परिपाटी की अनुमति नहीं देती। आलोचक अपने सामने उन पात्रों-चरित्रों को देखता है जिनकी लेखक ने रचना की है, उन कृत्यों पर विचार करता है जो कि इन पात्रों-चरित्रों के साथ सम्बद्ध हैं। यथार्थवादी आलोचक बताता है कि इन पात्रों-चरित्रों ने उस पर क्या प्रभाव डाला है। लेखक को केवल उसी हालत में वह दोषी ठहरा सकता है जबकि ये प्रभाव अपूर्ण, अस्पष्ट और संदिग्ध हों। वह केवल युक्तियों के सहारे कभी भी इस तरह के नतीजे नहीं निकालता : यह व्यक्ति सनातनी अंधविश्वासों का भक्त है, किन्तु लेखक ने उसे (मूढ़ाग्रही के रूप में चित्रित करने की बात छोड़िए) एक सदाशय व्यक्ति के रूप में चित्रित किया है; इससे सिद्ध होता है कि लेखक सदाशयता की ओट में मूढ़ाग्रहों का प्रचार करना चाहता है। नहीं, यथार्थवादी आलोचक ऐसा नहीं करता। सर्वप्रथम वह इस तथ्य को पकड़ता है कि लेखक ने एक सदाशयपूर्ण व्यक्ति का चित्रण किया है जिसे मूर्ख किसी तरह भी नहीं कहा जा सकता किन्तु जो सनातनी पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं है। इसके बाद आलोचक इस बात की जांच करता है कि इस तरह के व्यक्ति का होना सम्भव है या नहीं, कि वह अस्तित्व रख सकता है या नहीं। यह मालूम कर चुकने के बाद कि ऐसा व्यक्ति वास्तविकता के प्रतिकूल नहीं है, आलोचक उन कारणों के बारे में अपना मत प्रकट करता है जिनसे इस तरह के 'टाइप' का उदय हुआ। आलोच्य कृति के रचयिता ने भी यदि इन कारणों को उभार कर रखा है तो आलोचक उनसे काम लेता है और लेखक के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। किन्तु यदि लेखक ने इन कारणों को नहीं प्रकट किया है तो आलोचक हाथ में खंग लेकर उसकी गरदन पर सवार नहीं हो जाता, उससे जवाब-तलब नहीं करता कि उसके अस्तित्व के कारणों को बताये बिना तुमने इस तरह के 'टाइप' का चित्रण क्यों किया ?

जीवन का व्यतिक्रम

रूसी जीवन अब उस मंजिल पर पहुंच चुका है जहां नेक और सम्मानित, किन्तु बोदे और रीढ़-विहीन व्यक्ति, जन-चेतना को सन्तुष्ट नहीं कर पाते और पूर्णतया बेकार समझे जाने लगते हैं। ऐसे लोगों की आवश्यकता का अब जोरों से अनुभव किया जा रहा है जिनका चरित्र चाहे बहुत सुन्दर न भी हो, किन्तु जो अधिक क्रियाशील और प्राणवान अवश्य हों। ऐसा होना अनिवार्य भी है। सत्य की (और जो सही है उसकी) चेतना और सहज बुद्धि जब भी लोगों के मस्तिष्क में चेतती है, वे यह मांग किये बिना नहीं रह सकते कि केवल कल्पना के लोक में ही (जिसमें कि अतीत के नेक नायक सदा अद्भुत प्रतिभा का परिचय देते रहे है) उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना आवश्यक नहीं हैं, बल्कि उसका जीवन में प्रयोग करना, उसे सक्रिय रूप देना भी आवश्यक है।... आज की सबसे बड़ी समस्या यही है कि हमारे देश में सामाजिक जीवन का नया दौर जिस प्रकार के चरित्र की मांग कर रहा है, उसका निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति कैसे सम्भव हो। हमारे लेखकों ने इस समस्या को हल करने का प्रयत्न किया, किन्तु उनके प्रयास, कमो-बेश रूप में, सदा असफल रहे। उनकी असफलता का कारण, हमारी समझ में, यह था कि उन्होंने केवल बौद्धिक प्रक्रिया से काम लिया। इस नतीजे पर पहुंचने के बाद कि रूसी जीवन इस तरह के चरित्र की टोह में है, उन्होंने अपनी धारणा के अनुसार उसे गढ़ना शुरू किया। शौर्य की उनकी जो सामान्य कल्पना थी और रूसी शौर्य की जो धारणा उन्होंने अपने मस्तिष्क में बना रखी थी, उसके अनुसार उन्होंने इस चरित्र को गढ़ना शुरू कर दिया। इस प्रकार, मिसाल के लिए, कालिनोविच जैसे चरित्र का साहित्य में उदय हुआ जो किसी सार्वजनिक कार्य के लिए दस हजार रूबल के लिए एक सौदागर की दाढ़ी को लगभग नोच डालता है, बन्दी-गृह में वृद्ध सामन्त को यंत्रणा देता है और अपने को समृद्ध बनाने के लिए उसकी प्रेमिका से विवाह कर लेता है। इस प्रकार स्तोलज जैसे अद्भुत कारिन्दे का उदय हुआ जो जागीर का बहुत ही बढ़िया इन्तजाम करता है और एक

दयालु अफसर की मदद से जाली नोटों को आनन-फानन नष्ट कर डालता है। इसी प्रकार इन्सारोव का उदय हुआ जो एक जर्मन को उठाकर पानी में फेंक देता है, अपने मित्र की हवेली में बिना पैसे दिये रहने से इन्कार करता है और जिस लड़की से वह प्रेम (!!) करता था उससे विवाह तक करने के साहस का परिचय देता है। इसी प्रकार राजकुमारी जिनैदा का उदय हुआ जो, स्त्री वेष में, पेचोरिन और नोज्दरेव के बीच की चीज मालूम होती है... ये सभी सुदृढ़ और सुसम्बद्ध चरित्रों की संज्ञा से विभूषित हुए। किन्तु इन सबको भी, पिछले वर्ष, अनानी याकोवलेव ने मात कर दिया।... आपको शायद मालूम हो, अनानी याकोवलेव को जब यह मालूम हुआ कि उसकी गैरहाजिरी में स्थानिक श्रीमन्त से उसकी पत्नी के बच्चा हुआ है, तो उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। किन्तु श्रीमन्त से जवाब-तलब करते समय, जहां वह अत्यन्त अदब का परिचय देता है, वहां श्रीमन्त के अरदली के साथ वह अत्यन्त अशिष्टता का व्यवहार करता है, अपनी पत्नी को पीटता है और, अन्त में, एकदम आपे से बाहर हो बच्चे का सिर दीवार पर दे मारता है। इसके बाद वह जंगल की राह नापता है, किन्तु भूख से तंग आकर न्याय के हाथों में आत्म-समर्पण कर देता है। स्पष्ट ही, वह एक सबल चरित्र है, किन्तु नैतिक या साहित्यिक अर्थ में नहीं, वरन शारीरिक अर्थ में। यह वह सबलता नहीं, जो रूसी जीवन के अप्रकट स्रोतों से निकलकर ऊपर आ रही है। न ही यह वह ढंग है जिससे उसे अपने-आपको मूर्त्त करना चाहिए। यही कारण है कि हम यह समझ सकने में असमर्थ हैं कि **कटु भाग्य** को अन्य कतिपय उपन्यासों, प्रहसनों और नाटकों से — जो दास-प्रथा के कुप्रभावों, सरकारी अफसरों की मूर्खताओं और रूसी दहकान के औघड़पन को खोलकर रखते हैं — किस प्रकार ऊंचा स्थान दिया जा सकता है ? यदि आप इसे, बिना किन्ही खास दावों के, यूजीन स्यु की भयानक कृतियों के ढंग की केवल एक अति-नाटकीय रचना के रूप में पेश करते हैं तो हमें कोई आपत्ति न होगी। सच तो यह है कि हमें इससे प्रसन्नता ही होगा। आखिर यह, एन. ल्वोव और काउण्ट सोलोगुब द्वारा प्रस्तुत भावुक दृश्यों से कहीं बेहतर है, जिनमें 'कर्तव्य' और 'प्रतिष्ठा' की भावनाओं को बुरी तरह तोड़ा-तरोड़ा और विकृत किया गया है। किन्तु यदि आप इस नाटक के लिए किसी ऊंचे तथा अधिक व्यापक महत्व का दावा करते हैं तो सम्भवतः हम आपसे सहमत नहीं हो सकते। हमें ऐसा लगता है कि अनानी याकोवलेव—भीरु अपवाद के रूप में न लेकर यदि हम उसे एक 'टाइप' के रूप में लें तो—रूसी चरित्र और रूसी जीवन का व्यतिक्रम है। अनानी जैसे चरित्र, और रूसी चेगलोव जैसे श्रीमन्त, रूसी जीवन की उपज नहीं हैं। दो में से एक ही बात हो सकती है : अनानी वास्तव में यदि सबल चरित्र है, जैसा कि लेखक का

दावा है, तब या तो उसे दुख के स्रोत पर अपना क्रोध उतारना चाहिए था, या फिर यह सोचकर कि इस संसार में दोषी कौन नहीं है, अपने क्रोध को नियंत्रण में रखना चाहिए था। इस तरह की परिणतियां रूसी जीवन में निरन्तर दिखाई देती हैं। सबल चरित्र जब विरोधी परिस्थितियों से टकराते हैं, तो वे इन दो में से एक, यह या वह, रास्ता अपनाते हैं। किन्तु यदि वह एक कायर और निरर्थक गुंडा है—जैसा कि वह वस्तुतः प्रकट होता है—तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि नाटक में जिस स्थिति की उसके लिए रचना की गयी है, वह उसके लिए सर्वथा अनुपयुक्त है, और उसे उस ढंग से जरा भी विकसित नहीं किया गया है जिससे कि उसके आवश्यक तत्व साफ तौर से उभर पाते। किन्तु इस नाटक को छोड़िए। वह अभी से विस्मृति के गर्भ में डूबने लगा है,—**प्रिन्स लुपोविस्की** तथा अन्य सदाशयपूर्ण, किन्तु कृत्रिम, रचनाओं की भांति ही जो खास जातीय टाइप पेश करने का दावा करती थीं। हमने जो यहां क्षण भर के लिए उसका उल्लेख किया, सो केवल इसलिए कि लोगों ने अनानी को विशुद्ध रूसी टाइप समझा, जबकि हमें लगा कि जिसे कुछ लेखक 'व्यापक रूसी प्रकृति' कहते हैं, यह उसका विकृत रूप मात्र है। हमारी समझ में, **कटु भाग्य** के लेखक ने अनजाने ही उन 'कामेडियों' जैसी रचना करने में सफलता प्राप्त की है जो पीटर महान के आदेश से राज्य-विरोधियों के खिलाफ लिखी जाती थीं। सभी जानते हैं कि इन 'कामेडियों' में राज्य विरोधियों को सदा वन्य और बेतुके राक्षसों के रूप में पेश किया जाता था। कुछ इस तरह: "देखो न, कैसे हैं ये! इनके सिद्धान्त पर कभी भरोसा किया जा सकता है? क्या इनकी मांगों को कभी पूरा किया जा सकता है?" **कटु भाग्य** भी अपने चरित्र अनानी याकोवलेव के द्वारा, जैसा कि वह उसमें चित्रित है, कहता प्रतीत होता है: "देखो न आत्मगौरव की भावना के जरा सा भी उदय होते ही रूसी चरित्र किस प्रकार आपे से बाहर, एकदम बेकाबू, हो जाता है!" और वे आलोचक जो **कटु भाग्य** को व्यापक महत्व से सज्जित करते और अनानी को एक टाइप समझते हैं, उस लान्छन को फैलाने में भागीदार बनते हैं जिसका कि लेखक अनजान में ही दोषी बनता है!

कला की कसौटी

किसी लेखक या साहित्यिक कृति को जांचने की हमारी कसौटी यह है कि वह लेखक या साहित्यिक कृति युग और जाति विशेष की प्रकृत आकांक्षाओं को किस हद तक व्यक्त करने में सहायक होती है। मानव जाति की इन आकांक्षाओं को, यदि हम सरल ढंग से कहें तो, निम्न शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है : "सब सुख से जीवन बितायें।" किन्तु स्पष्ट ही, इस लक्ष्य की प्रकृति कुछ ऐसी है कि हम सुख खोजने जाते हैं और दुःख बटोर कर लाते हैं। शुरू में लोगों के साथ ऐसा ही हुआ। उन्होंने अपने-आपको सुखी बनाने की कोशिश की। अपने-आपको सुखी बनाने की यह कोशिश दूसरों के सुख पर आघात करने लगी। तब तक मानव को जीवन का वह ढंग नहीं मालूम था जिससे दूसरों के सुख में आड़े आये बिना अपने जीवन का जुगाड़ किया जा सकता हो। नाचने में जो दक्ष नहीं होते, उनके साथ भी ऐसा ही होता है। वे अपने शरीर की हरकतों को नहीं साध पाते और, नाचघर के काफी बड़ा होने पर भी, अन्य 'जोड़ों' से निरन्तर टकराते रहते हैं। किन्तु अन्य कुछ, इस कला में अधिक दक्ष हो जाने पर, नाचघर के छोटा और नाचनेवालों की संख्या के अधिक होने पर भी, अन्य नाचनेवालों से नहीं टकराते। किन्तु जब तक वे इतनी दक्षता नहीं प्राप्त करते, तब तक यह सम्भव नहीं होता कि अधिक संख्या में 'जोड़ों' को नाचने की छूट दी जा सके। निरन्तर टकराव से बचने के लिए यह जरूरी है कि कुछ नाचनेवाले प्रतीक्षा करें, और जो सबसे कम दक्ष हैं, हो सकता है उन्हें नाचने का खयाल एकदम छोड़ ताश की मेज पर बैठकर दांव लगाना और, शायद, गहरी रकम तक हारना पड़े।...

जीवन की व्यवस्था के मामले में भी ऐसा ही हुआ। जो अधिक दक्ष होते हैं दोनों हाथों से खुशहाली बटोरना जारी रखते हैं। बाकी की वहां गुजर नहीं होती। वे ऐसे शगलों में हाथ डाल बैठते हैं जो कि उन्हें नहीं करने चाहिए, और फिर वे हारते है। एकदम शुरू में ही जीवन की मेहफिल गड़बड़ा गयी। बहुतों ने आनन्द के लिए आना बन्द कर दिया। बहुतों के मन में यह बैठ गया

कि आनन्द केवल उन लोगों के लिए है जो नाचने में दक्ष हैं। और जो नाचने में दक्ष थे, अपना पूरा जुगाड़ बैठाने के बाद, अपनी प्रकृत वृत्तियों को खुलकर छूट देने, अधिकाधिक स्थान और आनन्द के अधिकाधिक साधनों पर अपना-अपना दखल जमाने में जुटे रहे। आखिर, उन्हें अनुपात का कोई ध्यान नहीं रहा, उन्होंने इतने पांव फैलाये कि बाकी सब कोने में पहुंच गये, और अपनी कुर्मियों को छोड़ इधर-उधर उछलने लगे — इसलिए नहीं कि नाचने की उनकी कामना अत्यधिक प्रबल हो उठी थी, वरन केवल इसलिए कि अब उनके लिए बैठे रहना भी अत्यन्त असुविधाजनक हो गया था। इस उछल-कूद के दौरान में इन लोगों में से कुछ ने अनुभव किया कि थिरकना ऐसी कोई मुश्किल बात नहीं। सो उन्होंने 'आनन्दियों' के दल में शामिल होने की कोशिश की। लेकिन जो प्रमुख नाचनेवाले थे, उन्होंने गहरी अमित्रतापूर्ण नजर से इन लोगों की ओर देखा, मानो ये लोग बे-बुलाये मेहमान हों और इन्हें अपनी बिरादरी मे शामिल करने से इन्कार कर दिया। इस पर संघर्ष का सूत्रपात हुआ। एक सुदीर्घ संघर्ष चला। इस संघर्ष ने अनेक रूप धारण किये — ऐसे जो नवागन्तुकों के प्रतिकूल बैठते थे। उनका उपहास किया गया। उन्हें धकेला गया। मेले का खर्च उनके सिर पर लादा गया, उनके जोड़ीदारों और उनकी बीवियों को छीना गया, और अन्त में, उन्हें एकदम महफिल से निकाल बाहर किया गया। लेकिन लोगों की हालत जितनी ही बदतर होती गयी, उतनी ही प्रबलता के साथ उन्होंने चीजों को बदलने, उन्हें बेहतर बनाने की आवश्यकता का अनुभव किया। अभाव मांगों का मुंह बन्द नहीं करता, वह उन्हें और मुंहजोर बनने के लिए उकसाता है। भूख को केवल भोजन से ही शान्त किया जा सकता है। सो वह संघर्ष आज दिन भी चल रहा है। प्राकृतिक आकांक्षाएं, कभी दबी हुई-सी और कभी और भी जोरों के साथ प्रकट होती हुई, आज दिन भी तुष्टि के लिए प्रयत्नशील हैं। इसी में इतिहास का तत्व निहित है।

सभी युगों में और मानवीय गति-विधि के प्रत्येक क्षेत्र में स्वस्थ, सबल और प्रकृति-प्रदत्त प्रतिभा के धनी ऐसे लोगों का उदय होता रहा है जिन्होंने अत्यन्त सशक्त और दुर्निवार रूप में प्राकृतिक आकांक्षाओं को वाणी प्रदान की है। अपने काम के क्षेत्र विशेष मे उन्हें बहुधा अपनी टेक के लिए शहीद होना पड़ा। किन्तु बिना कोई चिन्ह छोड़े वे कभी इस दुनिया से विदा नहीं हुए, वे कभी एकाकी नहीं रहे। सार्वजनिक गतिविधि के क्षेत्र में उन्होंने पार्टी की नींव डाली, शुद्ध विज्ञान के क्षेत्र में उन्होंने आविष्कारों को जन्म दिया, कला और साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने 'धाराओं' की स्थापना की। यहां हम उन सक्रिय लोगों का जिक्र नहीं करेंगे जो सार्वजनिक क्षेत्र में काम करते हैं (इतिहास मे उनकी भूमिका समझने में अब किसी को कठिनाई नहीं होनी चाहिए)। अब

जो चीज हम कहना चाहते हैं वह यह है कि विज्ञान और साहित्य की महान प्रतिभाओं ने सदा उस गुण का परिचय दिया है जिसे हम प्रकृत, सजीव प्रयासों-आकांक्षाओं की सामर्थ्य कहते हैं। इन प्रकृत प्रयासों-आकांक्षाओं के विकृत हो जाने पर दुनिया तथा मानव के बारे में लोगों में अनेक मिथ्या धारणाओं तथा खुराफातों ने सिर उठाया और लोक-कल्याण में बाधक सिद्ध हुई। दूर जाने की आवश्यकता नहीं। दुनिया-भर के जादू-टोनों, जगत की सृष्टि के बारे में अंध-विश्वासों, और ओझा-स्यानों के आकाश-पाताली गूढ़ मंत्रों के कुप्रभावों की ओर इशारा करना काफी होगा। शुद्ध विज्ञान के लोग, जिन्होंने खगोल या पदार्थ विज्ञान सम्बंधी आविष्कार या नये दार्शनिक सिद्धांतों की स्थापना की, मस्तिष्क की स्वस्थ तथा प्रकृत मांगों को उन्होंने सुना और उन कृत्रिम आल-जालों से मानव जाति को मुक्त करने में योग दिया जो सबकी भलाई की व्यवस्था करने के मार्ग में बाधक थे। इनमें से प्रत्येक के साथ मानव जाति ने कदम बढाया, सही और प्रकृत धारणाओं को ग्रहण करने की दिशा में वह आगे बढ़ी, और इन डगों के महत्व से ही हम इनमें से प्रत्येक के निजी गुणों को जांच सकते हैं। असली विज्ञान के क्षेत्र में काम करनेवालों, टेकनीशियनों, मिकेनिकों, कृषिविदों, डाक्टरों आदि पर भी यही बात लागू होती है। कला और साहित्य के क्षेत्र में भी हम ऐसा ही देखते हैं।

प्रकृत सिद्धान्तों की ओर, जिनसे कि हम भटक गये थे, मानव-जाति की प्रगति में साहित्य की भूमिका, उसका योगदान, अब तक अप्रधान ही रहा है। अपनी प्रकृति मात्र से भी साहित्य कोई सक्रिय तत्व नहीं है। क्या करना चाहिए, वह केवल इसकी कल्पना कर सकता है। या फिर जो किया जा रहा है या किया जा चुका है, उसका चित्रण करना है। पहली दशा में, अर्थात उस समय जब वह कल्पना करता है कि भविष्य में क्या होना चाहिए, वह अपनी सामग्री शुद्ध विज्ञान से लेता है और उसी को आधार बनाता है। दूसरी हालत में, वह जीवन के तथ्यों से अपनी सामग्री ग्रहण करता है। इस प्रकार, सामान्यतः, साहित्य एक सहायक शक्ति का काम करता है। प्रचार में उसका महत्व निहित है, और उसका गुण इस बात पर निर्भर करता है कि किस चीज का और किस ढंग से वह प्रचार अथवा प्रतिपादन करता है। प्रसंगतः, साहित्य के क्षेत्र में अब तक केवल गिने-चुने लोग ही ऐसे हुए हैं जो अपने प्रचार में, मानव-जाति का भला करने के क्षेत्र में, इतने ऊंचे उठ जाते हैं, उन ऊंचाइयों को छूते हैं, जिन तक पहुंचना असली या शुद्ध विज्ञान के लोगों के बस की बात नहीं होती। प्रकृति-प्रदत्त प्रचुर प्रतिभा के धनी इन लेखकों ने, मानो अपनी सहज चेतना से, उन प्रकृत धारणाओं, उन आशा-आकांक्षाओं को हृदयंगम करने में सफलता प्राप्त की, जिन्हें समसामयिक दार्शनिक

केवल शुद्ध विज्ञान की मदद से पाने का प्रयास कर रहे थे। इतना ही नहीं, जिन सत्यों का दार्शनिकों ने केवल सिद्धान्त रूप मे अवगहन किया, उन्हें इन प्रतिभाशाली लेखकों ने वास्तविक जीवन में पकड़ा और क्रियाशील स्थिति में उनका चित्रण किया। इस प्रकार, युग विशेष में मानव चेतना के एक उच्चतर स्तर का प्रतिनिधित्व करते और इस ऊंचे स्तर से लोगों तथा प्रकृति के जीवन का अवलोकन तथा अंकन करते हुए साहित्य की सहायक भूमिका को उन्होंने ऊपर उठाया और इतिहास के उन नेताओं की पांतों में स्थान प्राप्त किया जिन्हें मानव-जाति को अपनी सप्राण शक्ति तथा प्रकृत-वृत्तियों का अत्यन्त सुस्पष्टता के साथ भान कराने का श्रेय प्राप्त है। शेक्सपीयर ऐसी ही प्रतिभा का धनी था। उसके अनेक नाटकों को मानव हृदय की गहनता में अन्वेषणों की संज्ञा दी जा सकती है। अपनी साहित्यिक क्रियाशीलता से उसने लोगों की सामान्य चतना को ऊंचा उठाकर वहां पहुचा दिया, जहां उमसे पहले अन्य कोई नही पहुच सका था और केवल गिने-चुने दार्शनिक जिसकी ओर दूर से ही संकेत करने में समर्थ हो सके थे। इसीलिए शेक्सपीयर का इतना सार्वभौम महत्व है। वह मानवीय विकास की अनेक नयी मंजिलों का प्रतीक है। किन्तु शेक्सपीयर को सामान्य लेखकों की पांत में नहीं रखा जा सकता। वह उनसे ऊपर है। दान्ते, गेटे और बायरन के नामों को बहुधा उसके समकक्ष रखा जाता है। किन्तु इनमें से एक भी मानव विकास के एक नये दौर को उतनी पूर्णता के साथ मूर्त नहीं करता जितना शेक्सपीयर। नहीं, इन्हें इसका श्रेय देना कठिन है। जहां तक साधारण प्रतिभाओं का सम्बंध है, उनके लिए यही बहुत है कि वे सहायक भूमिका का निर्वाह करें। उनमे इतनी क्षमता नहीं होती कि दुनिया को कोई ऐसी नयी चीज दे सकें जो पहले अन्य किसी ने न दी हो। समूची मानव-जाति के विकास के नये पथों का संकेत करना तो दूर, उनमें इतनी क्षमता भी नहीं होती कि स्वीकृत पथों पर ही मानवजाति को आगे बढ़ाने में योग दे सकें। ऐसी दशा में यह आवश्यक है कि वे किन्हीं खास तथा निश्चित लक्ष्यों तक अपने-आपको सीमित रखें। जनता की चेतना को उन आविष्कारों से अवगत करायें जिन्हें मानव-जाति के अग्रणी नेताओं ने उपलब्ध किया है। वे लोगों को उन चीजों से अवगत करायें जो उनके भीतर अभी अस्पष्ट और अनिश्चित रूप में मौजूद हैं। लेकिन लेखक का काम, नियमतः, अपने विचारों को दार्शनिकों से उधार लेकर उनका अपनी कृतियों में समावेश करना नहीं है। नहीं, दार्शनिक और लेखक दोनों स्वतंत्र रूप से काम करते हैं। दोनों एक ही स्थल से आरम्भ करते हैं,—अर्थात वास्तविक जीवन से। किन्तु काम करने के ढंग दोनों के भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिए विचारक यह लक्ष्य करने पर कि लोग अपनी मौजूदा स्थिति से असन्तुष्ट हैं, सभी तथ्यों का विश्लेषण और

नये सिद्धान्तों का पता लगाने का प्रयत्न करता है जो आसन्न मांगों को सन्तुष्ट कर सकें। किन्तु लेखक-कवि, इसी तरह के असन्तोष को लक्ष्य कर, उसका इतना सजीव चित्र अंकित करता है कि वह सबका ध्यान खींच लेता है, और लोगों को अपने-आप यह ज्ञात हो जाता है कि उन्हें क्या करना चाहिए। दोनों ही सूरतों में परिणाम समान होता है। दोनों ही समान महत्व रखते हैं। किन्तु साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि कुछ अपवादों को छोड़कर लेखकों में सामान्यतः एक पिछड़ापन होता है। इसके प्रतिकूल विचारक अस्पष्ट से अस्पष्ट चिन्ह को पकड़ने और विचार का उसकी अन्तिम परिणति तक अनु-सरण करते हुए बहुधा जीवनक्रम का उसके भ्रूण रूप में पता लगा लेते हैं। किन्तु लेखक, बहुधा कम ग्रहणशील होते हैं। उदित होते हुए आन्दोलनों को वे केवल तभी देख और चित्रित कर पाते हैं जब वे काफी प्रत्यक्ष और सबल रूप धारण कर लेते हैं। इसके साथ-साथ उनमें एक दूसरा गुण होता है। वह यह कि जनता उन्हें ज्यादा अच्छी तरह समझ लेती है। वे बैरोमीटर की तरह हैं, जिसे कोई भी इस्तेमाल कर सकता है—जब कि खगोलविदों की गणनाओं तथा भविष्यवाणियों की कोई चिन्ता नही करना चाहता। इस प्रकार, हमारी समझ में, साहित्य का मुख्य कार्य जीवन की प्रक्रिया को स्पष्ट करना है, और इसीलिए हम उसमें एक गुण की मांग करते हैं जिसके बिना उसका कोई महत्व नहीं रह जाता। वह गुण है सचाई। जीवन के तथ्य, जिनसे कि लेखक आरम्भ करता है और जिन्हें वह हमारे सामने रखता है, सचाई के साथ पेश किये जाने चाहिएं। यह अत्यंत आवश्यक है। ऐसा न कर सकने पर लेखक की साहित्यिक कृति का सारा महत्व नष्ट हो जाता है। सच पूछिए तो वह हानिकर हो जाती है। यह इसलिए कि वह मानव मस्तिष्क को कोई रोशनी नहीं प्रदान करती, वरन इसके प्रतिकूल, उसे और भी अधिक धुंधला बना देती है। ऐसी स्थिति में लेखक में किसी भी प्रतिभा की टोह करना व्यर्थ होगा,—सिवा झूठ बोलने की प्रतिभा के। ऐतिहासिक प्रकृति की कृतियों में सत्य तथ्यों के रूप में प्रकट होना चाहिए, जबकि कथा-साहित्य में, जहां घटनाएं काल्पनिक होती हैं, तथ्यात्मक सत्य का स्थान युक्तियुक्त सत्य ग्रहण कर लेता है, अर्थात ऐसा सत्य जो बुद्धिगत सम्भावना के अन्तर्गत और जीवन के वास्तविक प्रवाह के अनुकूल हो।

किन्तु, यह मानते हुए भी कि साहित्यिक कृति के लिए सचाई एक आव-श्यक शर्त है, इससे उसका महत्व प्रकट नहीं होता। साहित्यिक कृति के महत्व का आकलन हम उसके रचयिता के विचारों की व्यापकता, उसकी समझ के सही होने और जीवन के क्रम को सुस्पष्ट रूप में अंकित करने की उसकी क्षमता से करते हैं। इतना ही नहीं। अपनी कसौटी के अनुसार हम उन लेखकों में, जो

लोगों की प्रकृत तथा सच्ची आशा-आकांक्षाओं के प्रतिनिधि होते हैं, और उन लेखकों में जो विभिन्न प्रकार की कृत्रिम वृत्तियों तथा मांगों के ढोल बनते हैं, भेद करके चलते है। यह एक प्राथमिक कार्य है। हम देख चुके हैं कि अपनी खुशहाली की व्यवस्था करने में लोगों की आदि असमर्थता के परिणाम-स्वरूप अनेक प्रकार की कृत्रिम सामाजिक मिलावटों का उदय हुआ — इस हद तक कि लोगों को अपनी प्रकृत आवश्यकताओं का चेत नहीं रहा। उनकी चेतना बुझ गयी। सभी जातियों में ऐसे अनेकों लेखक मौजूद हैं जो पूर्णतया कृत्रिम हितों को पालते और मानव प्रकृति की सहज-स्वस्थ मांगों से कतई कोई वास्ता नही रखते। हो सकता है कि इन लेखकों को झूठे की संज्ञा देना ठीक न हो, किन्तु इससे उनकी कृतियों के झूठेपन में कोई कमी नहीं पड़ती। हमें उनमें कोई महत्व नजर नही आता, — एक उनके रूप-विधान को छोड़कर, यद्यपि इस बारे में भी निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।... साहित्य में सच्चे लेखकों के मुकाबिले में उनका वही स्थान है जो विज्ञान के क्षेत्र में सच्चे पदार्थ विज्ञानियों के मुकाबिले ज्योतिषियों तथा कीमियागरों का, स्वप्न रहस्यदर्शन के मुकाबले भौतिक-विज्ञान की पाठ्यपुस्तक या भाग्य का हाल बतानेवाले गुटके के मुकाबले 'सम्भावना के सिद्धान्त' का। ◊◊

आज का मानव

आज की पीढ़ी के लोग इतिहास के अटल नियमों को समझते हैं, और इसीलिए वे अवास्तविक मंसूबों में अपने-आपको नहीं उलझाते; इस तरह की आशाएं नहीं बांधते कि वे अपनी इच्छा के अनुसार इतिहास की गति को बदल सकते हैं, कि परिस्थितियों के प्रभाव से वे मुक्त हैं।... किन्तु इसी के साथ-साथ वे उदासीनता के दलदल में भी नहीं फंसते, क्योंकि वे अपने मूल्य से भी एकदम अपरिचित नहीं हैं। वे अपने-आपको मशीन के एक पुर्जे के रूप में, एक ऐसी परिस्थिति के रूप में देखते हैं, जो विश्व घटनाओं की दिशा को नियमित करती है। और चूंकि विश्व की सारी परिस्थितियां एक-दूसरे के साथ गुंथी, अन्तर-सम्बंधित और एक हद तक एक-दूसरे पर निर्भर रहती हैं, इसलिए वे भी इस निर्भरता से — परिस्थितियों की इस निर्भरता से — मुक्त नहीं हैं। किन्तु इस निर्भरता के बाद वे अन्य किसी के आगे माथा नहीं झुकाते, किसी देवता के हाथों में अपने भाग्य की डोर नहीं सौंपते, सभी प्रकार के आकस्मिक दावों के विरुद्ध अपने क्रिया-कलापों की स्वतंत्रता तथा प्रभुता की रक्षा करते हैं।

हमारे मतभेद

आलोचकों में से कुछ को इस बात का श्रेय देना पड़ेगा कि वे उस भेद को समझ गये हैं जो हमारे और उनके बीच मौजूद है। वे हम पर आरोप लगाते हैं और कहते हैं कि साहित्यिक कृति की आलोचना करने का हमारा तरीका गलत है: किसी ग्रंथकार की कृति का पुनरावलोकन करना, फिर यह बताना कि उसमें क्या है और क्यों सही या गलत है। वे इससे सर्वथा भिन्न तरीका अपनाते हैं। वे सबसे पहले यह तय कर लेते हैं कि कृति में (निस्संदेह, उनके मत के अनुसार) क्या होना चाहिए, इसके बाद वे जांचना शुरू करते हैं कि (उनके ही मत के अनुसार) उसमें वह कितना है जो होना चाहिए। ऐसी दशा में हमारी आलोचनाओं से उनका क्षुब्ध हो उठना स्वाभाविक है। हम में और उन में भेद है। इसी भेद को, उन्हीं में से किसी एक आलोचक ने इन शब्दों में बताया है कि हम साहित्य में: "पंचतंत्रीय नीति-उपदेशों की टोह करते है।" हमें इस बात की प्रसन्नता है कि यह भेद प्रकाश में आ गया है और हम इस बात से जरा भी हतप्रभ नहीं हैं कि हमारी तुलना किससे की जाती है। ठीक; अगर आप चाहें तो खुशी से हमारी पद्धति को पंचतंत्रीय नीति उपदेशों की टोह की संज्ञा दे सकते हैं। और, औस्त्रोवस्की के नाटकों के मामले में, यह तुलना केवल उसी हद तक भिन्न रहेगी जिस हद तक कि ये नाटक पंचतंत्रीय कथाओं से भिन्न हैं, और जिस हद तक कि इन नाटकों में वर्णित मानव जीवन पंचतंत्रीय कथाओं के गधों, लोमड़ियों, गीदड़ों आदि के जीवन की तुलना में हमारे लिए अधिक महत्वपूर्ण तथा अधिक परिचित है। जो भी हो, हमारी समझ में पंचतंत्रीय कथा का विश्लेषण करके यह प्रकट करना कि "यह इसका उपदेश है, और यह उपदेश हमें इन-इन कारणों से भला या बुरा मालूम होता है," आलोचना की उस पद्धति से कहीं अधिक अच्छा है जो पहले ही यह तय कर लेती है कि पंचतंत्रीय कथा में अमुक उपदेश (मिसाल के लिए, माता-पिता का आदर करना) होना चाहिए, कि उसे इस रूप में (मिसाल के लिए शिशु-पक्षी के उदाहरण से जो अपनी माता का कहना न मानने के

कारण घोंसले से बाहर गिर जाता है) प्रकट होना चाहिए; इसके बाद यह तर्क देना कि फलां स्थिति का पालन नहीं किया गया और इसमें भिन्न उपदेश बैठा दिया गया है (जैसे माता-पिताओं द्वारा बच्चों की उपेक्षा), या फिर यह कि इसे समुचित रीति से व्यक्त नहीं किया गया है (मिसाल के लिए यह कि कहानी में चित्रित कोयल दूसरे पक्षी के घोंसले में जाकर अंडे देती) और फिर यह कहना कि इससे सिद्ध हो गया है कि कथा किसी काम की नहीं है।...

यह किसी से छिपा नहीं है कि कुछ नामदार सिद्धान्त-शास्त्रियों के मत से आलोचना का अर्थ आलोच्य कृति को पाठ्य पुस्तकों में वर्णित सामान्य नियमों अथवा विधि-विधान की कसौटी पर कसना है जिनकी रचना स्वयं इन सिद्धांत-शास्त्रियों ने की थी। आलोचना यदि इन नियमों के चौखटे में फिट बैठती है, तब तो ठीक, नहीं तो गलत। योजना बुरी नहीं है; ये सनातनी आलोचक अब अपने अन्तिम दिन भी गिन रहे हैं। आलोचना में जब तक उनका यह सिद्धांत चलता रहता है, भले ही साहित्य-क्षेत्र में कुछ भी होता रहे, वे सर्वथा निष्प्रयोजन नहीं होने पायेंगे। उन कृतियों के आधार पर जिन्हें वे 'सुन्दर' समझते हैं, उन्होंने इन नियमों को बड़ी मजबूती के साथ पाठ्य-पुस्तकों में जमा दिया है। ऐसी हालत में जब तक हर उस चीज को जो अभी नयी है, उनके द्वारा स्थापित नियमों के अनुसार कसना जारी रहेगा, तब तक केवल वही कलात्मक होने की संज्ञा प्राप्त कर सकेगा जो इन नियमों के चौखटे में फिट बैठ सकेगा, और बाकी सब जो नया है उसे कभी अपना स्वत्व प्राप्त नहीं करने दिया जायगा।...

इन धुरंधरों ने आलोचना की भूमिका को इतना तुच्छ और हेय बना दिया है कि देखकर आश्चर्य होता है। कला के चिरन्तन और शाश्वत नियमों की लाठी से वे अचिरन्तन और अशाश्वत को नापते हैं। आलोचना को इस हद तक सीमित करके वे कला को जड़ता के गले से बांधते हैं और आलोचना को विशुद्ध अफसरियत या पुलिसमैनी की भूमिका अदा करने के लिए बाध्य करते हैं।...

यह स्पष्ट है कि आलोचक जब सिद्धान्त-शिरोमणियों का दत्तक बन जाता है और पाठ्य-पुस्तकों के पैराग्राफों के अनुसार साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन करता है तो वह बहुधा अपने को हास्यास्पद स्थिति में पाता है। पुराने सिद्धांतों का दास तो वह बन ही जाता है, साथ ही साहित्य के क्षेत्र में हर नयी और मौलिक चीज का, हर प्रगति का, निष्फल विरोध करने पर बाध्य होता है। साहित्य के क्षेत्र में नया आन्दोलन जितना ही जोर पकड़ता है, उतनी ही कटुता से यह आलोचक उसका विरोध करता है और उतनी ही स्पष्टता से साथ अपनी नपुंसकता प्रकट करता है। किसी निष्प्राण पूर्णता को खोज निकालने के लिए वह शून्य में डुबकियां लगाता है, उन रूढ़ आदर्शों का प्रदर्शन करता है जिनके प्रति हम उदासीन होते हैं और सौंदर्य की किसी सम्पूर्ण प्रतिमा के खंडों की

हमारे ऊपर बौछार करता है। इस तरह के आलोचक सजीव आंदोलन से सदा कटे रहते हैं, नये जीवन-सौंदर्य के सामने आ पड़ने पर आंखें बंद कर लेते हैं, और जीवन के नये प्रवाह से उदित नये सत्य को ग्रहण करने के लिए कभी तैयार नहीं होते। वे हर चीज को हेय दृष्टि से देखते हैं, उसकी कड़ी निन्दा करते हैं। अपने सिद्धांतों की कसौटी पर खरे न उतरनेवाले हर लेखक पर थुक्का-फजीहत करते हैं तथा उसके पाठक-समुदाय और उसके युग के बीच वे कोई सजीव सम्बंध नहीं देख पाते। ये सब, उनकी राय में, क्षणिक दिलचस्पी के मसले हैं। कोई भी गम्भीर लेखक इनके प्रवाह में बहकर कला को गंदा नहीं कर सकता।...सो देखा आपने ?...यदि कोई आदमी किसी सुन्दर स्त्री को देखकर तर्क देना शुरू कर दे कि उसकी आकृति मिलो की वीनस जैसी नहीं है, कि उसके होठों की रेखाओं में वह कमनीयता नहीं है जो वीनस के मधुर होठों में है, कि उसकी आंखें उतनी भाव प्रवण नहीं है जितनी कि रैफील की मैडोना की, आदि-आदि, तो उसे आप क्या कहेंगे ? हो सकता है कि इन हजरत की तमाम दलीलें और तुलनायें अत्यन्त उचित और चातुर्यपूर्ण हों, किन्तु इनसे सिद्ध क्या होता है ? क्या ये सिद्ध करती हैं कि जिस स्त्री का यहां जिक्र किया जा रहा है, वह सुन्दर नही है ? इन दलीलों से क्या हम कायल हो सकते हैं कि वह स्त्री इस या उस वीनस से घटकर है ? निश्चय ही नहीं। कारण कि सौंदर्य इस या उस रेखा में नहीं, वरन चेहरे के उस सामान्य भाव में निहित है जो वह व्यक्त करता है। जब यह भाव मुझे आकर्षित करता है, जब मैं उसके अर्थ को हृदयंगम कर लेता हूं और उससे सन्तुष्ट हो जाता हूं तो मैं तन-मन से उस सौंदर्य पर न्यौछावर हो जाता हूं, तब न मुझे निष्प्राण तुलनाएं करने की इच्छा होती है, न मैं यह देखता हूं कि कला की अमुक परम्पराओं के अनुकूल यह सौंदर्य की अभिव्यक्ति है या नहीं। यदि तुम किसी सजीव कवि से मुझे प्रभावित करना चाहते हो, यदि तुम चाहते हो कि मुझमें सौंदर्य के प्रति प्रेम की भावना जागृत हो, तो इतनी दक्षता प्राप्त करो कि सौंदर्य के सामान्य अर्थ को, जीवन की आत्मा को, पकड़ने और अंकित करने में समर्थ हो सको। जब तुम ऐसा कर सकोगे, तभी तुम अपना लक्ष्य प्राप्त करने में सफल होगे। सत्य पर भी यही बात लागू होती है। सत्य की उपलब्धि सूक्ष्म द्वन्द्वात्मक चिन्तन या सही ढंग से निरूपित युक्तियों के द्वारा नहीं, वरन विवेच्य विषय के जीवित सत्य के उद्घाटन द्वारा की जा सकती है। घटना विशेष के चित्रण को, अन्य घटनाओं के बीच उसके स्थान को, उसके अर्थ और जीवन के सामान्य क्रम में उसके महत्व को, प्रकट करने में यदि आप समर्थ होते हैं, तो विवेच्य विषय के बारे में उचित राय कायम करने में आप जितनी सहायता देंगे, उतनी, सच मानिए, लाख युक्तियों का सहारा लेने पर भी नहीं दे सकते।

साहित्य का सत्य क्या है ?

लेखक अथवा कलाकार की सफलता उसके द्वारा चित्रित छवियों की **सचाई** में निहित है। यदि उनमें सचाई नहीं है, तो उनसे गलत निष्कर्ष निकाले जायेंगे और मिथ्या विचारों का जन्म होगा। किन्तु कलात्मक छवियों का सत्य क्या है ? सच पूछो तो, लेखक **परम-पूर्ण झूठ** का कभी आविष्कार नहीं करते। अत्यन्त वेहूदा उपन्यासों तथा अतिशय नाटकीय रचनाओं तक के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वासना तथा तुच्छता के जिन बवण्डरों का वे चित्र खींचते हैं, वे पूर्णतया झूठे होते हैं, कि हम उन्हें भीषण आकस्मिक घटनाओं की कोटि में नहीं रख सकते। किन्तु इस किस्म के उपन्यासों तथा अतिनाटकीय नाटकों का झूठ, ठीक इसी बात में निहित है कि वे वास्तविक जीवन के आकस्मिक तथा कृत्रिम रूपों को इस तरह चित्रित करते हैं मानो वे ही वास्तविकता के लक्षण प्रकट करते हों, हालांकि वे सार-भूत लक्षणों को प्रकट नहीं करते। वे इसलिए भी मिथ्या होते है कि यदि हम उनके आधार पर सैद्धांतिक विचारों का निरूपण करें तो हम पूर्णतया मिथ्या विचारों की अवतारणा करेंगे। उदाहरण के लिए कुछ लेखक हैं जो अपनी प्रतिभा का उपयोग कामुकतापूर्ण दृश्यों का चित्रण करने में करते हैं। और यह सब वे इस तरह करते हैं मानों सच्चा मानवीय सुख इसी में डुबकियां लगाने में हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस तरह के निष्कर्ष को वेहूदा के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता, हालांकि ऐसे लोगों का अस्तित्व वास्तविक जीवन में देखा जा सकता है जो (उनका विकास ही उस स्तर से आगे नहीं बढ़ सका) इसके सिवा अन्य किसी प्रकार के सुख या आनन्द की कल्पना करने में असमर्थ होते हैं।... इस प्रकार, कहना चाहिए कि सभी प्रकार का एकांगीपन और आत्मनिरतता कलाकार को सत्य का पूर्ण अवगहन नही करने देती। फलतः, या तो कलाकार समूची दुनिया के बारे में अपने सरल, शिशुसुलभ, प्रत्यक्ष दृष्टिकोण को अक्षुण्ण रखे, या फिर (चूंकि जीवन में यह पूर्णतया असम्भव है) विवेक से काम लेनेवाले लोगों द्वारा विकसित सामान्य विचारों

को आत्मसात करके जितना भी सम्भव हो अपने दृष्टिकोण को व्यापक बनाये। इस तरह वह अपने-आपको एकांगीपन से बचा सकता है। इतना ही नहीं। इस प्रकार कला और विज्ञान के बीच जो नाता है, वह भी प्रकट होगा। उच्चतम चिन्तन का सजीव छवियों में उन्मुक्त रूपान्तर और इसी के साथ-साथ, जीवन के प्रत्येक (यहां तक कि अत्यन्त वैयक्तिक तथा आकस्मिक) तथ्यों के सामान्य, ऊंचे, अर्थ की पूर्ण समझ ही हमारा वह आदर्श है जिसमें विज्ञान और कविता एक-दूसरे के साथ मिलकर पूर्णतया एकाकार हो जाते हैं, एक ऐसा आदर्श जिस तक अभी कोई नहीं पहुंच सका। अविकसित अथवा कृत्रिम ढंग से विकसित लेखक की तुलना में उस लेखक की स्थिति कहीं अच्छी है जिसके सामान्य विचारों का निर्देशन करने के लिए सही सिद्धांत मौजूद है। वह अपनी कलात्मक प्रकृति की प्रेरणाओं का अधिक निर्बाध होकर अनुसरण कर सकता है। उसकी प्रत्यक्ष भावनाएं उसका सदा सच्चा पथ-प्रदर्शन करेंगी। अपने लक्ष्य तक पहुंचने में उसे कठिनाई नहीं होगी। किन्तु यदि लेखक के सामान्य विचार मिथ्या हैं, तो उसका अन्तर, अनिवार्यतः, द्वन्द्वों का शिकार होगा, सन्देह और अनिश्चयात्मकता से विचलित रहेगा। इस सबके परिणामस्वरूप, संभव है कि उसकी कृतियां पूर्णतया मिथ्या न हों, फिर भी इतना तो है ही कि वे कमजोर, बेरंग और बेसुरी होंगी। इसके प्रतिकूल कलाकार के सामान्य विचार जब सही होते हैं और उसकी प्रकृति के स्वर के साथ जब उनके स्वर का पूर्णतया मेल होता है, तब यह एकता और द्वन्द्वमयता उसकी कृतियों में भी प्रतिबिम्बित हुए बिना नहीं रह सकती। तब वास्तविकता अधिक निखार के साथ उसकी कृतियों में प्रतिबिम्बित होती है। उसके आधार पर विवेकशील लोगों के लिए सही निष्कर्षों पर पहुंचना अधिक आसान हो जाता है। इसीलिए जीवन में उनका अधिक महत्व होता है। ◆◆

आलोचना के चिरन्तन नियम?

उस समय जब आलोचक रंगरूट भरती करनेवाले अफसर की तरह लेखकों को जांचता है तो स्थिति सर्वथा भिन्न हो जाती है। हाथ में पैमाना लेकर वह उन्हें मापता है और माप के नियत मानों के अनुसार रंगरूटों को 'फिट' या 'अनफिट' घोषित करता जाता है। लेखक का निबटारा होते देर नहीं लगती। जब तक पाठ्य-पुस्तकों में प्रतिपादित कला के चिरन्तन नियमों में आपका विश्वास है, तब तक ऐसे आलोचकों से पीछा भी नहीं छूट सकता।

आलोचना की शैली

सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना आजकल भावुक-हृदय युवा नारियों के मनोरंजन की प्रिय वस्तु बन गयी है। विशुद्ध कला के उपासक, उनके इर्द-गिर्द मंडराकर, उनके मुंह से अनेक लाघव-पूर्ण तथा मार्के की टिप्पणियां सुनते हैं और इसके बाद, कलम-दावात लेकर निम्न शैली की आलोचना तैयार कर देते हैं: "तुर्गनेव के नये उपन्यास की विषय-वस्तु इस प्रकार है" (यहां कथानक का सारांश होता है)। "उपन्यास की यहां जो हमने बहुत क्षीण रूप-रेखा दी है उससे पता चल जाता है कि इस उपन्यास में कितना जीवन और कितनी कविता है। एक-एक पन्ना जीवन और कविता की सुगन्ध मे पगा है। जीवन के अत्यंत सूक्ष्म रंगों, तीक्ष्ण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, जन-जीवन के अन्तर की हिलोरों और आवेग-उद्वेगों की गहरी समझ और वास्तविकता के प्रति वह अपनत्व से भरा किन्तु साहसपूर्ण रुख जो कि तुर्गनेव की प्रतिभा की निजी विशेषता है, — इन सबका सही आभास उपन्यास को पढ़े बिना नहीं प्राप्त किया जा सकता। उदाहरण के लिए, जरा देखिये कितनी सूक्ष्मता से तुर्गनेव ने इन मनोवैज्ञानिक तत्वों को पेश किया है" (यहां कथानक के सार का एक अंश तथा उपन्यास का एक उद्धरण दिया जाता है); "कितना अद्भुत है यह दृश्य जिसका अंकन अत्यन्त कमनीय तथा मुग्धकर हुआ है" (फिर एक उद्धरण), "या फिर देखिए, कितनी सौम्यता और साहस के साथ इस चित्र को उभारा गया है" (उद्धरण)। "क्या यह आपके अन्तरतम को नहीं छूता? इसे पढ़कर क्या आपके हृदय का स्पन्दन और तीव्र नहीं हो जाता? क्या आपको ऐसा नहीं मालूम होता कि इसने आपके जीवन में एक नयी जान, एक नया सौन्दर्य, फूंक दिया है? मानव की गरिमा को, सत्यं-शिवं-सुन्दरम् की पवित्र भावना के महान, चिरन्तन, महत्व को क्या यह आपके सामने उजागर नहीं करता, उसे ऊंचा नहीं उठाता?"

इस किस्म की सुखद-सुहावनी और निरापद आलोचनाएं लिखने में हम असमर्थ हैं। कारण, भावुक युवा रमणियों से हमारा दूर का ही सम्बंध है।

इस बात को सबके सामने स्वीकार करने और "जनता की सौन्दर्य भावना को विकसित करने की भूमिका" को तिलांजलि देते हुए हमने अपने लिए एक दूसरा ही कार्य चुना है, जो अधिक विनम्र और हमारी सामर्थ्य के अधिक अनुकूल है। हम केवल लेखक की कृति के पन्नों में इस छोर से उस छोर तक बिखरे तथ्यों को जमा करना चाहते हैं; इन तथ्यों को हम घटित तथ्यों के रूप में ग्रहण करते हैं। हम इन्हें जीवन के प्रसंगों के रूप में ग्रहण करते हैं जो हमारे सामने मौजूद हैं। यह कोई जटिल कार्य नहीं, तो भी ऐसा करना जरूरी है। कारण, भांति-भांति के धंधों में व्यस्त और विश्राम के लिए आकुल लोगों को इतनी फुरसत कहां कि किसी साहित्यिक कृति के सभी विवरणों में जा सकें, पात्रों-चरित्रों का विश्लेषण, जांच-पड़ताल और उनका उपयुक्त स्थान-निर्धारण कर सकें जो हमारे बहुमुखी सामाजिक जीवन के किसी एक पहलू का चित्रण करनेवाली इस पेचीदा कृति का निर्माण करते हैं। यह सब करने और इससे निकलनेवाले निष्कर्षों पर ध्यान देने, अर्थात यह जानने के लिए कि वह किन सम्भावनाओं को मूर्त करती है और किन दायित्वों को हमारे कंधों पर लादती है, यह सब करने की लोगों से आशा नहीं की जा सकती। फिर भी, तुर्गनेव के नये उपन्यास को लेकर यदि इस प्रकार की जांच-पड़ताल और चिन्तन-मनन किया जाय तो वह बहुत उपयोगी होगा।

हम जानते हैं कि विशुद्ध कलावाद के उपासक हम पर अविलम्ब आरोप लगायेंगे कि हम लेखक पर अपने विचार लादना और उसकी प्रतिभा से किन्हीं लक्ष्यों को साधना या सधवाना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में, कष्टप्रद होते हुए भी हम अपने ऊपर निम्न पाबंदी लगाना चाहते हैं। नहीं, लेखक के ऊपर कोई चीज लादने की हमारी इच्छा नहीं है। हम आरम्भ में ही कह देना चाहते हैं कि हमें नहीं मालूम कि लेखक की आंखों के सामने कौन सा लक्ष्य या उद्देश्य था, अथवा किन विचारों से उत्प्रेरित होकर उसने अमुक कहानी लिखी... हमारे लिए इस बात का उतना अधिक महत्व नहीं है कि लेखक **क्या कहना चाहता था,** जितना इस बात का कि **उसने क्या कहा है,** उस कथन का भी जिसे उसमें बिना किसी इरादे के, केवल जीवन के तथ्यों को सचाई के साथ पेश करने के क्रम में, कह दिया है।...

आलोचना की अपनी पद्धति के समर्थन में यह सब कहना हमें आवश्यक मालूम हुआ। आलोचना की यह पद्धति, पूर्वकल्पित विचारों या लक्ष्यों को लेखक पर थोपने का प्रयास किये बिना, साहित्यिक कृति के आधार पर जीवन की प्रक्रिया के अर्थ को प्रकट करती है। इस प्रकार, पाठक देख सकते हैं कि हम ठीक उन्हीं कृतियों को महत्व देते हैं जो जीवन को वैसा ही चित्रित करती हैं जैसा कि वह है। उन कृतियों को हम महत्व नहीं देते जिनमें लेखक, अपनी

किसी पूर्वकल्पित योजना के अनुसार, जीवन का चित्र खींचता है। यही कारण है कि, उदाहरण के लिए, पिसेम्स्की के उपन्यास **सहस्र आत्माएं** को विवेचन करने योग्य नहीं समझा गया। इस उपन्यास का सामाजिक पक्ष, हमारे मत से, एक पूर्वनिर्धारित विचार के चौखटे में जबर्दस्ती कसा गया है। फलतः, इसमें ऐसा कुछ नहीं है जो विचार करने योग्य हो, सिवा उस कौशल के जो कि लेखक अपनी कृति को प्रस्तुत करने में दिखाता है। लेखक द्वारा अंकित सत्य और सजीव तथ्यों की वास्तविकता पर विश्वास करना असम्भव है। कारण, इन तथ्यों के प्रति उसके अन्तर का रवैया सरल और सचाईपूर्ण नहीं है। ◊◊

लेखक की प्रतिभा

जिस हद तक लेखक की दृष्टि जीवन के तत्व में प्रवेश करती है और जिस हद तक जीवन के विभिन्न पहलुओं को वह अपनी कृतियों में चित्रित कर पाता है, उसी हद तक लेखक की प्रतिभा की मात्रा कम व अधिक होती है। लेखक की क्षमता का यह विस्तार उसकी प्रतिभा की मात्रा को निर्धारित करता है। उदाहरण के लिए, फेट भी प्रतिभा का धनी है और तुतचेव भी। किन्तु उनके सानुपातिक महत्व का निर्णय हम किस प्रकार करें? स्पष्ट ही इसका एकमात्र उपाय उनकी दृष्टि के विस्तार की जांच करना है। ऐसा करने पर हमें पता चलेगा कि इनमें से एक की प्रतिभा अपने-आपको तब पूर्णतया व्यक्त करती है जब वह शान्त प्रकृति के द्रुतगामी दृश्यों को पकड़ने का प्रयास करता है, जबकि दूसरे की प्रतिभा, उत्कट आवेग-उद्वेगों, प्रचंड शक्ति, और गहरे चिन्तन को (केवल प्राकृतिक तत्वों से ही नहीं, बल्कि नैतिक समस्याओं और सामाजिक हितों से भी उद्वेलित होकर) व्यक्त करने की क्षमता रखता है। सच पूछो तो यही वे सब चीजें हैं जिनके सहारे इन दोनों कवियों की प्रतिभा की माप की जानी चाहिए। ऐसा करने पर पाठक, सौंदर्य या निरे कलावादी आल-जाल का सहारा लिए बिना ही (जोकि सामान्यतः बहुत वायवी होता है), यह समझने में समर्थ हो जायेंगे कि साहित्य में इस या उस लेखक का क्या स्थान है।

अधिकार और सम्भावना

औस्त्रोवस्की का पहला नाटक १८४७ में प्रकाशित हुआ था। हम सभी जानते हैं कि तब से लेकर हाल के कुछ वर्षों तक हमारे श्रेष्ठतम लेखक भी जनता की प्रकृत मांगों-आवश्यकताओं को भूल गये हैं, यहां तक कि उन्होंने उनके अस्तित्व तक में सन्देह करना शुरू कर दिया है। यदि कभी अपवाद-स्वरूप, भूले-भटके, इक्के-दुक्के उन्हें उनके अस्तित्व का ध्यान आ भी जाता है तो अत्यन्त क्षीण, अनिश्चित और अनहोने रूप में। वे कभी उन्हें सच्ची तथा समुचित अभिव्यक्ति नहीं दे सके। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस सामान्य स्थिति ने औस्त्रोवस्की को भी किसी हद तक प्रभावित किया और उनके बाद के नाटकों में जो अस्पष्टता और अनिश्चयात्मकता दिखाई देती है और जिसे बहाना बनाकर पांचवें दशक के शुरू में उस पर आक्रमणों की बौछार की गयी थी, उसका कारण भी बहुत कुछ यही है। किन्तु आज, कुल मिलाकर, उनकी कृतियों के तत्व का हम जब सावधानी से आकलन करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि रूसी जीवन की सच्ची आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं के साथ अपने लगाव को उन्होंने कभी तिलांजलि नहीं दी। यह बात अलग है कि कभी-कभी पहली नजर में वह दिखाई न दे, तो भी उनकी कृतियों के मूल में उसे बराबर देखा जा सकता है। बिना किसी पक्षपात के जिसने भी उनकी कृतियों के अर्थ में गहरे पैठने का प्रयत्न किया वह सदा इस नतीजे पर पहुंचा कि उनमें सतही कुछ नहीं है, कि उनमें गहराई के साथ जीवन को चित्रित किया गया है। यही वह चीज है जो औस्त्रोवस्की की कृतियों को आज भी ऊंचे स्तर पर बनाये है। हां, औस्त्रोवस्की की कृतियों का आज भी भारी महत्व है जब कि उन आकांक्षाओं को व्यक्त करना एक आम बात हो गयी है जो औस्त्रोवस्की के नाटकों की जान हैं। इस सबके विस्तार में न जाकर हम केवल इतना ही कहेंगे कि बावजूद इसके कि हाल के वर्षों की अधिकांश साहित्यिक कृतियां अधिकारों के लिए मांगों, व्यक्ति के सम्मान और हिंसा तथा निरंकुशता के विरुद्ध विरोध से अटी पड़ी हैं, उनमें से अधिकांश में इनका

'चित्रण सजीव ढंग से नहीं हुआ है, वरन वैचारिक दार्शनिक पक्ष को तो उन्होंने छुआ और हर चीज की उन्हीं से तुक भिड़ाई है : उन्होंने **अधिकार** का तो संकेत किया है, किन्तु वास्तविक **सम्भावना** को नजरअंदाज कर दिया है। औस्त्रोवस्की ने ऐसा नहीं किया। वह समस्या के केवल नैतिक पक्ष तक ही अपने को सीमित नहीं रखते। वह आर्थिक पक्ष को भी लेते हैं। और यही मुख्य चीज है। उनकी कृतियों में आप साफ देख सकते हैं कि निरंकुशता "भगवान की दी हुई" मोटी थैलियों पर टिकी है और निरंकुश प्रभुओं के चरणों पर आम लोगों का मूक समर्पण (दासत्व की भावना) उनकी भौतिक निर्भरता पर आधारित है। इतना ही नहीं। आप यह भी देखेंगे कि आये-दिन के तमाम सम्बंधों में भी सूक्ष्म नैतिक पक्ष पर भौतिक पक्ष का प्रभुत्व है, कि आर्थिक सुरक्षा से वंचित लोगों के लिए सूक्ष्म अधिकार कोई अर्थ नहीं रखते, यहां तक कि वे यह भी भूल जाते हैं कि वे क्या हैं।...

औस्त्रोवस्की के पहले नाटकों के सिलसिले में हमने कहा था कि उन्हें न तो षड़यंत्रों से पूर्ण कूटनीतिक नाटकों की सज्ञा दी जा सकती है, और न ही उन्हें चरित्र-प्रधान नाटकों की कोटि में रखा जा सकता है। वे एक नयापन लिये हैं और उन्हें हम (अगर हमारी यह संज्ञा अत्यधिक व्यापक और इसीलिए अनिश्चित न समझी जाय तो) 'जीवन के नाटक' की संज्ञा प्रदान करना चाहेंगे। कहने का तात्पर्य यह कि उनके नाटकों की अग्रभूमि में हमें सदा जीवन की वे सामान्य परिस्थितियां दिखाई देती हैं, जो नाटक के किन्हीं भी पात्रों पर, चाहे वे मुख्य हों चाहें गौण, निर्भर नहीं करतीं। वह न तो खल-नायकों को दंडित करते हैं, न उन्हें जो उनके शिकार बनते हैं। उनके नाटकों में दोनों ही दयनाय, और बहुधा हास्यास्पद, दिखाई देते हैं। किन्तु वे उन भावनाओं के पात्र नहीं होते जो नाटक आपमें जगाता है। आप देखते हैं कि उनकी परिस्थितियां उन पर हावी हैं, कि आप उन्हें केवल इतना दोष दे सकते हैं कि वे इन परिस्थितियों से अपना पीछा छुड़ाने में पर्याप्त शक्ति का परिचय नहीं देते। निरंकुशता के वे पुतले भी जिन्हें, स्वभावतः, आपमें विक्षोभ का संचार करना चाहिए, आपकी दया के पात्र बनते नजर आते हैं। अपने ढंग से, तथा उस चौखटे और पद की सीमाओं के भीतर, जिनसे उनका जीवन-क्रम बंधा है, वे नेकी और समझदारी तक का परिचय देते हैं। किन्तु उनका पद और जीवन-क्रम ऐसा है कि उसके भीतर पूर्ण, स्वस्थ तथा मानवीय विकास असम्भव बन जाता है।...

इस प्रकार, नाटक से सिद्धान्त जिस संघर्ष की मांग करता है, वह औस्त्रोवस्की के नाटकों में पात्रों के स्वकथनों में नहीं, उन तथ्यों में घटित होता है जो कि उन पात्रों के कार्यों पर हावी होते हैं। बहुधा, स्वयं पात्रों को एक ओर

जहां स्थिति और अपने संघर्ष के अर्थ का कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं होता वहां दूसरी ओर यह संघर्ष बहुत ही सुस्पष्ट तथा सचेत रूप में दर्शक के हृदय में घटित होता है और वह, बरबस, उन परिस्थितियों के विरुद्ध विरोध प्रकट करता है जो इस प्रकार के तथ्यों को जन्म देती हैं। यही कारण है कि हम उन पात्रों को, जो ओस्त्रोवस्की के नाटकों के कथानक में कोई सीधा योग नहीं देते, अनावश्यक तथा फालतू कहकर रद्द करने में असमर्थ हैं। हमारी समझ में, ये पात्र भी नाटक के लिए उतने ही आवश्यक हैं जितने कि मुख्य पात्र। वे हमें उस वातावरण से परिचित कराते हैं जिसमें कि घटना घटती है, वे उस स्थिति को अंकित करते हैं जो मुख्य पात्रों के क्रियाकलापों को निश्चित करती है। किसी पौधे के जीवन की विशिष्टताओं का पता लगाने के लिए हमें उस मिट्टी के साथ उसका अध्ययन करना होगा जिसमें कि वह उगता है। उस धरती से उखाड़ने पर पौधे का स्वरूप तो आपको मालूम हो जायगा, किन्तु उसके जीवन को आप कभी पूरी तरह नहीं जान सकेंगे। इसी प्रकार समाज के जीवन को भी आप कभी नहीं जान सकेंगे, बशर्ते कि आप दो-चार लोगों के प्रत्यक्ष सम्बंधों को ही समाज समझकर देखना शुरू नहीं करते जो किसी कारण एक-दूसरे के साथ आ गुंथे हैं। ऐसा करने पर जीवन का केवल काम-काजी पक्ष ही आपको दिखाई देगा। दरअसल आप आये-दिन के वातावरण का, उसके समूचे परिवेश का, परिचय पाना चाहते हैं। जीवन-नाटक के अतिरिक्त प्लाट में कोई सक्रिय हिस्सा न लेनेवाले पात्र, जो प्रत्यक्षतः केवल अपने निजी मामलों में व्यस्त नजर आते हैं, बहुधा अपने अस्तित्व मात्र से घटनाओं के प्रवाह पर ऐसा प्रभाव डालते हैं जो दुर्निवार होता है। उत्साह से भरे-पूरे विचार, दूरदर्शी योजनाएं, उछाहपूर्ण उमंगें, उदासीन, बेहिस और घिनौनी उपेक्षा में पगी भीड़ से टकराकर जाने कितनी बार वे धूल में मिल जाते हैं। इस भय से कि कहीं लोगों की इस भीड़ के उपहास और उपेक्षा का शिकार न होना पड़े, जाने कितने शुभ्र और नेक भाव मन में ही मुरझा जाते हैं। दूसरी ओर, यही भीड़, जो सदा इतनी उदासीन और शिथिल मालूम होती है, किन्तु जो वस्तुतः एक बार चीज को समझ लेने पर अत्यन्त दृढ़ता का परिचय देती है, हिंसा और निरंकुशता का तख्ना पलटने का भी बल रखती है। इसलिए यह जानना अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि यह भीड़ नेकी और बदी के बारे में क्या सोचती है, सत्य और झूठ के प्रति किस रूप में व्यवहार करती है। यही बात उस परिस्थिति के बारे में हमारे विचार को (जिसमें कि नाटक के मुख्य पात्र अपने-आपको पाते हैं और इन पात्रों के प्रति हमारी संवेदनशीलता की मात्रा या परिमाण को) निर्धारित करती है।

हमारे कहानीकार

एक समय था जब प्लेश्चेयेव की कहानियां और लघु-कथाएं हमारे सभी श्रेष्ठ पत्रों में प्रकाशित होती थीं। लोगों ने उन्हें पढ़ा और पढ़कर भूल गये। इन कहानियों ने कभी किसी विवाद को जन्म नहीं दिया। वे कभी चर्चा का विषय नहीं बनीं, न तो पाठकों में और न साहित्यिक आलोचकों में। न तो किसी ने उनकी विशेष प्रशंसा की, न किसी ने उनकी निन्दा की। अधिकतर, लोगों ने उन्हें पढ़ा, पढ़कर जी बहलाया, और बस।...

यह अत्यन्त प्रामाणिक तथ्य जिसका हमने ऊपर उल्लेख किया, सिद्ध करता है कि लेखक किसी असाधारण मौलिकता का, या उज्ज्वल प्रतिभा का धनी नहीं है। स्वयं लेखक भी, प्रत्यक्षतः, इन गुणों का दावा नहीं करता।... इसलिए हम, 'चिरन्तन और शाश्वत' मूल्यों की खोज के फेर में न पड़, चुपचाप प्लेश्चेयेव की कृतियों की विषय-वस्तु की ओर उन्मुख हो सकते हैं। ऐसा करना, कलावादी मूल्यांकन की तुलना में, कहीं अधिक दिलचस्प होगा। प्लेश्चेयेव ने उपेक्षाकृत काफी परिमाण में लिखा है। हमारे सामने उसके दो संकलन मौजूद हैं, जिनमें आठ कहानियां छपी हैं। इनमें १८४८ और १८४९ मे प्रकाशित लेखक की दो कहानियां, **'सिगरेट'** और **'मित्रतापूर्ण परामर्श'** शामिल नहीं हैं, न ही इनमें **पाशिन्त्सेव** (**रूस्की वेस्तनिक,** १८५९), **दो जीवन** (**सोव्रेमेन्निक,** १८५९), **उसका ध्येय** (**स्वेतोख,** १८६०) तीन लम्बी कहानियां शामिल हैं जो इन दो संकलनों के बाद प्रकाशित हुई। इन्हें लेकर भी करीब ऐसे ही दो संकलन और तैयार किये जा सकते हैं। ये सब कहानियां बिना किसी अरुचि के पढ़ी गयीं और अन्य कितनी ही कहानियों के साथ, जिनके लेखक किसी विशेष प्रतिभा का 'भ्रम' पैदा नहीं करते, रूसी पाठकों के हिस्से को कुछ समय तक अपनी ओर खींचे रहीं। अब, प्रश्न किया जा सकता है, क्या ये कहानियां हमें कुछ देतीं हैं अथवा बेकार ही पन्नों को काला करती हैं? लगभग एक दरजन इन लम्बी और छोटी कहानियों का क्या महत्व है? उन प्रश्नों-समस्याओं से क्या इनका कोई सम्बंध है जो आज हमारे देश की

जनता का ध्यान खींचे हुए हैं अथवा ये सर्वश्री कामेन्स्की, वोस्क्रेसेन्स्की, वोनलि-यारल्यार्स्की तथा अन्य कितने ही आधुनिकतम नामों की कृतियों की भांति सिर्फ मन बहलाने का साधन या दिमागी ऐयाशी का साधन मात्र हैं ? ...

इस प्रश्न के उत्तर में हम यह बखुशी कह सकते हैं कि प्लेश्चेयेव की कहानियों को इन लोगों की कृतियों की कोटि में नहीं रखा जा सकता। सामाजिक तत्व उनके ओर-छोर में पूरी तरह व्याप्त हैं, और यही वह चीज है जो उन्हें तीसरे और पांचवें दशक की अनगिनत रंगहीन कहानियों से अलग करती है। उन दिनों की कहानियों में, जैसा कि सभी जानते हैं, मानव को एक सामाजिक जीव के रूप में नहीं, वरन एक पृथक, विच्छिन्न, जीव के रूप में पेश किया जाता था। अपने कथानक को विकसित करने के लिए लेखक दो, तीन, या चार व्यक्तियों की अवतारणा करता था। ये दो, तीन, या चार व्यक्ति कहानी में इस तरह प्रकट होते थे, मानो शेष सारी दुनिया का उनके लिए कोई अस्तित्व ही न हो, मानो वे किसी ऐसे गैर-आबाद द्वीप में रह रहे हों जहां हर चीज, जिसकी उन्हें जरूरत होती थी, जादू की छड़ी हिलाते ही उपस्थित हो जाती थी। क्लाइमैक्स को सम्भालने के लिए, बहुत ही रहस्यमय ढंग से, कोई धनी चाचा या ताऊ, कोई रुष्ट अफसर, आग, तूफान, कोई दानी रईस आदि मानो छप्पर फाड़कर टपक पड़ता था। तीसरे दशक की कहानियां ऐसी होती थीं। पांचवें दशक की कहानियों के नायक, वीरान द्वीपों के ये निवासी, बहुधा हताश होकर इन द्वीपों से चल पड़ते थे। उनकी नायिकाएं द्वीपों में पड़ी आंसू बहाती रहती और विरह की आग में जला करती थीं। और बस कहानी इतने में ही खत्म हो जाती थी। ... इन सब 'करिश्मों' का प्लेश्चेयेव पर बहुत ही कम रंग चढ़ा। कारण, उसके साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ चौथे दशक में होता है जब, **गोरेमीका, गरीब लोग, सन्त पीतर्सबर्ग के शिखर** और **सन्त पीतर्सबर्ग के कोने** जैसी कृतियों का साहित्य में जोर था। और इसके बाद अपने साहित्यिक जीवन को उसने फिर से शुरू किया हाल के सालों में जब सामाजिक बुराइयों का पर्दाफाश करनेवाली धारा अपने पूरे उभार पर थी। नीरस और बेरंग पांचवें दशक के समूचे दौरान में (दमन और जलावतनी के काल में) प्लेश्चेयेव पत्र-पत्रिकाओं में प्रकट नहीं हो सका, और इस प्रकार अपने नायकों के साथ वीरान द्वीपों में पलायन करने की आवश्यकता से बच गया। टुच्चे सरकारी अफसरों, स्कूली शिक्षकों, कलाकारों, छोटे श्रीमन्तों, युवा रमणियों और मध्य वर्ग के लोगों आदि की वास्तविक दुनिया में वह जमा रहा। स्पष्ट ही, इस लघु संसार से वह काफी परिचित है, और पूरी सचाई के साथ वह उसका चित्रण करता है। प्लेश्चेयेव की कहानियों के प्रत्येक नायक में आप साफ देख सकते हैं कि वह अपने वातावरण के साथ सम्बंधित है, कि इस

दुनिया की मांगों और सम्बंधों से वह त्रस्त है। संक्षेप में यह कि यह नायक एक सामाजिक जीव है, कटा हुआ और विच्छिन्न जीव नहीं। यह सामाजिक तत्व उसकी हर कहानी में मौजूद है।...

प्लेश्चेयेव की कहानियों का यही मुख्य गुण है, किन्तु यह मानना पड़ेगा कि यह गुण अकेले प्लेश्चेयेव में ही नहीं, हमारे आज के अधिकांश कहानी लेखकों में मौजूद है, अर्थात यह कि मानव पूर्णतया उस समाज पर निर्भर है जिसमें कि वह रहता है, कि समाज में उसकी स्थिति उसके आचरण को निर्धारित करती है। प्रत्येक कहानी-लेखक जिसमें जरा सी भी समझ है, अनिवार्यतः, इनसे अपनी कहानी की शुरूआत करता है। यह बात कि हमारे सामाजिक वातावरण का संघटन जरा संतोषप्रद नहीं है, कि हमारे आये दिन के सम्बंध मानव के प्रकृत विकास और मुक्त, स्वस्थ, कार्य-कलापों के लिए कतई अनुकूल नहीं है, यह भी हमारी काफी कहानियों की विषय-वस्तु बन गया है— उन कहानियों की भी जिनके लेखक अत्यन्त साधारण कोटि के हैं। नेक मानव और उसके चारों ओर की वास्तविकता के बीच वैषम्य आज के साहित्य का सामान्य विषय बन गया है। सभी दल, सभी प्रवृत्तियां, सभी प्रकार के साहित्यिक मतामत इस बात पर सहमत हैं।... फलतः ईमानदारी से भरी आशा-आकांक्षाओं और चारों ओर के वातावरण की तुच्छता के बीच वैमनस्य का चित्रण सार्वजनिक सहानुभूति प्राप्त करने के लिए यथेष्ट नहीं है। इसके लिए यह आवश्यक है कि चित्र सजीव और सशक्त हों, नयी परिस्थितियों और विषय के नये पहलुओं का उद्‌घाटन करें। ऐसा होने पर ही लेखक स्थायी सफलता और साहित्य के क्षेत्र में प्रमुख स्थान पाने की आशा कर सकता है।

प्लेश्चेयेव की कहानियां उस धारा की सामान्य कृतियों द्वारा स्थापित स्तर से ऊंची नहीं उठतीं, जिसे उसके मुख्य प्रतिनिधि के नाम के अनुसार, तुर्गनेव की धारा की संज्ञा दी जा सकती है। इस धारा के जितने भी सदस्य हैं, उन सब की कृतियों में जिस विषय का सतत प्रवाह दिखाई देता है वह है—**वातावरण द्वारा मानव का नाश**। यह बहुत ही अच्छा विषय है। किन्तु हमारे लेखक अभी तक इसका अच्छा उपयोग नहीं कर सके। तुर्गनेव की कहानियों में कभी-कभी उस मानव का चित्र तो काफी साफ अंकित होता है जिसका विनाश वातावरण द्वारा होता है, किन्तु स्वयं वातावरण और मानव के साथ उसके सम्बंध के चित्र की जहां तक बात है, वह बहुत ही विवर्ण और कमजोर होता है। शेद्रीन-धारा ने वातावरण को चित्रित करने का बीड़ा उठाया लेकिन इस धारा ने विषय के केवल "आफीशल" पक्ष को लिया, और उसमें भी... उसकी अत्यन्त तुच्छ अभिव्यक्तियों को चित्रित किया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि क्यों हमारी सभी कहानियां, चाहे वे कलात्मक हों या अभियोगवादी,

सदा बहुत कुछ अनकहा छोड़ देती हैं, और महत्वपूर्ण यह है कि दो विशेष सवालों को बिलकुल छोड़ देती हैं : एक तो यह कि इन लोगों के प्रयासों का, जो अपने वातावरण से मेल नही बैठा पाते, ध्येय क्या है ? और दूसरे यह कि वह क्या चीज है जो वातावरण को हर ईमानदार प्रयत्न का शत्रु बना देती है; वह क्या चीज है जिस पर उसकी शक्ति टिकी है ?

इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए हम चाहे कितनी ही सूक्ष्मताओं में डुबकी लगाये, आकाश-पाताल के चाहे कितने ही कुलाबे मिलायें, हम उन्हें तब तक शान्त नहीं कर सकते जब तक कि सामाजिक जीवन के तथ्यों को, जिन पर कि मामले का सारा तत्व निर्भर है, हम जन-मानस में नहीं उतारते, उन्हें हृदयंगम नहीं करते। तथ्यों को आत्मसात करने की यह प्रक्रिया स्वयं जीवन में निरन्तर चल रही है। किन्तु कथा-साहित्य भी इस सचेत क्रिया को गति प्रदान करने तथा अधिक पूर्ण बनाने में योग दे सकता है। अपनी छवियों को जिन्हें वह अंकित करता है जितनी अधिक कलात्मक पूर्णता तथा शक्ति के साथ वह पेश करेगा, उतनी ही अधिक उपयोगी वे सिद्ध होगीं। अब तक 'नाशकारी वातावरणवाली धारा' हमें सच्चे अर्थो मे कलात्मक कहानियां देने में विफल रही है,—ठीक इस कारण कि वह दोनों तत्वों के बीच, जिनका संघर्ष कहानी की विषय-वस्तु का निर्माण करता है, कभी पूर्ण संगति प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकी। आप उस आदमी को तो देखते हैं जिसका विनाश होता है, किन्तु आपको उस शक्ति का सजीव और पूर्ण अंकन नहीं मिलता जो उसका नाश करती है। न ही आपको इस बात का पूरा चित्र मिलता है कि वह क्यों उसका नाश कर रही है, और वह क्यों अपना नाश होने दे रही है। इस सबके बारे में कहानियों में आपको केवल कुछ संकेत ही मिलते हैं, पूर्ण उत्तर नहीं मिलते। इसीलिए इन कहानियों का निर्वाह भाव-चित्रण के उस स्तर से सदा ओछा पड़ता है जो उनमें प्राणों को प्रतिष्ठित कर सकता था। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इस तरह की सारी कहानियां क्यों केवल समकालीन ऐतिहासिक महत्व की चीजें बनकर रह जाती हैं, ऐसे महत्व की जो, सामाजिक सम्बंधों में नये परिवर्तन आने और जीवन की नयी मांगों के उठते ही, लोप हो जाता है।

कहा जा सकता है कि कोस्तिन, गोरोदकोव तथा इसी तरह के अन्य पात्रों, प्लेश्चेयेव की कहानियों के नायकों, को उदात्त और आदर्श चरित्रों के रूप में नहीं पेश किया जाता, वरन उन्हें यह दिखाने के लिए पेश किया जाता है कि किस प्रकार जीवन नेक आशा-आकांक्षाओं तथा नेकी और ईमानदारी के अंकुरों को चक्की के पाटों में कुचल और पीस डालता है। आदर्श और उदात्त पर हमारा बल नहीं है। हम केवल इतना ही चाहते हैं कि ये चरित्र अधिक

सुनिश्चित और सचेत हों। यह हम इसलिए कहते हैं कि इन कहानियों के ईमानदार पात्रों के प्रति हम सहानुभूति जारी रखना चाहते हैं। किन्तु उन लोगों से सहानुभूति का नाता भला कैसे कायम किया जा सकता है जो नगण्य, बेरंग और निष्क्रिय हैं, जो न पिट्टी हैं, न पिट्टी के शोरबे।... कलात्मक दृष्टि से देखने पर भी कहानी में संघर्ष का चित्रण करने के लिए हमें ऐसे विपक्षियों को लेना चाहिए जिनकी शक्ति लगभग समान हो। किन्तु इसके विपरीत 'बुरे वातावरण' या 'तुच्छ वास्तविकता' के रूप में हमारे सामने एक भीमाकार अजदहे का चित्र पेश किया जाता है। एक ओर यह अजदहा है और दूसरी ओर नन्हें-मुन्ने शिशु; भोले-भाले, निरीह, असमर्थ, सहज-विश्वासी। अपनी आन्तरिक नपुंसकता (शाब्दिक अर्थों में) के कारण वे पूर्णतया अपने वातावरण पर निर्भर होते हैं। आप कह सकते हैं कि स्वस्थ सबल लोग हैं ही कहां, कि हमारा वातावरण मानव को ठीक ऐसा ही बना देता है। माना। किन्तु यदि बात सचमुच ऐसी है तो भी लेखक को क्या करना चाहिए? उसे अपने नायकों को इस 'वातावरण' के अन्तर्गत पेश कर उनके साथ भी वैसी ही घृणा का व्यवहार करना चाहिए जैसा कि वह हर उस चीज के साथ करता है जो उन्हें घेरे है? यदि हमारा वातावरण न केवल बुरा है, वरन वह हर उस भली चीज की भी हत्या कर डालता है जो उसके संसर्ग में आती है, और यदि वह इतना प्रचंड है कि अब तक एक भी ऐसा चरित्र नहीं मिल सका जो इतना सबल और सक्रिय हो कि इस वातावरण से लोहा ले सके और अपनी आन को न छोड़े—यदि यह बात सच है—तो इस वातावरण से कतई आशा न रख उसे अत्यंत निर्मम व्यंग्य का लक्ष्य बनाने के सिवा और कुछ नहीं किया जा सकता। ऐसी दशा में, अपने इन शुभाभिलाषी युवा पात्रों के प्रति भी लेखक का रवैया सर्वथा भिन्न होगा: वह उनकी स्वप्निल तथा अनिश्चित आकांक्षाओं के प्रति अपने पाठकों की सहानुभूति जगाने का प्रयास नहीं करेगा, उनके प्रति (इस तथ्य के प्रति कि ये युवा पात्र अपनी शून्य और व्यवहारतः निरर्थक कल्पनाओं में रमने के सिवा और कुछ करना नहीं जानते) अपने पाठकों के हृदय में उपहास की भावना को चेतन करेगा!...

यह सच है कि हम आत्मा के सुन्दर स्फुरणों को उस समय तक, जब तक कि वे केवल स्फुरण बने रहते हैं, कोई अमली महत्व नहीं देते। यह भी सच है कि हम केवल तथ्यों को महत्व देते हैं और मानव का महत्व केवल उसके कृत्यों से आंकते हैं। क्यों हम ऐसा करते हैं, इसका कारण बहुत ही सरल है। मानवीय प्रकृति की तमाम प्रकृत, अविकृत कामनाओं को हम सुन्दर कामनाओं की कोटि में रखते हैं। तमाम सुन्दर कामनाओं को हम मानव की प्रकृत और सहज-स्वाभाविक आवश्यकताओं का नतीजा समझते हैं। यदि कोई आवश्यकता

कृत्रिम है तो हम उसे बुरा, घातक, अथवा बेहूदा समझते हैं, चाहे वह कितनी ही सुन्दर और शानदार क्यों न हो। यदि यह सच है कि नीरो ने रोम में इस लिए आग लगाई थी कि जलते हुए रोम के अपने वर्णन के लिए यथार्थ सामग्री प्राप्त कर सके, तो यह दृश्य चाहे कितना ही शानदार हो और उसका उद्देश्य चाहे कितना ही कलात्मक क्यों न रहा हो, हम इस तरह की कल्पना को घिनौनी और स्वस्थ मानव प्रकृति के विरुद्ध ही कहेंगे।

बिना किसी प्रयास के

मानव जाति के ह्रासग्रस्त सदस्यों के बीच यदि कोई ऐसा व्यक्ति निकल आये जिसने मूल मानवीय प्रकृति को इतने पूर्ण रूप में संजो रखा हो कि धरती की कोई भी शक्ति उसे धूमिल अथवा नष्ट न कर सके तो ऐसा मानव निश्चय ही उल्लेखनीय माना जायगा। उसे नायक बनाकर दिलचस्प कहानी की रचना करना उपयोगी कार्य होगा। किसी भी योरपीय देश की बड़ी से बड़ी प्रतिभा उसकी सृष्टि या चित्रण करके अपने श्रम को सार्थक बना सकती है। किन्तु अपने साहित्य में हम इस कोटि के चरित्रों-पात्रों का प्रादुर्भाव नहीं देखते। हमें उस मनुष्य के आत्मिक संघर्ष का चित्रण देखने को नहीं मिलता जो वर्तमान व्यवस्था की कृत्रिमता को समझता है और गहरी लगन तथा अडिगता से सत्य के लिए प्रयत्नशील रहता है। नये **फॉस्ट** की रचना करने की बात किसी को नहीं सूझी। हां, इस शीर्षक की एकाध कहानी हमारे यहां जरूर है।... नहीं हमारे ये उच्चाकांक्षी युवा पात्र अपनी ऊंची आकांक्षाओं को यों ही, बिना किसी संघर्ष के, बिना ओखली में सिर दिये, मानो राह चलते, प्राप्त कर लेते हैं। वे विश्वविद्यालयों में अध्ययन करते हैं, प्राध्यापकों के शानदार भाषणों से चकित होते हैं, या फिर, हाई स्कूली जीवन में ही किसी युवा शिक्षक के रंग में रंग जाते हैं, या शानदार युवकों द्वारा संयोजित किसी मंडली के सदस्य बन जाते हैं, ऐसे दल के सदस्य जो अत्यन्त शुभ्र आकांक्षाओं से अनुप्राणित होकर खुफिया-तौर से ग्रानोवस्की का आदर करता है और मोचालोव का गुणगान करता है, अथवा वे अच्छी किताबें पढ़ते हैं, जैसे चौथे दशक की **ओतेचेस्तवेन्नीये जापिस्की** आदि। बहुधा, ये सब सुखद संयोग एक साथ ही आ मिलते हैं और एक-दूसरे को पुष्ट करते हैं। इस प्रकार इन युवा पात्रों की आकांक्षाओं का विकास बिना किन्हीं साहसिक या वीरतापूर्ण प्रयासों के ही सम्पन्न हो जाता है।

परिशिष्ट

◆◆◆◆◆◆◆◆